मध्यकालीन हिन्दी-निर्गुण भक्ति काव्य में रहस्य तत्त्व

डॉक्टर ऑफ फिलासफी की उपाधि हेतु
प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

अनुसंधित्सु
गुरुदेव त्रिपाठी
भाषा-विभाग
१९८०

बिरला इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नॉलाजी एण्ड साइंस, पिलानी (राजस्थान)

BIRLA INSTITUTE OF TECHNOLOGY & SCIENCE

PILANI (Rajasthan)

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled

'मध्यकालीन हिन्दी निर्गुण भक्ति-काव्य में रहस्य-तत्व'

and submitted by Shri Gurudeo Tripathi, ID.No.

for award of Ph.D. degree of the Institute, embodies original work done by him under my supervision.

S. D. Mishra

(Dr. S.D. Mishra)
Asst. Professor
B.I.T.S.
Pilani (Rajasthan)

Date: 5.1.1980

प्रस्तावना

हिन्दी के निर्गुणभक्ति काव्य से तात्पर्य उस काव्य से है जिसकी रचना कबीर-नानक-दादू आदि निर्गुणिया संतों ने की है । सर्वप्रथम डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' विषय पर एक शोधग्रंथ लिखकर हिन्दी अध्येताओं का मोह-भंग किया और निर्गुण काव्य पर कार्य करने का मार्ग प्रशस्त किया । इसके उपरान्त जो विद्वान् आए उन्होंने इन कवियों के साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टिकोण को ही मुख्यरूप से अपने अध्ययन का विषय बनाया ।

इधर कुछ दिनों से इन संतों की साधना पर भी विचार करने का प्रयास किया जा रहा है लेकिन स्थिति यह रही है कि इन विचारकों में से कुछ ने तो किसी एक सन्त को अपना विषय बनाया तथा कुछ ने सम्पूर्ण सन्त-साहित्य को एक साथ रखकर उनकी साधना को निरखने-परखने की चेष्टा की तो किसी ने सगुण तथा निर्गुण दोनों प्रकार के भक्त कवियों को एकत्र रख कर उनके रहस्य तत्व का अध्ययन किया ।

इसके अतिरिक्त कतिपय ऐसे भी प्रयास हुए, जिसे तुलनात्मक अध्ययन कह सकते हैं । इन अध्ययनों में हिन्दी संत काव्य की तुलना या तो भक्तों से की गयी अथवा सूफियों से की गयी अथवा किसी अन्य भाषा के सन्त-साहित्य से की गयी या किसी वाद या विचार से की गयी ।

परिणाम यह हुआ कि इन संतों की रचनाओं में या तो सभी प्रकार के विचार और साधना पद्धतियों को खोज लिया गया अथवा इन्हें किसी एक विचार अथवा साधना के साथ सम्पृक्त करने का प्रयास किया गया। इस तरह उपर्युक्त अध्ययन कर्त्ताओं ने एक प्रकार से अतिवादी मार्ग ग्रहण कर लिया ।

सन्तों की समग्र-समन्वित, साधना-पद्धति मूलत: सुरति-शब्द-योग की साधना है, इसे विद्वानों द्वारा स्वीकृति भी प्राप्त हो चुकी है, लेकिन इस पर सांगोपांग रूप से विचार करने का अभाव जैसा ही रहा है । मेरा अध्ययन इस दिशा में एक विनम्र प्रयास है - मैं इतना ही कह सकता हूं ।

मेरे शोध का विषय है - 'मध्यकालीन हिन्दी निर्गुण भक्ति काव्य में रहस्यतत्व'। संतों से सम्बद्ध रहस्यतत्व मूलत: साधनात्मक है, अत: मैंने संत-साधना के रहस्य-तत्व को ही अपना विषय बनाया है ।

शोध-ग्रन्थ में पांच अध्याय हैं । पहले अध्याय के तीन विभाग हैं। पहले विभाग में सीमा की चर्चा है, दूसरे में रहस्य-तत्व पर विचार है और तीसरे में संत-साधना के मूलाधार त्रिसत्य - सत्संग, सद्गुरु और सत्नाम पर विचार है । 'त्रिसत्य' नामकरण, मेरा निज का है ।

दूसरा अध्याय, संत-साधना की पृष्ठ-भूमि है । इस पृष्ठ-भूमि में वैदिक काल से लेकर नाथ पंथ तक की चली आ रही साधना पर विचार है ।

यह सब कुछ देखने के बाद एक प्रश्न सामने आया कि क्या सन्तों के मतवाद और साधना-पद्धति में बिखराव ही बिखराव है, अथवा वे किसी एक मतवाद अथवा साधना-पद्धति से ही सम्पृक्त हैं अथवा उनका एक समग्र और समन्वित मतवाद अथवा साधना-पद्धति भी है ।

कई वर्षों पूर्व स्व० आचार्य नन्द दुलारे जी वाजपेयी ने सन्तों को मूल रूप में साधक बताते हुए उनकी समग्र और समन्वित साधना-पद्धति पर कार्य करने की प्रेरणा दी । बाद में, मनीषी-संत-साहित्यकार स्व० आचार्य पं० परशुराम जी चतुर्वेदी तथा गुरुवर स्व० आचार्य हजारी प्रसाद जी द्विवेदी ने भी आचार्य वाजपेयी जी के विचार का समर्थन करते हुए मेरा मार्ग-दर्शन किया और मुझे उपर्युक्त विषय पर कार्य करने की प्रेरणा और आशीर्वाद दिया ।

संत-साधना, सुरतिशब्द योग की साधना है और यही तीसरे अध्याय का विचार्य-विषय है जिसे मैंने यथा-शक्ति खोलकर रखने का प्रयत्न किया है ।

चौथे अध्याय का सम्बन्ध रहस्य-तत्व की अभिव्यक्ति से है । जो रहस्य है, वह भी अभिव्यक्त किया जा सकता है और इस प्रकार अभिवयक्त किया जा सकता है कि जिससे उसका रहस्य भी सुरक्षित रहे और सत्पात्रों को विषय की अभिज्ञता भी हो जाए - यही इस अध्याय का कथ्य-विषय है।

निर्गुण-भक्ति-साधना ने सगुण-भक्ति-साधना को भी प्रभावित किया है - यह पांचवें अध्याय का विषय है ।

संतों की रहस्य-साधना पर मैंने नितान्त मौलिक रूप से विचार करने का प्रयत्न किया है, यही कारण है, मूल विषयों पर चर्चा करते समय मैंने मात्र आधार-ग्रन्थों का ही सहारा लिया है - यह मेरा विनम्र निवेदन है ।

इस प्रबन्ध को पूरा करने में मुझे अनेक महानुभावों का सहयोग प्राप्त हुआ है अत: सबके प्रति मैं अपना आभार प्रदर्शन, पुनीत कर्तव्य मानता हूं ।

सर्व प्रथम मैं स्व० आचार्य नन्द दुलारे जी वाजपेयी, स्व० आचार्य परशुरामजी चतुर्वेदी और स्व० आचार्य हजारी प्रसाद जी द्विवेदी जैसे गुरुवरों के अदृश्य-चरणों में अपनी प्रणति निवेदित कर रहा हूं - जिनसे दिशा-दृष्टि मिली है ।

आदरणीय भाई डा० राममूर्ति त्रिपाठी ने विषय की रूप-रेखा दी है - वे मेरे प्रणम्य हैं ।

सर्व प्रथम मैं अपने विश्रुत शिक्षा-संस्थान के निदेशक डा० सी०आर०मित्र के प्रति आभार प्रदर्शित करना चाहता हूं जिनकी गतिशील-दृष्टि और प्रयोगशील कार्य-विधि ने सबको शोधकार्य की दिशा और समान सुयोग उपलब्ध किया है ।

मेरे संकाय के डीन डा० आर० सी० शर्मा का प्रेमपूर्ण प्रोत्साहन और आग्रह सर्वदा मेरे साथ रहा है - वे मेरे आदरणीय हैं ।

मेरे विभागाध्यक्ष डा० पीयूषधर जी चतुर्वेदी ने मेरी सर्वतोभावेन सहायता की है । उनके अशेष स्नेह के प्रति इतना विनत हूं कि उपकार-प्रदर्शन में भी भय की आशंका है ।

मेरे विभाग के वरिष्ठ आचार्य डा० तुलसी राम जी से मुझे निरंतर प्रेरणा-प्रोत्साहन और सत्परामर्श प्राप्त होता रहा है । उनकी कृपा-स्नेह के प्रति मैं आभारी हूं ।

मेरे पितामह डा० शिवयोगी तिवारी, भूतपूर्व डीन, के चरणों में भी मेरी प्रणति है, जिनका आशीर्वाद मेरे साथ निरन्तर रहा है । मेरे अग्रज डा० श्याम तिवारी, काशी विद्यापीठ, का आशीर्वाद भी मेरे साथ सर्वदा रहा है । उनके प्रति मेरा आदर स्वत: सिद्ध है ।

डा० वी० के० तिवारी, डीन रिसर्च, मेरे शुभेच्छी हैं । उनका स्नेह-सिक्त आग्रह और प्रोत्साहन, मनोबल-वर्द्धक रहा है । उनका भी आभारी हूं ।

मेरे विभाग के ही वरिष्ठ सहयोगी प्रो० एन०एन० बनर्जी और डा० सूर्यनारायण पाठक ने मुझे सतत् प्रेरणा और प्रोत्साहन दिया है । उनका भी मेरे प्रति आभार है ।

मेरे पूर्व निर्देशक आचार्य पतरामजी गौड़ के प्रति मेरे मन में आदर भाव है ही जिनसे मुझे प्रारम्भिक दिशा मिली है लेकिन मेरे वर्तमान निर्देशक डा० सत्यदेव जी मिश्र से मुझे दिशा-दृष्टि, विद्वतापूर्ण निर्देशन, सहयोग तथा प्रोत्साहन सब कुछ मिला है । उनके सम्बन्ध-नैकट्य को देखकर, मौन-आभार-स्वीकृति ही अलम् है, ऐसा प्रतीत हो रहा है ।

केन्द्रीय पुस्तकालय के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री एस० सी० मेहता तथा उनके सहयोगी श्री के० सी० गुप्त, सर्वदा सहयोग-तत्पर रहे हैं। उनको धन्यवाद देना, मेरा पुनीत कर्तव्य है।

इसी पुस्तकालय के अन्य अधिकारी श्री उमेशकुमार भार्गव का हार्दिक स्नेह-सहयोग मिला है। उनके सम्बन्ध-नैकट्य को देखकर कुछ भी कहने में संकोच प्रतीत हो रहा है।

इसी पुस्तकालय के अधिकारी श्री एम० एल० शर्मा ने टंकणादि-सम्बन्धी सभी दायित्व अपने ऊपर लेकर मुझे चिन्ता-मुक्त कर दिया है। वे मेरे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

मेरे मित्र डा० बी० डी० देशपाण्डेय तथा डा० सिद्धनाथ प्रसाद, अपने सहयोग-सत्परामर्श के लिए, प्रेमपूर्ण धन्यवाद के पात्र हैं।

सेण्ट्रल इन्स्टिट्यूट आफ एलेक्ट्रानिक्स के सह-निदेशक डा० एस० एस० एस० अग्रवाल को धन्यवाद देना मेरा कर्तव्य है जिन्होंने मुझे 'पानप बोध' उपलब्ध कराया।

इसी इन्स्टिट्यूट के अन्य वैज्ञानिक डा० के० एल० जसूजा ने राधा-स्वामी सम्प्रदाय (व्यास-प्रकाशन) की अनेक पुस्तकों को श्रमपूर्वक मेरे लिए प्राप्त किया। स्नेह और प्रोत्साहन दिया। इनके प्रेम-भाव को देखते हुए, समझ में नहीं आ रहा है, किन शब्दों में धन्यवाद दूं।

अन्त में मैं श्री रमाकान्त प्रसाद को उनके सहयोग और श्री ओमप्रकाश खंथला को टंकण-सम्बन्धी तत्परता के लिए धन्यवाद देना अपना कर्तव्य मानता हूं।

गुरुदेव त्रिपाठी

भाषा विभाग,
बी०आई०टी०एस०,
पिलानी (राजस्थान)

विषय-सूची

पृष्ठ

प्रथम अध्याय: १ - ४८

सीमानिर्धारण तथा विषय प्रवेश:

संत

काल विभाजन, संत साहित्य का काल विभाजन

प्रस्तावना काल

मध्य युग (पूर्वार्द्ध)

मध्यकाल (उत्तरार्द्ध)

आधुनिक काल

प्रवर्तक

रहस्य-चिन्तन की विकास-प्रक्रिया का सामान्य परिचय

'रहस्यवाद' का विवेचन : विषय योजना तथा रहस्यतत्व का सन्दर्भ

रहस्य का वादन

रहस्य के वाद

भारतीय रहस्यवाद

निर्गुण-संतकाव्य में रहस्य तत्व का स्वरूप

निर्गुण साधना का मूलाधार - त्रिसत्य

सत्संग

सद्गुरु

सत्नाम

द्वितीय अध्याय : ४९ - १३०

पृष्टभूमि

उपनिषद् - साहित्य में रहस्यवाद का स्वरूप:

उपनिषद् रहस्य-साहित्य, ब्रह्मसंबंधी विचार, मुख्य रूप

निर्गुण, परमतत्व, अन्यान्य अभिधाएं, ब्रह्म के तीन रूप,
प्रकाशस्वरूप, सर्वव्यापक, आनन्द स्वरूप, ब्रह्मानुभूति के साधन
विश्वास, अपराविधा, सदाचार, अन्तर्दर्शन, नित्यानित्य विवेक,
योग: अष्टांग, नाम स्मरण, ओंकार, नामस्मरण विधि,
शब्दयोग, ध्यान, नाद-श्रवण कृपा, गुरुकृपा, सिद्धावस्था

गीता - गीता बनाम निर्गुण ब्रह्म, गुणातीत दशा, तृष्णानाश,
मार्ग-कर्म, भक्ति, ज्ञान, सम्पूर्णयोग, यज्ञ, प्राणायाम,
युक्त जीवन और ध्यान, नामस्मरण विश्वरूप दर्शन, मोहनाश,
पिण्ड, ब्रह्माण्ड की एकता, रूपान्तरण, अनन्याभक्ति, आत्मज्ञान

श्रीमद्भागवत् - पतिपाद्य, निर्गुण भक्ति, भावप्रधान-रहस्यानुभूति

नारदभक्ति सूत्र तथा शाण्डिल्य भक्ति सूत्र -
भक्ति, भक्त का स्वरूप, नामस्मरण, समर्पणभाव, ध्यान,
समदर्शन, मुक्ति

बौद्ध-धर्म:
चार आर्य सत्य, आष्टांगिक मार्ग, बौद्धयोग, शील समाधि,
चर्या, कर्म-स्थान, स्वानुभूति

तंत्र साधना:
मंत्रयान - वज्रयान, सहजयान

नाथ पंथ:
साहित्य, मत, ब्रह्म, माया, योगमार्ग, पिण्ड ब्रह्माण्ड,
षट्कर्म - यम-नियम, आसन, मुद्रा, प्राणायाम, प्रत्याहार,
धारणा, ध्यान, अगम्य जप, शब्द योग, नादयोग, सहजयोग, समाधि

तृतीय अध्याय: १३१-२३६

सुरति शब्द योग की रहस्यमयी साधना
सनातन तथा स्वाभाविक साधना, सुरति, निरति, व्यापकता -
वैदिक साहित्य, बौद्धसाहित्य, नाथ साहित्य
नाम और शब्द, वाणी की चार अवस्थाएं, मंत्र, बीज, नाद बिन्दु
'स्व' भावोदय, जप, जपविधि, श्रेष्ठता तथा प्राचीनता,
हठयोग तथा राजयोग, पिपीलिका, मीन, मकड़ी तथा विहंगम मार्ग
पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण मार्ग

संत साहित्य में सुरति शब्द-योग -

सुरति शब्द की श्रेष्ठता, सुरति, निरति, नाम, असंख्यनाम, अनाम, आदिनाम, वर्णनात्मक तथा ध्वन्यात्मक नाम, सारशब्द, सतशब्द, सतनाम, विदेह शब्द मूलधार, आदि अधार

संतों द्वारा गृहीत नाम - ओंकार, सोहं, राधास्वामी, राम, रां,

नाम साधना

सुरति शब्द के सोपान, तीन बन्ध, सुमिरन: आन्तरिक, मंत्र, गणना

एकाग्रता : बाधकतत्व तथा निवारण-मार्ग, समय, स्थान, अजपाजप हंस मंत्र, अजपागायत्री, आसन, आत्मसुमिरन, सहजजप, पूर्ण समर्पण, उन्मनि

ध्यान : निर्गुण ध्यान, ध्यान के चार प्रकार- पदस्थ, पिण्डस्थ, रूप, रूपातीत

त्रिकुटी ध्यान, ध्यान विधि, सातत्य तथा गोपनीयता तन्मयता

लय : लक्षण, विदेहभाव, अनाहत शब्द, स्वरूप, स्थान, विधि प्रकार, जीवनमुक्त

सहज : कार्य, स्वभाव : सहज, त्रिविध, सहजकाया, शोधन, बाधा और निराकरण, सहजमार्ग, सूक्ष्म सहजमार्ग, सहजदृष्टि, अद्वैतानुभूति, सहजसमाधि

भक्ति : सूक्ष्म भक्ति, चरमोत्कर्ष, भक्ति: सुरतियोग, बाधक तत्व

अन्तर्दर्शन

दिव्यानुभूति

चतुर्थ अध्याय : २३७-२७४

अभिव्यक्ति

जिज्ञासात्मक रहस्यभावना

लौकिक तथा शृंगारिक प्रतीकादि माध्यमों से अभिव्यक्त रहस्यभावना

प्रतीकवाद, प्रतीक, प्रतीक और उपमा, प्रतीक और रूपक

नाम अथवा शब्द : औषधि, दारू, रस, रसायन, चिन्तामणि, कल्पतरु, धन, तुम्बक, मोती, जल, प्रकाश, ताला, कुंजी, ओढ़ना, बिछौना, चुनरी

सुमिरन-ध्यान : पदमी-गति, सुरभि, भृंग, कंगाल, कमठ, फनि, भृंग, मीन, कामी

लय : बाण, रस्सी, नमक+जल, जल+जल, प्रिय+प्रिया, चकोर

जीवनमुक्त : मरजीवा, पदमी, बिनासिर का शरीर, पथिक

सुरति : बूंद, कलारी, सहेली, सुहागिन, विरहिणी

शून्य : सरोवर, शहर

सहज : घर

भक्ति : महल, गेंद, बीज, सोपान, नदी, इश्क, सहज इश्क, पातिव्रत्य और सतीत्व

अन्तर्दर्शन : सूक्ष्म मार्ग

दिव्यानुभूति : गूंगे का गुड़, पानी+हिम, अन्धे का हाथी देश, प्रकाश, रस, घर मिलन

पंचम अध्याय : २७५-

साधना : प्राचीनतम, नवीनतम, सन्त साधना

सगुण साधकों पर प्रभाव :

समानता, साधनागत समानता, सत्संग, सद्गुरु, सत्नाम, निर्गुण, स्मरण, ध्यान, दिव्यनाद, दिव्यानुभूति अथवा परचा ।

रसिक सम्प्रदाय पर प्रभाव

प्रथम अध्याय

प्रारम्भिकी : सीमानिर्धारण तथा विषय-प्रवेश

हिन्दी साहित्य की निर्गुणकाव्यधारा स्थान और काल दोनों दृष्टियों से अपेक्षाया अधिक व्यापक रही है। स्थान की दृष्टि से उत्तर में कश्मीर-पंजाब से लेकर, दक्षिण में महाराष्ट्र और पूर्व में बिहार से लेकर, पश्चिम में गुजरात और राजस्थान की भूमि तक इस साहित्य की परिव्याप्ति है, जहां समय-समय पर अवतरित होकर संतों ने संत-साहित्य की स्रोतस्विनी को सतत् प्रवाहित रखा है। काल-दृष्टि से भी यदि विचार करें तो विक्रम की तेरहवीं शताब्दी से लेकर आज तक इसका प्रवाह एक विशेष सरसता लिए अक्षुण्ण रहा है[१]। भिन्न भिन्न स्थानों और कालों में जन्म लेने के बावजूद भी इनका मुख्य स्वर एक रहा है। यही नहीं, भिन्न भिन्न बोलियों के बोलने के बावजूद भी संतों ने हिन्दी को ही अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में ग्रहण किया है। अनेक वर्ण और जातियों में उत्पन्न होकर भी इन्होंने इस विभेद को लेशमात्र भी महत्व न देकर, मनुष्यता और मनुष्य मात्र की एकता को ही अपना आदर्श माना और उसके अनुरूप आचरण किया और उसी का उपदेश भी दिया लेकिन जो कुछ कहा उसे सहजभाव से अनुभवाश्रित करके; अनगढ़ रूप में कहा इसलिए कि उनकी वाणी उच्च-वर्ग तक ही अवरुद्ध न होकर, जन-जन तक पहुंच जाए और बहुजन-हित और कल्याण की सम्पादिका बने[२]। अतः हम कह सकते हैं कि संतों ने व्यापक देश-काल की भूमिका में जो कुछ लिखा उससे एक महनीय-साहित्य का निर्माण हुआ।

---

१ उत्तरी भारती की संत परम्परा - आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, भूमिका, पृ० ११

२ वही।

इस व्यापक और महनीय साहित्य को जिन्होंने लिखा उन्हें सुधी-समीक्षकों और आचार्यों ने संत कहा लेकिन 'संत' शब्द अर्थगाम्भीर्य और परि-व्याप्ति से सम्पृक्त है । यद्यपि संत शब्द का प्रयोग किसी भी आचारवान-व्यक्ति के लिए किया जा सकता है लेकिन हिन्दी-साहित्य में यह शब्द केवल निर्गुणियां संतों के लिए रूढ़ हो गया है ।

संत :

वैदिक-युग से लेकर दसवीं शताब्दी तक 'संत' शब्द का प्रयोग परम-तत्व के लिए होता रहा है लेकिन बाद में ऐसे व्यक्ति के लिए प्रयोग में आने लगा जो आचार सम्पन्न हैं [१] । स्वयं सन्तों ने संत शब्द का प्रयोग द्विविध किया है । पहले तो सम्बोधन-रूप में, फिर गुण-धर्म को प्रकाशित करने के लिए । सम्भवत: संतों की इसी प्रवृत्ति ने इसे रूढ़ार्थ दिया ।

डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने बताया है कि यह शब्द सत् और शान्त से निष्पन्न है और आचार्य चतुर्वेदी ने भी इसका समर्थन किया है[२]। इस स्थापना के प्रति कोई सन्देह नहीं दीखता कारण कि संत सतत सत्य के शोधी रहे हैं । वे सत्य की अनुभूति प्राप्त करते हैं, उनकी कामनाएं शान्त होती हैं और उनका जीवन भी शान्ति से ओत-प्रोत होता है ।

---

१ संत काव्य में परोक्ष सत्ता का स्वरूप - बाबूराव जोशी, पृ० ३
ऋग्वेद १०-११४-५
छान्दोग्य - द्वितीय खण्ड - १
तैत्तिरीय - २-६-१
गीता - १७-२३, २६
भागवत - १-१६-८
मालविकाग्निमित्र - अ-१
भिक्षुवर्गी - गाथा - ६

२ योग प्रवाह, पृ० १५८
Nirgun School of Hindi Poetry - Preface - page 1.

काल विभाजन :

इन सत्यशोधी संतों का मुख्य काल मध्य काल रहा है और यह मध्य-कालीन धर्म साधना निर्गुण और सगुण के दो सम्प्रदायों में विभक्त है । यह विभाजन उनके उपास्य निर्गुण अथवा सगुण ब्रह्म के आधार पर है । इतिहास वेत्ताओं की दृष्टि में यद्यपि मध्य काल की सीमा पांचवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक है लेकिन हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में यह सीमा अपेक्षाया संकुचित हो जाती है । आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों और विभिन्न प्रवृत्तियों को दृष्टि में रखकर हिन्दी साहित्य के इतिहास को चार कालों में विभाजित किया है -

आदि काल	:	वीर-गाथा काल -	सं० १०५०-१३७५
पूर्व-मध्य काल	:	भक्तिकाल	सं० १३७५-१७००
उत्तर-मध्य काल	:	रीतिकाल	सं० १७००-१९००
आधुनिक काल	:	गद्यकाल	सं० १९००-१९८४

डा० श्यामसुन्दरदास ने वीर-गाथा का काल १०५०-१४०० तक माना है तथा भक्तिकाल को १४००-१७०० तक माना है, शेष यथावत् है[१] । डा० रामकुमार वर्मा ने भी भक्तिकाल की परिसीमा १३७५-१७०० ही माना है[२] । यही भक्तिकाल संतों का मुख्य काल है लेकिन संत-परम्परा उत्तर-मध्य काल से आगे बढ़ती हुई आधुनिक काल तक चली आती है । यद्यपि मध्य काल इस शोधकार्य का मुख्य आलोच्यकाल है फिर भी प्रवृत्ति की एकता और समानता के कारण आधुनिक काल के संतों की वाणियों का भी यथास्थान निःसंकोच प्रयोग है ।

संत साहित्य का काल विभाजन :

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने सम्पूर्ण सन्त-साहित्य को जयदेव से लेकर महात्मा गांधी तक माना है[३] । डा० बड़थ्वाल ने इसका प्रारम्भ तो जयदेव से

---

१ हिन्दी साहित्य - डा० श्यामसुन्दरदास, पृ० १८ ।
२ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २१५
३ उत्तरी भारत की संत परम्परा, भूमिका, पृ० १० ।

माना है लेकिन इसकी परिसमाप्ति संत शिवदयाल तक ही कर दी है और इन संतों की संख्या बाइस मानी है[1] । इस प्रकार यह संत-साहित्य लगभग ८००-९०० वर्षों की अवधि में विस्तृत है । आचार्य चतुर्वेदी ने प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर इस सम्पूर्ण संत साहित्य को चार भागों में विभक्त किया है[2] :

१- प्रारम्भिक युग - सं० १२०० से १५५० तक
२- मध्य युग (पूर्वार्द्ध) - सं० १५५० से १७०० तक
३- मध्य युग (उत्तरार्द्ध) - सं० १७०० से १८५० तक
४- आधुनिक युग - सं० १८५० से

प्रस्तावना काल :

प्रारम्भिक युग को संत साहित्य का प्रस्तावना काल कह सकते हैं क्योंकि इस काल के संतों ने आने वाले काल की आधारशिला रखी और मार्ग प्रशस्त किया जिनमें जयदेव, नामदेव, सधना, त्रिलोचन और बेणी प्रमुख हैं । इनका काल कबीर से पूर्व है । कुछ काल के बाद स्वामी रामानन्द का आविर्भाव हुआ जिन्होंने संत कबीर को अनुप्राणित किया और कबीर ने इन्हें गुरु रूप में स्वीकार किया, फिर इस पुनीत धारा में सैन, पीपा, धन्ना, रैदास प्रभृति भी प्रविष्ट हो गये ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कबीर तथा उनके पूर्वकालिक एवं समकालीन संतों ने संत-साहित्य के प्रारम्भिक युग का निर्माण किया । इस युग में आगे आने वाले संत-साहित्य का मात्र ढांचा तैयार हुआ और यह काल रूढ़ि-मुक्त भी रहा । इस काल के संतों ने जो कुछ अनुभव किया उसे जनमानस तक पहुंचाया, बिना किसी संप्रदाय और संगठन की परिकल्पना के, मात्र व्यक्तिगत प्रयास द्वारा ।

---

१ हिन्दी काव्य में निर्गुण-सम्प्रदाय (प्र०स०) पृ० ३२-८२ ।
२ संत-काव्य, पं० परशुराम चतुर्वेदी, भूमिका ।

मध्ययुग (पूर्वार्द्ध) :

लेकिन कालान्तर में इनके अनुयायियों ने इनके वचनों को प्रमाण मानकर, इनके ग्रन्थों को गुरु-रूप में पूजित बनाकर, अनुयायियों का संगठन तैयार किया जिसके फलस्वरूप कबीरदासी, नानकपंथी, दादू पंथी, बावरी पंथी एवं मलूक पंथी आदि संगठनों का निर्माण हो गया । इसके अतिरिक्त, कतिपय अपेक्षाया लघु संप्रदाय जैसे लालपंथ और साधपंथ की भी स्थापना हो गयी । परिणाम स्वरूपन सम्प्रदायों ने अपने केन्द्रों की स्थापना की और वहां से संगठन और प्रचार की भी व्यवस्था की । यही युग संत साहित्य का मध्य-युग (पूर्वार्द्ध) कहलाया ।

मध्ययुग (उत्तरार्द्ध):

इसके उपरान्त संत-साहित्य का उत्तरमध्य काल आता है जिसके अन्तर्गत बाबालाली, सतनामी, धामी, धरनीश्वरी, दरियादासी, शिवनारायणी, चरणदासी, गरीबदासी, पानपदासी तथा रामसनेही आदि संगठनों की गणना की जाती है ।

आधुनिक-युग :

संत साहित्य के आधुनिक काल में एक कार्य बहुत महत्वपूर्ण हुआ, वह यह कि कतिपय संतों ने सम्प्रदायगत कितनी स्थापनाओं और मान्यताओं के रहस्य को खोला, इनकी बानियों की नयी व्याख्या की । जैसे तुलसी साहब ने "घटरामायण" में कबीर पंथ में प्रचलित चौका विधान तथा परवाना देना आदि कार्यों का सही मर्म प्रकट किया । नानक पंथ के वाहगुरु और कड़ा प्रसाद की नयी व्याख्या प्रस्तुत की । कबीर पंथी रामरहसदास ने "पंचग्रंथी" में कबीर-बानियों की गूढ़ता और रहस्य को व्याख्या के द्वारा स्पष्ट किया । दादू-पंथी निश्चलदास ने शास्त्रीय ग्रंथों को आधार बनाकर, संतमत को शास्त्रसम्मत करने का अभिनव प्रयास किया । राधास्वामी मतावलम्बी पं० शालग्राम जी मिश्र जो स्वयं एक गुरुओं में थे, आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश में राधास्वामी मत की नई व्याख्या से मण्डित किया ।

लेकिन इस काल में एक और कार्य हुआ - वह यह कि इस काल के संतों ने संतमत की समाज-सुधार सम्बन्धी मूल चेतना पर प्रहार किया और इस प्रकार इनके द्वारा कबीरादि द्वारा निन्दित अवतारवाद को पोषण मिला । परिणामत: कबीरादि स्वयं अवतार बनाए गए । उनके वचनों की गुरु-रूप में प्रतिष्ठा हुई । इनकी मूर्तियों - चित्रों की पूजा प्रारम्भ हुई । उनके व्यक्तित्व को अधिक महिमा और गरिमा से मण्डित करने के लिए किंवदंतियों और आश्चर्य जनक चमत्कार-पूर्ण घटनाओं को उनके जीवन के साथ जोड़ा गया तथा पुरासंतों द्वारा बहिष्कृत पाखण्ड को कर्मकाण्ड के रूप में पुन: प्रतिष्ठापित किया गया ।

इस प्रकार यह विस्तृत कालव्यापी संत-साहित्य अपनी विभिन्न प्रवृत्तियों के साथ सम्पूर्ण उत्तर भारत में रचित हुआ तथा इस सम्पूर्ण संत-साहित्य की रचना में लगभग तीन सौ संतों ने अपना योगदान दिया जिसकी एक विस्तृत तालिका 'संतकाव्य में योग का स्वरूप' में प्रस्तुत है[१] ।

एक विस्तृत सीमा और एक व्यापक काल में इस प्रकार का जो साहित्य रचा गया उसे समीक्षकों ने तथा साहित्य के इतिहासकारों ने निर्गुण-साधना का साहित्य, ज्ञानाश्रयी-निर्गुण-शाखा अथवा संत-साहित्य नाम दिया तथा इस साहित्य के रचयिताओं को निर्गुनियां-संत कहा और इनके द्वारा स्थापित आम्नाय को संत-सम्प्रदाय अथवा निर्गुण-सम्प्रदाय की संज्ञा दी ।

प्रवर्तक :

संत कबीर निश्चित रूप से उपर्युक्त निर्गुण-साहित्य और साधना के अगुआ थे[२] । 'इन्होंने अपने पहले से आती हुई, नवीन धारा के प्रवाह में सहयोग प्रदान किया उसकी एक प्रारम्भिक रूप रेखा प्रस्तुत कर दी । उस विशेष साधना से समन्वित विचार-धारा के रहस्य को सर्व प्रथम पहचानने तथा उसे स्पष्ट व व्यापकरूप देने का श्रेय कबीर साहब को दिया जा सकता है, जिन्होंने अपनी

---

१ संत काव्य में योग का स्वरूप : डा० रामेश्वर प्रसाद सिंह, पृ० ६ ।

२ Hindi Literature - Dr. Ram Avadh Dwivedi, page 25.

विलक्षण प्रतिभा के आलोक में इसके वास्तविक रूप का निरीक्षण किया, तथा इसके महत्व द्वारा पूर्ण प्रभावित होकर, अपनी अपूर्व शैली की सहायता से सर्वसाधारण की धारणा में कायापलट उपस्थित कर दिया । कबीर साहब की इस देन को उनके उत्तरवर्ती प्राय: सभी संतों ने स्वीकार किया है, और इसी कारण उन्हें बहुत लोग 'आदिसंत' कहते हुए भी पाए जाते हैं[1]। इनका जीवन आध्यात्मिकता से ओतप्रोत है अत: इनकी वाणी रहस्यानुभूति से ओत प्रोत है[2] । कुल मिलाकर कहने का तात्पर्य यह है कि कबीर साहित्य रहस्यानुभूति का साहित्य है और उत्तरवर्ती साहित्य इनसे अनुप्राणित है अत: वह सम्पूर्ण साहित्य भी रहस्यानुभूति का साहित्य है ।

अब यह निश्चित हो गया कि संत साहित्य रहस्य का साहित्य है अत: संत साहित्यान्तर्गत प्राप्त रहस्य-चर्चा से पूर्व रहस्य तत्व को स्पष्ट कर लेना अधिक समीचीन होगा ।

रहस्य चिंतन की विकास-प्रक्रिया का सामान्य परिचय

अपनी विकास-यात्रा के आरंभिक-चरण से ही चिंतनशील मानव जीवन तथा जगत् में होने वाले प्राकृतिक व्यापारों और परिवर्तनों के प्रति स्वाभाविक रूप से जिज्ञासु रहा है । अखिल प्रकृति की निसर्गसिद्ध-क्रियाओं के परिणाम स्वरूप परिवर्तन तथा प्रत्यावर्तन की निरंतर गतिशील प्रक्रियाओं और जन्म तथा मृत्यु, नाश तथा निर्माण, आदि तथा अन्त और नवीन तथा प्राचीन आदि रहस्यमय दैनंदिन व्यापारों के रूप में घटित स्थितियों से प्रेरित अपने आश्चर्य-मिश्रित भय तथा कौतूहलमिश्रित प्रश्नों के बीच वह सदा से चिंतामग्न एवं भावुक होकर, कारणभूत किन्हीं अज्ञात शक्तियों की कल्पना तथा उद्भावना करता आया है । उसके मन में जागतिक हलचलों तथा नैसर्गिक क्रिया-कलापों के संचालन,

---

१ उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० १० ।

२ कबीर एक विवेचन - डा० सरनाम सिंह, पृ० ३६६ ।

नियमन, नियोजन, अनुशासन और परिवर्तन आदि विषयों को लेकर एक अथवा अनेक अलौकिक महाशक्तियों की धारणा उत्पन्न हुई । इस धारणा के साथ आत्म कल्याण की भावना के मेल से उन शक्तियों में विश्वास उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था । इस प्रकार जागतिक शुभ-अशुभ घटनाओं तथा प्राकृतिक हलचलों से प्रेरित सर्वशक्तिमान, अज्ञात और परोक्ष सत्ता के प्रति प्रश्नाकुल मानव की जिज्ञासा ने दिव्यकुल की सृष्टि और आत्म कल्याण के लिए उनके प्रसादनार्थ पूजा, बलि, यज्ञ, स्तुति और उपासना का विधान हुआ ।

अज्ञात रहस्यमयी दिव्य-शक्ति की धारणा, विश्वास और अनुभूति के क्रम में प्रश्नाकुल मानव जाति उनके प्रत्याख्यान तथा प्रत्यभिज्ञान की ओर लगी रही । वह तर्क द्वारा उसके स्वरूप के मानसीय साक्षात्कार और बौद्धिक विवेचन के प्रयत्न में लगी । किन्तु उसकी आद्य जिज्ञासा-वृत्ति संतुष्ट नहीं हुई, उत्तर की निरंतर वृद्धि तथा समस्या की नूतन संभावना के कारण उसके प्रश्न अनुत्तरित रहते गये । फलतः उसके बौद्धिक निदान की अनेक कोटियां विकसित हुईं । अज्ञात संबंधी रहस्य-ज्ञान की बौद्धिक ग्रहण-विधि तथा तर्कमूला अन्वेषण-पद्धति से रहस्य दर्शन की नींव पड़ी । निष्कर्ष यह है कि विचार-सम्पन्न बौद्धिक मानव ने जिन कौतूहल जनक तथा रहस्यमय भौतिक परिवर्तन चक्र से प्रभावित एवं प्रेरित होकर मूल कारण स्वरूप अज्ञात-शक्ति की धारणा से दिव्य-योनि की कल्पना की, उन्हीं के बौद्धिक परिज्ञान हेतु बाह्य तथा अन्तर्जगत की अनुभूतियों के अनुसार अध्यात्म दर्शन के रूप में सत्य की तर्कपूर्ण अभिव्यक्ति की, तो भी उसे इस प्रयत्न में निश्चित तथा अन्तिम परिणामों पर पहुंचने में पूरी सफलता नहीं मिली और इष्ट को जानने-समझने की आदिम जिज्ञासा संतुष्ट नहीं हुई । क्योंकि अज्ञात तथा रहस्यमय महाशक्ति अथवा दिव्यकुल की धारणा, आत्म-कल्याण के लिए उसकी आराधना और तर्क-बुद्धि द्वारा उसके परिज्ञान की चेष्टा तक कहीं भी उस परमसत्य अथवा रहस्यात्मक परोक्ष सत्ता के साथ जिज्ञासु का निजी रागात्मक संबंध तथा भावनागत तादात्म्य स्थापित नहीं हुआ था । इसलिए सत्य की बौद्धिक व्याख्या से असन्तुष्ट होकर वह परमतत्व से व्यक्तिगत स्तर पर रागात्मक

संबंध की स्थापना द्वारा उसके अन्तर्साक्षात्कार की दिशा में प्रयत्नशील हुआ । भाव, ज्ञान और साधना के स्तर पर अज्ञात तथा परोक्ष सत्ता के प्रति ऐसे ही तादात्म्य प्रयास अथवा स्वीकरण-संबंध से रहस्य-दर्शन का उदय हुआ ।

रहस्य और रहस्य चिंतन की इन स्थितियों के विकासक्रम में मानव की आध्यात्मिक-चेतना के विविध आयामों का स्पष्टीकरण हुआ । इस क्रिया का प्रथम संवेदनात्मक अवयव था रहस्य के प्रति औत्सुक्यपूर्ण जिज्ञासा । जिज्ञासा-वृत्ति के उदय से तत्संबंधी अनेक प्रश्न उपस्थित होते गये, साथ ही उसके सही उत्तर की खोज भी चलती रही । इस स्थिति में जीवन और जगत की अनेक अबूझ प्रक्रियाओं के लिए उत्तरदायी मूल कारण-स्वरूप किसी अव्यक्त सत्ता के प्रति संवेदनशील हो उठना स्वाभाविक ही था । जिज्ञासा के साथ संवेदनशीलता के योग से मनोमयजगत और स्थूल जगत के अनेक स्तरों की यात्रा करती हुई जिज्ञासा मानव की रहस्यभावना उसके व्यक्तिगत, गुह्य-गूढ़ और ऐकान्तिक संबंध स्वयं साक्षात्कार तक पहुंची । इस यात्रा में स्वानुभूति, चिंतन, आस्था, श्रद्धा-भक्ति, अर्चना, उपासना और साधना के सोपानों में, सामर्थ्य तथा योग्यता के अनुसार व्यक्तिगत भावात्मक संबंध द्वारा रहस्यमय अज्ञात सत्ता का पराबौद्धिक प्रत्यक्ष हुआ ।

यह प्रत्यक्ष माध्यम की भिन्नता के अनुसार भिन्न भिन्न होता है । इसके लिए साक्षात्काराकर्ताओं की प्रतीतियों में परस्पर अभिन्नता की सूचना देने वाली अभिव्यक्तियों के अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं । परमतत्व की प्रतीति करने वाले साधकों ने उसे बारम्बार अवर्णनीय तथा बुद्धि से अग्राह्य माना और केवल अनुभूति का विषय बताया है । इसी अनुभूति को चिंतन-मनन और तर्क-वितर्क पूर्ण भाषा की सहायता से ऋषियों, आत्मवेत्ता मनीषियों, साधकों, भक्तों, संतों आदि ने सर्वसामान्य के लिए व्यक्त करने का प्रयास किया । रहस्यानुभूति का द्योतन करानेवाली ऐसी ही अभिव्यक्तियां आधुनिक काल में 'रहस्यवाद' का विषय बनी । ये अभिव्यक्तियां वस्तुत: रहस्यानुभूति से संबंधित समस्य प्रक्रियाओं का विवरण भी प्रस्तुत करती हैं ।

सामान्य भाषा का परिधान ग्रहण कर लेने पर भी इन अभिव्यक्तियों में व्यक्त रहस्य-भावनाएं सामान्य जन बोध्य नहीं होतीं । रहस्यदर्शी साधक पराबौद्धिक प्रत्यक्ष द्वारा परोक्षसत्ता से अपने व्यक्तिगत तादात्म्य के आनंदानुभव को प्रचलित शब्दार्थों में ठीक ठीक व्यक्त ही नहीं कर सकता इसलिए वह उसे गुह्य-गूढ़ और अस्पष्ट भाषा संकेतों में अभिव्यक्त करता है । यही कारण है कि ऐसी अभिव्यक्तियां दुर्बोध्य, जटिल, प्रतीकात्मक, रूपकीय, लाक्षणिक और अटपटी लगती हैं । परमतत्वरूप परोक्ष सत्ता के साथ विगूढ़, वैयक्तिक और ऐकान्तिक संबंध से उपलब्ध और संत साधकों द्वारा अनुभूत रहस्यात्मक आनंदातिरेक की अभिव्यक्ति सामान्य भाषा में संभव नहीं थी; इसीलिए उनकी रहस्यभावना-वेष्ठित काव्यभाषा असामान्य होकर सर्वजन-संवेद्य नहीं हो सकी है । रहस्य तत्वों के रूप में स्वत: संगठित प्रातिभ-प्रत्यक्ष की ऐसी ही लाक्षणिक-व्यंजना प्रणाली संत काव्य में भी दिखायी पड़ती है जो अध्यात्म-दर्शन-क्षेत्र में चर्चित रहस्यभावना संबंधी विशेषताओं में है ।

'रहस्यवाद' का विवेचन : विषय-योजना तथा रहस्य तत्व का संदर्भ

आधुनिक हिन्दी काव्यालोचन के अन्तर्गत सर्वप्रथम छायावाद, तदनंतर 'रहस्यवाद' पद का आविष्कार अंग्रेजी 'मिस्टिसिज़्म' के हिन्दी रूपांतर-स्वरूप बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दो-तीन दशकों में हुआ, जबकि पाश्चात्य और भारतीय दोनों ही वांगमयों में धर्म-साधना तथा अध्यात्म-दर्शन के अन्तर्गत रहस्य-चिंतन, रहस्य साधना, रहस्यानुभूति और रहस्य-कथन के अर्थों में प्रयुक्त विभिन्न पदों के उल्लेख इसके प्राचीन अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं । सत्य तो यह है कि भारतीय वांगमय में स्वतन्त्र पद के रूप में रहस्य शब्द जितना ही प्राचीन है, 'वाद' या सिद्धान्त की दृष्टि से एक समस्त पद के रूप में प्रयुक्त हिन्दी का 'रहस्यवाद' उतना ही अर्वाचीन है । वास्तव में हिन्दी की काव्य प्रवृत्ति तथा शैली-विशेष के लिए प्रयुक्त 'रहस्यवाद' का, 'मिस्टिसिज़्म' के वैशिष्ट्यमूलक, पारिभाषिक और रूढ़ अर्थों में प्रयोग का इतिहास नितांत आधुनिक है ।

यद्यपि 'आत्मा की मूल संकल्पात्मक अनुभूति' के रूप में विवेचित 'रहस्यवाद' को स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद ने भारतीय काव्यधारा की मुख्य प्रवृत्ति मानकर उसकी व्याप्ति वैदिक काल से अविच्छिन्न बताई है[१], तो भी काव्य की प्रवृत्ति-विशेष को द्योतित करनेवाले सिद्धान्त-विशेष की स्थापना का प्रयास नया है। छायावाद काल के आलोचकों ने इस शब्द को 'मिस्टिसिज़्म' के डर्रे पर चलाया जो विशेष संदर्भों के कारण क्रमशः रूढ़-अर्थ ग्रहण करता गया। ये संदर्भ मुख्यतया काव्यगत 'अव्यक्त अथवा वैयक्तिक अनुभूतियों' के थे। काव्यों में रहस्यात्मक अनुभूतियों की जो अभिव्यक्ति प्रवृत्ति अपनी शैलीगत विशेषताओं के साथ एक विशुद्ध एवं क्रमिक काव्यधारा का संकेत देती हुई प्रतीत होती है, उसी के संदर्भ में हिंदी काव्यालोचन इस 'वाद' को प्रमाणित तथा स्थापित भी करता है। वैसे, जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है हिन्दी में इस 'वाद' का आगमन छायावादी काव्यधारा की सैद्धांतिक समीक्षा के संदर्भ में हुआ था, फिर भी मध्यकालीन निर्गुण-काव्य की विशिष्ट प्रवृत्तियों तथा विशेषताओं को लक्ष्यकर आलोचकों ने उसे भी इसी 'वाद' में नियोजित कर लिया। इस प्रकार अपने प्राचीन इतिहास के साथ प्रवृत्ति और शैली-विशेष का प्रतिनिधित्व करनेवाले काव्य-वाद के रूप में प्रस्तुत 'रहस्यवाद' अब रूढ़ अर्थ ग्रहण करता हुआ निश्चित भाव क्षेत्र को द्योतित करने वाला पारिभाषित पद बन गया है[२]।

गूढ़-तत्व-व्यंजक अंग्रेजी 'मिस्टिसिज़्म' के हिन्दी रूपान्तर अथवा पर्याय रूप में प्रयुक्त 'रहस्यवाद' शब्द तथा उसके रूढ़ अर्थ में प्रचलन का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। भारतीय भाषाओं में इसके अन्य रूपांतर - 'गूढ़ गुंजन', 'सायुज्यवाद', 'प्रतीतिवाद', 'शून्य-शोधन', 'गूढ़वाद',

---

१ काव्य कला और अन्य निबंध, जयशंकर प्रसाद, पृ०

२ रहस्यवाद, राममूर्ति त्रिपाठी, पृ० १०।

'मरमियावाद' आदि[१] अलग अलग 'रहस्यवाद' का आंशिक प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु 'मिस्टिसिज़्म' और 'रहस्यवाद' में व्यापक अर्थ-भेद है। पहले में उसके मूल अभिप्राय रहस्यानुभूति और दूसरे में रहस्य-चिंतन व तत्ववाद के साथ उसकी अभिव्यक्ति शैली का अभिप्राय भी प्रकट होता है। तात्पर्य यह है कि काव्यधारा-विशेष की दृष्टि से 'रहस्यवाद' स्वसम्बन्धी सिद्धान्त, प्रवृत्ति, व्यंजना-प्रणाली और शैली-शिल्प में 'मिस्टिसिज़्म' से पृथक् है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी यह उसका शाब्दिक अनुवाद व धात्वर्थ-बोधक नहीं है क्योंकि पहले से रहस्यवादी चिंतनधारा व प्रणाली का भाव व्यक्त होता है और 'मृत्यु एवं जीवन के मर्मसंबंधी गूढ़ज्ञान को प्राप्त करने के लिए किसी दीक्षित'[२] व्यक्ति की 'गुप्तविद्या' अथवा रहस्यमयी साधना पद्धति का संकेत मिलता है वहीं दूसरी रहस्यवादी के सिद्धान्त एवं प्रवृत्ति का द्योतक है। इस प्रकार हिन्दी काव्यालोचन में व्यवहृत 'रहस्यवाद' जिस आग्रह, अतिरेक और स्वांगिता का संकेत देता हुआ एक दृढ़ अर्थ प्रकट करता है, वह उसके मूल रूप 'मिस्टिसिज़्म' में नहीं है'[३]। अतः 'रहस्यवाद' 'मिस्टिसिज़्म' का रूपान्तर होते हुए मूल अर्थ तथा विकसित अर्थ दोनों ही से भिन्न, परिभाषित तथा रूपान्तर-निरपेक्ष रूढ़-अर्थ-व्यंजक शब्द बनकर प्रतिष्ठित है।

'रहस्यवाद' की अस्पष्टता

हिन्दी काव्यालोचन 'रहस्यवाद' की अर्थ-व्याप्ति का स्पष्ट तथा अन्तिम निर्धारण अद्यावधि नहीं हो पाया है। यह अद्यावधि विवादास्पद होने के कारण भ्रामक व अनिश्चित बना हुआ है। इसके कालगत तत्वों, उपादानों और रूपों की सैद्धांतिक व्याख्या, मीमांसा और लक्षण-निरूपण व क्षेत्र-विस्तार के निर्धारण की चेष्टा स्पष्ट और निर्भ्रान्त नहीं कही जा सकती। सच तो यह है कि 'रहस्यवाद' की किसी एक परिभाषा को पूर्ण बताना दुराग्रह ही होगा।

---

१ रहस्यवाद, परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ३

२ वही, पृ० ११

३ रहस्यवाद, राममूर्ति त्रिपाठी, पृ० ४।

हिन्दी संत कवियों की रहस्यवादी अभिव्यक्तियों के अध्येताओं की तद्विषयक बहुविध परिभाषाएं 'रहस्यवाद' के क्षेत्र, स्वरूप, अर्थ के निश्चित स्पष्टीकरण की दिशा में उपक्रम मात्र और कभी कभी बाधक प्रतीत होती हैं। तत्व दर्शन के क्षेत्र में वर्णित परोक्ष सत्ता से रहस्यात्मक संबंध की व्यक्तिनिष्ठ अनुभूतियों और साधक कवियों द्वारा उस अनुभूतिपरक अनिवर्चनीय स्थिति एवं आनंदातिरेक की शाब्दिक गूढ़ाभिव्यक्तियों, दोनों ही से परे, हिन्दी काव्यालोचकों और कला-समीक्षकों द्वारा प्रस्तुत सौंदर्यशास्त्र, मनोविज्ञान और अध्यात्म-दर्शन के तद्विषयक सूत्रों की सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक व्यवस्था निर्णयात्मक नहीं है क्योंकि 'मिस्टिसिज़्म' के प्रयोग में विविधताओं, अव्यवस्थाओं, व्यक्तिवादी दृष्टिकोणों तथा धारणाओं के साथ बहुक्षेत्रीय विद्वानों द्वारा प्रस्तुत परिभाषायें इसके सार्वभौम, सर्वमान्य और सर्वस्वीकृत रूप एवं अर्थ की अनिश्चितता को प्रमाणित करती हैं। सच पूछा जाय तो हिन्दी 'रहस्यवाद' इसी अनिश्चितता के पथ में भटका हुआ रहस्य है जिसका पूर्ण उद्घाटन होना शेष है।

अलौकिक तथा दिव्य अनुभूतियों की गहनता, उसके लिए दुर्बोध्य एवं कठिन साधनाओं की जटिलता एवं गुह्यता और उसकी अभिव्यक्ति की सांकेतिकता एवं जटिलता आदि अनेक कोटि की नकारात्मक (Negative) विशेषताओं के कारण ही हिन्दी रहस्यवाद विषयक अव्यवस्थित, एकांगी, अनिश्चित, अस्पष्ट, विविध, व्यक्तिगत, आग्रहपूर्ण, असामान्य और अल्प-क्षीय धारणाओं को अलग-अलग प्रमुखता देनेवाली परिभाषाओं में अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति दोष का आरोप किया जाता है। तथापि अध्यात्म-दर्शन और काव्यालोचन दोनों ही क्षेत्रों के देशी-विदेशी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत कुछ मौलिक परिभाषाओं और व्याख्याओं में अवश्य ही 'रहस्यवाद' का आंशिक प्रतिनिधित्व हुआ है। उन्हीं प्रतिनिधि किंतु आंशिक तत्वों - रूपों, लक्षणों, विशेषताओं, उपादानों, दृष्टिकोणों या मौलिक एवं आधारभूत धारणाओं के आकलन, वर्गीकरण और विवेचन से 'रहस्यवाद', विशेषकर संतसाहित्य में व्यक्त रहस्य-तत्व को लक्षण-बद्ध करने का ठोस प्रयत्न किया जा सकता है।

विषय-विचार के उपर्युक्त धरातल पर यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी का 'रहस्यवाद' शुद्ध एक आलोचकीय व्यवस्था किंवा सैद्धांतिक परिकल्पना मात्र है । पाश्चात्य आलोचकों की 'मिस्टिसिज़्म' संबंधी विचार-परम्परा में व्यवहृत और भारतीय तत्वचिंतन या तत्वसाधना के सन्दर्भ में नियोजित 'रहस्यवाद' एक आरोपमात्र प्रतीत होने लगता है । इस आग्रह तथा आरोप के चलते 'मेघदूत में रहस्यभावना देखी गई है, गीत गोविंद में उसकी प्रेरणा; शकुंतला तक की संकल्पात्मक अंत: रहस्यवादी सिद्ध करने की चेष्टा हुई है'[१] । यही नहीं, शृंगारी कवि विद्यापति, रीतिकवि बिहारी और देव, स्वच्छंदतावादी कवि घनानंद आदि की रचनाओं में रहस्यवाद का अन्वेषण हुआ है । 'रहस्यवाद' की विभिन्न धारणाओं के अनुसार इस विषय की विस्तृत परिधि में 'औपनिषदिक तत्व बोध, बौद्ध सम्प्रदायान्तर्गत निर्वाण-सिद्धि और साधना, गीतोक्त भक्तिभावना, सूफी प्रेमोपासना, तांत्रिक साधना, हठयोग, और नाथ सम्प्रदायान्तर्गत योग-साधना आदि सभी आ जाती हैं'[२] । इतनी विशाल भूमिका पर प्रतिष्ठित रहस्य और उसके 'वाद' की इतनी वैविध्य-पूर्ण परिभाषा वस्तुत: 'रहस्यवाद' को असीमित बना देती है । उसका इतिहास वेद-वेदांग से लेकर 'छायावाद' तक धारावाहिक रूप से विकसित प्रतीत होने लगता है ।

रहस्य का वादन :

वस्तुत: रहस्य का वादन कठिन कार्य है लेकिन विद्वानों ने इसे परि-भाषित और स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है जिनमें पश्चिम और कतिपय भारतीय विद्वानों के विचार यहां उद्धृत किए जाएंगे ।

---

१ मध्यकालीन संत साहित्य, रामखेलावन पाण्डेय, पृ० ४४१ ।

२ वही - ४४१

पश्चिम के एक विद्वान पफ्लीडर महोदय का कथन है कि रहस्यवाद आत्मा द्वारा परमात्मा के एकत्व की सीधी अनुभूति है[1] । इसका सीधा तात्पर्य यह है कि भौतिक साधनों के द्वारा रहस्यानुभूति असम्भव है । मन और बुद्धि से ऊपर उठकर ही आत्मचैतन्य के माध्यम से उस परम चैतन्य की अनुभूति सम्भव है । कुल मिलाकर इनके कहने का तात्पर्य यह है कि रहस्यानुभूति एक तो अनुभव का विषय है, चिन्तन का नहीं और वह अनुभव भी एकत्व का है । डा० विलियम ब्राउन महोदय ने उपर्युक्त विचार का समर्थन आत्मा और परमात्मात्मा में निकट सम्बन्ध है, यह कह कर किया है[2] । फ्रैंक गेनर महोदय ने इन्हीं भावों को यह कहकर स्पष्ट किया है कि आत्मा द्वारा परमात्मतत्व का सीधा बोध ही रहस्यवाद है[3] । इसाई मर्मियों का भी विचार है कि जीवात्मा जो परमात्मा से पृथक हो गई है वह अतः एकत्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है और पुनः एक होना चाहती है[4] । प्रो० रानाडे ने भी एकत्व की भावना की अनुभूति का समर्थन किया है और इसे अनिर्वचनीय आनन्द की संज्ञा दी है[5] । लामा अनागारिक गोविन्द ने परमात्मत्व न कह कर इस तत्व को पूर्ण चैतन्य कहा है और उसके साथ एकत्वानुभूति को रहस्यतत्व माना है[6] ।

एक अन्य विद्वान प्रिंगल पैटीशन ने रहस्यवाद की प्रतीति उस वैचारिक प्रयत्न में माना है जिसके द्वारा वह चरमसत्य को ग्रहण करता है और उससे प्राप्त आनन्द से आनन्दित होता है[7] । पैटीशन महोदय ने उपर्युक्त विद्वानों से अलग

---

1 Mysticism is the immediate (direct) feeling of the unity of the self with God. Mysticism in Religion by Dean Inge, 25.

2 ——Some communion (Fellowship) between God and the individual is not an illusion - वही - Dr. William Brown.

3 Mysticism in its simplest and most essential meaning is a type of religion which puts the emphasis on immediate awareness of relation with God. Mysticism Dictionaries : Frank Gaynor.

4 Christian Mysticism - P. 339.

5 Prof. R.D.Ranade - Mysticism in Maharashtra - P. 1-2, 30

6 Varieties of Religious Experience - p. 38

7 Mysticism in Religion, by Inge, p. 25.

हटकर रहस्य की प्रतीति का प्रारम्भ विचार में माना है लेकिन उसकी परिणति आनन्द में स्वीकार किया है । कहने का तात्पर्य कि वह परमतत्व बुद्धिगम्य नहीं है, बुद्धि से ऊपर उठकर ही उसे प्राप्त किया जा सकता है । वानहार्ट मैन ने अचेतन से चेतन की अनुभूति को रहस्यवाद माना है[1] । इसमें भी प्रकारान्तर से बुद्धि से ऊपर उठने की बात की गयी है । जब तक विचार चल रहा है तब तक जगत चल रहा है । जब विचार रुक जाता है तो शून्यता की स्थिति आ जाती है और इस अवस्था में परमचैतन्य की प्रतीति होती है । अल्बर्ट स्वाइत्जर महोदय ने भी जगत से मुक्त दशा में आत्मतत्व की स्थिति मानी है[2] । गीता में बार बार इस प्रकार के विचार आये हैं और अनेक प्रकार से कृष्ण ने इस पर बल दिया है - कहीं वे कहते हैं कि प्रपंच से ऊपर उठकर समाधिदशा की प्राप्ति सम्भव है तो कहीं कहते हैं कि त्रैगुण्य से ऊपर उठकर त्रैगुण्य-निरोहित्य की स्थिति काम्य है ।

इसलिये आल्डस ने नैतिक बल और अभ्यास पर बल दिया - नैतिक बल जिसके द्वारा वस्तुओं के तत्व का स्वयं प्रकाश ज्ञान प्राप्त होता है तथा अभ्यास जिसके द्वारा उसकी भूमिका सुदृढ़ रहती है[3] । नैतिक बल और अभ्यास रहस्यदर्शी के चरित्र का मूलाधार है ।

हमें, रहस्यवाद के कार्य की अभिव्यक्ति प्रार्थना में मानते हैं[4] । प्रार्थना अन्तःकरण की शुद्धि का उत्तम मार्ग है । सत्य दर्शन के अनेक साधनों में एक प्रभावी साधन है । जैसे जैसे सत्य का दर्शन होने लगता है, जगत के यथार्थ का

---

1 Von Hartman - Mysticism is the feeling of conciousness with a content (Feeling, thought and desire) by an involuntary emergence of the same out of the unconcious.

2 All mysticism premises the idea that the soul lives in genuine freedom from the world. Albert Schaifzer, Indian thought & Development, p.77
गीता - २।४५-४५ ।

3 Huxley Aldous, P. 11, 8.

4 Mysticism in Religion by Inge, p. 29.

बोध होने लगता है, रहस्यदर्शी अपने मूल अर्थात् परमतत्व के निकट जाने लगता है और अन्त में होता यह है कि वह परम सत्ता का ही हो जाता है । इस वृत्ति को ई० केयर्ड ने केन्द्रीभूत अनन्यरूप और रहस्यवाद माना है । मूलत: यह समर्पण-भाव है और आत्म-समर्पण से अहंकार नाश होता है और अहंकार के नष्ट होते ही सत्य का साक्षात्कार हो जाता है[१] - इसे यदि कबीर के शब्दों में कहें तो कह सकते हैं - जब तू था तब हरि नहीं, अब हरि हैं तू नाहिं । पूर्ण समर्पण और अहंकार-राहित्य की स्थिति में एकाग्रता सधती है । एकाग्रता रहस्यवादी के प्रमुख लक्षणों में से एक है[२] । एकाग्रता के लिए सभी आन्तरिक शक्तियां एक केन्द्र पर स्थिर की जाती हैं जिससे चेतना का क्षेत्र संकुचित होकर एक स्थान पर आ जाता है[३] । यहां चेतना के क्षेत्र के संकुचित होने से तात्पर्य यह है कि चित में जगत के प्रपंचों के प्रति जो विक्षेप है वह समाप्त हो जाता है जब विक्षेप समाप्त हो जाता है - ध्यान अथवा समाधिदशा की प्राप्ति होती है[४] । जब प्रगाढ़ ध्यान सधता है तब 'रहस्यवादी-अन्तर्दृष्टि' का उदय होता है - और जब अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति हो जाती है तो सत्य का प्रत्यक्ष हो जाता है[५] ।

आर०सी० मार्वेली का कथन है कि मसीही-रहस्यवाद कोई सिद्धांत नहीं है बल्कि पवित्रात्मा की अनुभूति है[६] । भारतीय साधना में भी मलिन-देह से भिन्न भाव-देह की स्थिति स्वीकार की गयी है और यही भाव-देह सत्य की प्राप्ति में सहायक होता है[७] । भाव-दशा की प्राप्ति होने पर भेद

---

१ E. Caird - Mysticism in Religion, p.25.

२ वही, २८ Inge

३ वही, T.H. Hage

४ गीता, २-४४

५ Mysticism in Religion by Inge, p.24, Bertrand Russel.

६ वही, २५

७ भारतीय संस्कृति और साधना, ४४६ ।

समाप्त हो जाता है और सर्वत्र अभेद-दर्शन होने लगता है, अर्थात् यह प्रतीति होने लगती है कि मात्र एक तत्व ही सर्वत्र विराजमान है और यही दृष्टि वस्तुत: रहस्यवाद है[१] । संत आगस्टीन ने भी कहा है कि केवल उसी (परमतत्व) का ही अस्तित्व है, अन्य किसी का नहीं[२] । एक को ही सब में देखना, यह रहस्य-दर्शन का एक पहलू है, इसका दूसरा पहलू है कि जो कुछ चर-अचर दिखाई दे रहा है, वह वही है[३] । कहने का तात्पर्य कि जब रहस्य-दर्शीदृष्टि का उदय हो जाता है तो पूर्णदृष्टि का उदय हो जाता है, खण्ड-दृष्टि समाप्त हो जाती है । सब कुछ, एक तत्व प्रतीति होने लगता है अथवा एक तत्व मय हो जाता है - पूर्णता की प्राप्ति हो जाती है[४] । और सम्पूर्ण विश्व एक इकाई बनकर उसकी बाहों में समा जाता है अर्थात् उसमें एकत्व की प्रतिष्ठा हो जाती है[५] । इस प्रकार अन्त में उपर्युक्त सभी बातों को दृष्टि में रखकर विचार करें तो यही निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य के लिए यदि सर्वाधिक रहस्य का विषय है तो वह है - आत्मतत्व और परमात्म-तत्व । इस परमात्म-तत्व से संबद्ध उपर्युक्त अनेक जितनी बातें हैं, सभी रहस्यवाद के अन्तर्गत आती हैं ।

आचार्य शुक्ल ने ज्ञान और विश्वास को रहस्यतत्व का मूलाधार माना है और यह भी माना है कि ज्ञान और विश्वास जैसे जैसे सूक्ष्मता की ओर बढ़ते जाएंगे, वैसे-वैसे रहस्य-दृष्टि भी सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जाएगी[६] ।

---

१ R.L. Nettleship - Mysticism in Religion- 25.

२ Religion & Rational outlook, S.N. Dasgupta, p. 351.

३ Mysticism in English Lit., Spurgeon, p.11.

४ The Theory & Art of Mysticism - Preface, p. 12.

५ Nature of Mysticism - C. Jinrajedasa - Introduction, page 4.

६ जायसी ग्रंथावली - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, भूमिका, पृ० २०९ ।

कतिपय आचार्यों का मत है कि 'भावना और साधना के दो क्षेत्रों में अभिव्यक्त होने वाली अनुभूति, रहस्यवाद के दो रूप प्रस्तुत करती है - एक भावनात्मक रहस्यवाद और दूसरा साधनात्मक रहस्यवाद । अद्वैततत्व की अनुभूति जब प्रेम के क्षेत्र में होती है तो उसकी साहित्यिक अभिव्यंजना में भावात्मक रहस्यवाद अपने रूप को संवारता है और जब साहित्यिक अनुभूति विशेष साधना के क्षेत्र में होकर काव्य में अभिव्यक्त होती है तब उसकी शैली में विशेषता आ जाती है और उस दशा में साधनात्मकरहस्यवाद प्रस्तुत होता है'[१] ।

रहस्य के वाद - आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने बहुक्षेत्रीय विचारकों द्वारा प्रस्तुत रहस्यवाद की परिभाषाओं का विवेचन करते हुए स्पष्ट किया है कि रहस्यवाद को दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक धारणाओं से उसको 'चेतना' 'संवेदन' अनुभूति और मनोवृत्ति विशेष के रूप में परिभाषित करने की चेष्टा हुई है जो रहस्य तथा रहस्यवाद की परिभाषाओं को व्यावहारिक बनाने की अपेक्षा शास्त्रीय बना देती है, जबकि मूलत: शास्त्र से रहस्यवादी चेतना का कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है[२] । ये परिभाषाएं किसी मनोदशा विशेष को ही लक्षित कराती हैं । इसके विपरीत जो परिभाषाएं तत्वज्ञान से संबंधित होने के कारण दार्शनिक प्रपत्तियों पर आधारित हैं, वे मनोदशा के बजाय उसकी प्रक्रिया एवं क्रियात्मकता पर बल देती हैं । उनके अनुसार रहस्यवाद 'तथ्य की खोज विषयक प्रणाली'[३], 'मानवीय चित्त द्वारा किया गया प्रयास'[४], 'सत्य एवं वास्तविक तथ्य तक पहुंचने का माध्यम'[५], 'ईश्वर के साथ व्यवहार करने का मार्ग'[६], 'भीतरी समायोग विषयक कला'[७], 'मानवीय प्रकृति का सतत अभ्यास'[८],

---

१ कबीर का रहस्यवाद, डा० सरनाम सिंह शर्मा, पृ० ३५७
२ रहस्यवाद, पृ० १७ (आचार्य परशुराम चतुर्वेदी)
३ वही, पृ० १८
४ वही, पृ० १८
५ वही, पृ० २०
६ वही, पृ० २०
७ वही, पृ० २०
८ वही, पृ० २२

'जीवन की पद्धति विशेष'[१] है। इन सभी आधारों तथा सूत्रों पर बनी परिभाषाओं को एकांगी सिद्ध करते हुए चतुर्वेदी जी अंत में, अपनी परिभाषा इस प्रकार देते हैं - 'रहस्यवाद एक ऐसा जीवन दर्शन है जिसका मूल आधार, किसी व्यक्ति के लिए उसकी विश्वात्मक सत्ता की अनिर्दिष्ट या निर्विशेष एकता या परमात्म-तत्व की प्रत्यक्ष एवं अनिवर्चनीय अनुभूति में निहित रहा करता है और जिसके अनुसार किये जाने वाले उसके व्यवहार का स्वरूप स्वभावतः विश्वजनीन एवं विकासोन्मुख हो जा सकता है'[२]।

भारतीय रहस्यवाद

डा० राममूर्ति त्रिपाठी ने चतुर्वेदी जी की उपर्युक्त विवेचना के संदर्भ में रहस्यवाद की भारतीय प्रकृति का विस्तार से निरूपण करते हुए रहस्य का मुख्य अर्थ बुद्धि-बोध्य 'चरमचिन्मय तत्व' किया है और बताया है कि भारतीय परम्परा में तत्वोन्मुखी विचार-प्रणाली के लिए स्वयं 'वाद' शब्द की दृष्टि से 'रहस्यवाद' 'असीम' के 'अनुभव प्रकाशक कथन' के रूप में लिया जा सकता है, किन्तु शब्दात्मक 'रहस्य' का संकेतभर दे सकता है, पूर्ण प्रकाशन नहीं कर सकता'[३]। इसके अतिरिक्त उन्होंने जिस अर्थ में 'रहस्यवाद' को ग्रहण किया है उसका संबंध दार्शनिकों की अपेक्षा हार्द-भूमिका पर रहस्यमयी सत्ता का साक्षात्कार करने वालों, अनुभवी सिद्धों एवं संतों से है[४]। इस आधार पर 'रहस्यवाद' के विवेचन द्वारा उन्होंने निष्कर्ष स्वरूप जो परिभाषा दी है वह संत काव्य के तत्संबंधी अध्ययन के लिए अपेक्षाकृत अधिक उपर्युक्त है। उनके शब्दों में 'रहस्यवाद रहस्य-दर्शियों का वह सांकेतिक कथन व वाद है - जिसके मूल में अखंडानुभूति और तत्वा-

---

१ रहस्यवाद, पृ० २३ (आचार्य परशुराम चतुर्वेदी)

२ वही, पृ० २५

३ रहस्यवाद, पृ० २७-२८ (डा० राममूर्ति त्रिपाठी)

४ वही, पृ० १५।

नुभूति निहित है[१]। इस वाद का विषय मूल तत्व के साथ तत्वोपलब्धि की प्रक्रिया तथा तत्वाभिव्यक्ति की विशेषता भी लिए हुए है और जिसके साथ अन्यान्य आंतरिक अनुभूतियां भी अभिव्यक्त हो सकती हैं ।

निर्गुण साधक संत काव्य में रहस्य-तत्व का स्वरूप

भारतीय रहस्यवाद तत्वानुभूति और तत्व-व्यंजना की रहस्यमय प्रक्रिया से संबंधित उस अखण्ड सत्ता का वाद है जो वाणी का अगोचर विषय है । संतों का वाद भी 'अनुभूति मात्र वेद्य तत्व विषयक' होने से गहन तथा गुह्य-गूढ़ है । यही कारण है कि विषय के समान ही उनकी काव्यभाषा असामान्य हो उठी है । संतगण साधक कवि थे । उन्होंने भारतीय तत्ववाद की पूर्ववर्ती साधना-परम्परा में परोक्ष सत्ता विषय पर चिंतन किया है और प्रतीक संकेतों के माध्यम से अपनी अनुभूतियों को अटपटे कथनों में व्यक्त करने का प्रयास भी किया है । अत: संतकाव्य में व्यक्त 'वाद' वस्तुत: ऐकान्तिक तथा विषयिगत जीवन-दर्शन है जो दार्शनिक तर्कवाद और काव्यशास्त्रीय रसवाद की अपेक्षा तत्वानुभूति विषयक आनंदवाद तथा वैचित्र्यवाद के निकट दिखाई पड़ता है । उसमें अध्यात्म-दर्शन और रहस्यवाद के स्थान पर तत्वानुभूति की वैयक्तिक रहस्य भावना की मात्रा अधिक है । वस्तुत: संतों की रहस्य-भावित अनुभूतियां ही भावनागम्य होकर अभिव्यक्त हुई हैं । ये अनुभूतियां विषयिगत, भावात्मक और साधनात्मक होने से तत्वविषयक रहस्य-भाव से अनुप्राणित हैं । इसलिए काव्य के धरातल पर रहस्य की भावना द्वारा ही संतों के रहस्य-भाव की व्यंजना हो सकी है । रहस्यानुभूति से अभिव्यक्ति तक कवि तथा साधक की भूमिकाओं का विश्लेषण करते हुए कहा जा सकता है कि 'कवि पहले अनुभूति करके भावना में अनुभूत भाव का पुन: पुन: अनुसंधान करता है, तभी उसे अभिव्यक्ति के अनुरूप बना

---

१ रहस्यवाद, पृ० २८, डा० राममूर्ति त्रिपाठी ।

पाता है --- योगी के लिए भावना साधन मात्र है, पर कवि के लिए वह साधन भी है और साध्य भी । भावना के बिना जब रसानुभूति और अभिव्यक्ति संभव ही नहीं तो निश्चय ही कवि को भावना की उपलब्धि, साध्य रूप में अनिवार्य है और तभी वह साधन बन सकती है"[१] ।

संतों की द्विविध-भूमिकाएं

चूंकि संतगण रहस्यदर्शी साधक और कवि दोनों ही भूमिकाओं में आते हैं इसलिए उनकी रहस्यभावना साधन और साध्य की दोहरी भूमिका का निर्वाह करती है । संत काव्य में भावपक्ष और कलापक्ष में रहस्यभावना और रहस्य व्यंजना के द्विविध कर्मों का अन्तर्भाव साधक तथा कवि की अभिन्नता के कारण ही संभव हुआ है । रहस्यदर्शी और कवि दोनों के गुण संतों के संदर्भ में परस्पर पर्याय तथा पूरक हो गए हैं । डा० त्रिपाठी के मतानुसार "कवि और रहस्यदर्शी में साम्य की आधारभूमि यह भी है कि दोनों अनुभूति-जगत के प्राणी हैं । इसलिए कभी रहस्यदर्शी कवि की भूमिका पर और कभी कवि रहस्यदर्शी की भूमिका पर आ जाता है - कभी कवि रहस्यदर्शी हो जाता है, कभी रहस्यदर्शी कवि"[२] । अनुभूति के समान धरातल पर अवस्थित होने से रहस्य-तत्व की भावात्मक अनुभूति और उसकी रसात्मक एवं संप्रेषात्मक अभिव्यक्ति का कार्य संत काव्य में एक ही माध्यम से संयोजित हुआ है । भारतीय तत्वदर्शियों के समान संत साधक भी थे और कवि भी । अत: माध्यम की एकनिष्ठता के कारण अनुभूति और अभिव्यक्ति की क्रियाएं उनके काव्य के वर्ण्य-विषय और शिल्प-विधि को रहस्य या तत्व के वाद की परिधि में एक ही वस्तु के दो पहलुओं के रूप में प्रस्तुत कर देती हैं । संतों का असामान्य अनुभव स्वत: असामान्य भाषा-परिधान प्राप्त कर व्यक्त हुआ है अर्थात् रहस्य और काव्य की भावात्मक एकता तत्वानुभूति की एक ही विकास-रेखा में घटित हुई है जो पूर्व प्रचलित

---

१ काव्य में रहस्यवाद, बच्चूलाल अवस्थी, पृ० २६ ।

२ रहस्यवाद,

प्रणाली में अभिव्यक्त होकर संत-काव्य के 'रहस्यवाद' रूप में प्रतिष्ठित हुई है। संतों ने तात्त्विक स्वानुभूति की व्यंजना द्वारा काव्य में रहस्य-भाव की प्रतिष्ठा की है। इसलिए संतों के काव्य में रहस्य के 'वाद' की अपेक्षा रहस्य की भावना का ही दर्शन होता है।

संत काव्य में रहस्यदर्शी साधक और शब्दशिल्पी कवि की समान भूमिका होने से उनके रहस्यदर्शन और काव्यदर्शन की धारावाहिक विकास प्रक्रिया भी एक ही रेखा में दिखाई पड़ती है। इसलिए रहस्य की प्रतीति और उसकी काव्यगत अभिव्यक्ति के क्रम में भाव तथा कला का विलक्षण संयोजन हुआ है। रहस्यानुभूति की कलात्मक अथवा काव्यात्मक अभिव्यक्ति में चरितार्थ होने के लिए आवश्यक है कि उसका भाव-कल्प हो। तभी अभिव्यक्ति रसात्मक एवं कलात्मक होगी। अतः संतों ने अपनी रहस्यात्मक अनुभूति को शब्द देने के पूर्व उसका भाव-कल्प किया। इसी के द्वारा वे रहस्यभाव को काव्यभाव का रूप देकर उसकी सहज स्वयं कलात्मक अभिव्यक्ति करने में सफल हो सके हैं। रहस्य और काव्य के एकात्मभाव द्वारा कलात्मक अभिव्यक्ति का यही कौशल हमें पूर्ववर्ती रहस्यवादी सिद्धनाथ काव्य परम्परा में भी दिखलाई देता है। अतः संत काव्य में रहस्य तत्व की स्थिति और स्वरूप के आकलन के लिए अनुभूति तथा उसके 'वाद' में गुंफित काव्य-भावों तथा शिल्पविधियों का स्पष्ट अन्वेषण आवश्यक है।

साधना क्रियाओं और परम साक्षात्कार जन्य अनुभूतियों की काव्य भाषा में अभिव्यक्त प्रणालियों तक साधक संतों की रहस्य भावना अनेक तत्वों को समेटती हुई विकसित हुई। हिंदी में कबीर संत मत के प्रवर्तक माने जाते हैं। इन्हीं से हिन्दी संत-काव्य और निर्गुण-पंथ की परम्परा चलती है। इनकी निर्गुणधारा भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग की त्रिवेणी जैसी है। इनके भक्तियोग पर सम्पूर्ण भारतीय भक्ति-परम्परा का, जिसमें मुख्यतः पुराणों का विश्वास, नारद-भक्ति-सूत्र के भक्त तथा इष्ट के संबंध, गीता की ज्ञानमयी श्रद्धा, विशिष्टाद्वैत की प्रपत्ति आदि का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगत होता है। ज्ञान-योग में गीता का ज्ञान और शंकर के अद्वैतवाद का स्वरूप जगह-जगह झलकता है।

कर्मयोग में बाहरी आचारों-विचारों की शुद्धि के अतिरिक्त पातंजलि की यौगिक क्रियाओं का वर्णन भी उपलब्ध है । इतना ही नहीं सिद्धों के प्रभाव में लिखी उलटबासियां, नाथ पंथ के प्रभाव में हठयोग की क्रियाएं, इस्लामी एकेश्वरवाद, वैष्णवों की अहिंसा भावना, सब मिलकर इस 'निर्गुण-सन्त-परम्परा के आभूषण हैं[१] ।

प्रभाव और परम्परा के इस धरातल पर निर्गुण साधना के रहस्यमय तत्व का निरूपण किया जा सकता है । वैदिक साहित्य से लेकर संत-साहित्य तक के दार्शनिक व्याख्याकारों तथा रहस्य दर्शियों ने रहस्यानुभूतियों की अभिव्यक्ति का निरूपण परस्पर विरोधी विशेषणों से किया है । उपनिषद् के व्याख्याकारों में किसी ने उस तत्व को 'सच्चिदानंदमय' बताया और किसी ने 'निर्विशेष' और 'अद्वैततत्व' के रूप में प्रतिपादित किया । इसी प्रकार द्वैत-अद्वैत भेदाभेद वादी दर्शनाचार्यों ने उसका प्रतिपादन 'चित्-अचित्', 'शुद्ध' आदि पदों द्वारा किया है और उसे किसी न किसी रूप में 'सविशेष' बताया गया है । नैगमिक धारा के समान आगमिक धारा में भी उस तत्व का विवेचन हुआ है । यहां मूल तत्व या गुह्यतत्व को चिन्मयी महामाया शक्ति संवलित अद्वय द्वयात्मक माना गया । इस प्रकार रहस्यदर्शियों ने जिस मूल रहस्यात्मक तत्व का साक्षात्कार किया है उसकी व्याख्या दार्शनिकों ने विभिन्न दृष्टियों से की है । शंकराचार्य उसे द्वैत विरोधी अद्वयात्मक और आगमिक द्वयात्मक अद्वय मानते हैं । सिद्ध और संत इसी आगमिक मत को स्वीकृत करते हैं जो शैवों, शाक्तों, वैष्णवों और बौद्धों से होते हुए मध्यकालीन सिद्ध-संत कवियों तक पहुंचता है ।

निर्गुण रहस्यसाधना का मूलाधार - त्रिसत्य

सत्संग

संत साधना क्रमशः त्रिसत्यों पर आधारित है और वे तीन सत्य हैं - सत्संग, सद्गुरु तथा सत्नाम । सत्संग को पहला सत्य स्वीकार किया

---

१ संत काव्य का दार्शनिक विश्लेषण, मनमोहन सहगल, विजय प्रकाश, पृ० २६ ।

गया है[१] ।

संत मतावलम्बियों में सत्संग की परिभाषा सामान्य परिभाषा से भिन्न है । इनके अनुसार, 'सत् का अर्थ है 'जीवित' और 'संग' का अर्थ है 'जुड़ना', अर्थात् जीवित अथवा पहुंचे हुए पुरुष की सोहबत या संगति ही सत्संग है । सद्गुरु के अन्दर सत् प्रकट है, उसकी संगति का नाम सत्संग है'[२]।

सामान्य रूप में सत्संग का अर्थ संत पुरुषों की संगति ही मानते हैं, मात्र सद्गुरु की ही नहीं । जो भी हो संतसाहित्य में संत-संग का महत्व बहुत अधिक है और इससे साधना के मार्ग में अग्रसर होने की प्रेरणा तो मिलती ही है, सद्-विचार और मार्गदर्शन भी मिलता है । इसलिए श्रुति भी कहती है कि उठो, जागो और संत पुरुषों के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो[३] । इस ज्ञान को सेवा और आदर देकर प्राप्त करना चाहिए[४] ।

आजकल संत शब्द का प्रयोग सज्जन, साधु, भक्त एवं सत्पुरुष के लिए होता है किसी खास भावना और विचारधारा में विश्वास रखने वाले व्यक्ति के लिए ही नहीं जैसा कि पहले होता था[५] । फिर भी संतजन सामान्य जनों से भिन्न तो हैं ही । यदि संत पलटू की भाषा में कहें तो कहना पड़ेगा कि संत वह है जो यदि लोगों के बीच में है तो हरिचर्चा रत रहे और यदि एकान्त में है, हरि-सुमिरन में रहे[६] ।

---

१ सुरमत सिद्धान्त, पहला भाग, खण्ड एक, भूमिका, पृ० ७१ ।

२ वही

३ कठ०, १-३-१४

४ गीता ४-३४

५ संतदर्शन, डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पृ० १

६ की तो हरि चर्चा महँ, की तो रहै एकंत
रैसी रहनी जो रहै, पलटू सोई संत ।
पलटू साहिब, संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० २१६ ।

सतसंग : बाह्य और आन्तरिक

यदि उपर्युक्त कथन को और स्पष्ट करके कहें तो कह सकते हैं कि सतसंग दो प्रकार के हैं - बाह्य सत्संग तथा आंतरिक सत्संग । बाहरी सत्संग से मन की सफाई होती[१], आध्यात्म सम्बन्धी अभिज्ञता मिलती है, परमार्थ-साधन की प्रेरणा और योग्यता प्राप्त होती है । आन्तरिक सत्संग में नाम-स्मरण और सुरत-साधना होती है[१] ।

संत

सम्प्रति जिस सत्संग की यहां चर्चा हो रही है उसका तात्पर्य सज्जन-पुरुषों के संग[२] न होकर पहुंचे हुए संतों के संग से है जिन्हें साधना की जानकारी है; जो नामस्मरण करने वाले हैं तथा जिनमें भक्ति भावना है और जो निर्वाण पद के अधिकारी हैं[२] । ऐसे संत शब्द के प्रेमी होते हैं, त्रिकुटी में ज्योति-दर्शन करते हैं, बंक नाल से होकर भंवर गुफा में प्रवेश की शक्ति रखते हैं, हरदम उन्मुनी भाव में स्थिति रहते हैं तथा सुष्मणा के मध्य से प्राण संचरित करके अखंड ध्यान और नाद में लीन रहने वाले होते हैं[३] । इन संतों को राम-नाम कभी भूलता नहीं है । ये इन्द्रियातीत होकर आत्मस्थ रहते हैं और सबके भीतर आत्मदर्शन करते हैं तथा ध्यान और धुन में लीन रहते हैं । इन्हें अभय-पद प्राप्त होता है । ये ब्रह्मज्ञानी तथा तन-मन-धन सबकी चिन्ता से मुक्त 'नाम-स्नेही' होते हैं[४] ।

गृहस्थ-विरक्त

जिन संतों के संबंध में अभी चर्चा की जा रही है ये गृहस्थ भी हो सकते हैं और विरक्त भी हो सकते हैं लेकिन मूल बात यह है कि इनका अन्तःकरण

---

१ गुरुमत सिद्धान्त, भाग दो, खण्ड १, भूमिका, पृ० ४२

२ अनुराग सागर, पृ० १, सोरठा २

३ दरिया साहेब (बिहार) के हुने हुए शब्द - फुटकर शब्द, ४

४ पान पबोध- पृ० ५१
तुलसी साहब-शब्दावली, भाग १, पृ० ५०।४
दया बाई की बानी, पृ० ८।१ ।

निर्मल होता है और उनकी कथनी-करनी में सामंजस्य होता है[१] । ऐसे संत शरीर पर फकीरी बाना पहनने में विश्वास नहीं करते हैं बल्कि अपने मन को ही फकीर बनाते हैं[२] ।

महत्त्व

सतसंग के लिए जब ऐसे संत मिलते हैं तो उनके थोड़े काल के संग का महत्त्व होता है और उस अल्प काल में ही मन की अपराध वृत्ति समाप्त होकर मुक्ति की ओर लग जाती है[३] ।

रूपान्तरण

सतसंग के अभाव में नाना तीर्थों का भ्रमण वेद-शास्त्रों का अध्ययन और मनन सब कुछ व्यर्थ है । यदि सही मार्ग बताने वाली कोई वस्तु है तो वह केवल सतसंग है[४] क्योंकि सतसंग से ही मोह-नाश सम्भव होता है और चित्त-वृत्तियां लौकिकता से विमुख होकर पारलौकिक जगत की ओर उन्मुख होती हैं[५] । सतसंग के द्वारा ही शब्द और नाम की प्राप्ति होती है[६] तथा मुक्ति की सही युक्ति हाथ लगती है[७] । कहने का तात्पर्य यह कि सतसंग के द्वारा ही मनुष्य-जीवन में सही और पूर्ण परिवर्तन सम्भव होता है और किसी के द्वारा नहीं[८] । सतसंग के द्वारा जो पूर्णपरिवर्तन होता है उसे संत लोग कीट से भृंग दशा की प्राप्ति कहते हैं[९] ।

---

१ दरिया (मारवाड़) की बानी, पृ० २२।१
२ मलूकदास की बानी, पृ० ३३।६
३ साखी ग्रंथ, संगति की अंग, ६,१०
४ वही, २४,२५
५ वही, पृ० ५२
६ दरिया (मारवाड़) की बानी, पृ० २२।५,६
७ पानप बोध, राग रामकली-५
८ दादू दयाल की बानी, सतसंग महात्म, १२३-१२७
९ पानप बोध, सत्संग-शब्दी-५ ।

नामदान

इस परिवर्तन से ही सही अर्थों में जन्म सुधरता है लेकिन उस सुधार के लिए सतसंग के माध्यम से नाम ग्रहण करना पड़ता है । जब पूर्ण परिशुद्ध-मना संत मिल जाते हैं तो नाम सरीखा धन अनायास ही दे देते हैं[१] । पलटू साहब का कहना है कि उन्होंने नाम के अतिरिक्त अन्य विधियों को भी आजमाया लेकिन उन्हें निरर्थक पाया और अन्ततः 'नाम' उन्हें संतों में ही प्राप्त हुआ । संत केशवदास का भी कहना है कि परमेश्वर को 'सतशब्द' के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है और उसकी जानकारी संत पुरुषों को ही है ।

स्मरण विधि

शब्द-साधना अथवा नामस्मरण बहुत से लोग करते हैं और उन्हें यह एहसास रहता है कि वे कोई साधना कर रहे हैं लेकिन उनकी साधना उस सुग्गे की भांति फलवती नहीं होती है जो केवल मुंह से राम नाम बोलता है । वस्तुतः जब संत मिलते हैं तो राम-नाम की सही साधना-विधि देते हैं जिसका स्मरण अन्तःकरण से होता है और यही स्मरण सही रूप में स्मरण होता है[३] । पानप दास जी ने भी आदि काल से लेकर अब तक जितने मार्ग बताए गए हैं उनको परखा लेकिन अन्ततः वे भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचे कि नामसाधना ही प्रभावकारी है और उसे सही रूप में पहुंचे हुए संतों के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है ।

संत गरीब दास ने बताया है कि गम्य भूमिका और अगम्यभूमिका, इन दोनों भूमिकाओं पर स्मरण होता है । गम्य भूमिका तो जिह्वा द्वारा नाम स्मरण की है लेकिन अगम्य भूमिका शरीरदशा से ऊपर की है जहां स्मरण की स्थिति ध्यान में परिवर्तित हो जाती है । इस दशा को प्राप्त होने पर मन

---

१ साखी ग्रन्थ, संगति कौ अंग- दोहा ११,२२

२ पलटू साहब की बानी , कुण्डलिया, २०८

३ ग० दा० की बानी, संगति का अंग, ७-१०

४ पानप बोध, पृ० ४६।१

विचार शून्य हो जाता है उच्चतर भूमिकाओं को प्राप्त कर लेता है, वह शुभ, यानी परिशुद्ध हो जाता है और साधक उसके उपरान्त मरजीवा स्थिति को प्राप्त कर लेता है । तो कहने का तात्पर्य स्मरण से ध्यान; ध्यान से प्रगाढ़ ध्यान और अन्त में मरजीवा स्थिति की प्राप्ति के लिए सत्संग नितान्त आवश्यक होता है क्योंकि सत्संग में ही एक ऐसा संत मिल जाता है जो गुरू रूप में दीक्षा देकर क्रमश: इन भावों की प्राप्ति करा देता है[१] ।

पानपदास जी का कथन है कि सत्संग भी सावधानीपूर्वक करना होता है क्योंकि सत्संग करते समय कुछ तो ऐसे मिलते हैं जो नामस्मरण तो करते हैं लेकिन केवल बाहर से ही करते हैं; कुछ ही संत ऐसे मिलते हैं जो अन्त:करण से स्मरण करते हैं । ऐसी दशा में उनका परित्याग करना पड़ता है जो स्मरण बाहर से करते हैं और उनका ग्रहण करना पड़ता है जो भीतर से करते हैं[२] ।

सत्संग और सत्नाम के मध्य में गुरू अवस्थित है और संत साधना में उनका अत्यधिक महत्व है क्योंकि बिना उसकी सहायता के साधना असम्भव है, अत: गुरूतत्व पर विशद्रूप से विचार किया जाएगा ।

सत्गुरू

यद्यपि इस क्रम में सत्गुरू का नाम सत्संग के बाद आता है लेकिन यह मध्य बिन्दु अत्यन्त महत्वपूर्ण है अत: यह गुरूतत्व विशेष विचार की अपेक्षा रखता है ।

यह सत्य है कि सत्संग, सत्गुरू और सत्नाम के त्रिसत्य की त्रिपुटी के क्रमश: सतत् सेवन, सान्निध्य और साधन से ही रहस्य दर्शन का मार्ग प्रशस्त

---

१ गरीब दास की बानी, संगति का अंग - २२-२४ ।

२ पानप बोध, ४६।६ ।

होता है[१] । सत्संग के सतत सेवन से विवेक की प्राप्ति होती है[२] जिससे साधक सत्य दृष्टि की प्राप्ति करता है और सत्य दृष्टि अथवा सम्यक् दृष्टि के द्वारा वह जगत की असारता, मिथ्यात्व आदि के बोध की प्राप्ति करता है और फिर जगत अर्थात् इन्द्रीय-सुख से आगे परमतत्व की उपलब्धि की दिशा में अग्रसर होता है । सत्संग से जब साधक की वृत्तियां परिशुद्ध हो जाती हैं तब उसे सतगुरु की प्राप्ति होती है अथवा वह स्वयं गुरु का सान्निध्य प्राप्त करता है[३] । सद्गुरु की प्राप्ति भी सबको नहीं होती बल्कि उन कतिपय भगवत्कृपा को प्राप्त - शक्तिपात के द्वारा पवित्रता को प्राप्त साधकों को ही होती है जो आत्म-साक्षात्कार के निमित्त व्याकुल होते हैं[४] । कहने का तात्पर्य कि अध्यात्म-मार्ग में गुरु प्रारम्भ से लेकर अन्त तक सहायक रहता है । प्रारम्भिक स्थिति में गुरु - सान्निध्य से मार्ग की प्राप्ति और सेवा से अहंकार-नाश होता है, दूसरी स्थिति में शिष्य गुरूपदिष्ट ज्ञान का मनन और निदिध्यासन करता है और तीसरी स्थिति में उसे आन्तरिक शब्द और प्रकाश की प्राप्ति होती है और अन्त में लय की सर्वोच्च स्थिति की प्राप्ति होती है[५] ।

महत्व

भारत में गुरु का सर्वाधिक महत्व रहा है इसलिए ही भगवान शिव को आदि गुरु की संज्ञा दी गई है[6] और कला-साहित्य और विज्ञान के आदि प्रवर्तक के रूप में उन्हें स्वीकार किया गया है। भगवान शिव को गुरु मानकर भारतीय-मनीषा ने इस प्रकार गुरुत्व को ईश्वरत्व के समकक्ष सिद्ध करने का ही

---

१ गुरुमत सिद्धान्त - भाग पहला (खण्ड एक), भूमिका-७१

२ बिनु सतसंग विवेक न होई। रामचरित मानस।

३ विवेक-चूड़ामणि (गीता प्रेस)- १५

४ भारतीय संस्कृति और साधना, म०म० गोपीनाथ कविराज, पृ० २५४

५ कर्म भोग या मौज - संत फकीरचन्द जी, पृष्ठ ४७

६ गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः।

प्रकारान्त से प्रयास किया है, लेकिन इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि यदि क्रमश: हीन कोटि के प्राणि गुरु हों तो उनका महत्व किसी प्रकार कम हो जाएगा। देवता और मनुष्य कोटि के जीव तो गुरु बनने की योग्यता रखते ही हैं लेकिन मनुष्येतर प्राणियों के गुरु होने के आख्यान भी प्राप्त हैं जिन्हें गुरुवत समुचित समादर भी प्राप्त था।

गुरु-प्रदत्त ज्ञान श्रेष्ठ कोटि का होता है क्योंकि उसके पीछे गुरु द्वारा प्राप्त स्वानुभूत सत्य होता है। जिसके पास स्वानुभूत सत्य होता है यथार्थत: वही ज्ञानी होता है अत: गुरु ज्ञानी होता है और जब अज्ञानी शिष्य, ज्ञानी गुरु के सम्पर्क में आता है वह भी ज्ञानी बन जाता है और ज्ञान-विज्ञान के नए लोकों की खोज करता है[१]। इस स्थल पर ऋग्वेद में गुरु के लिए क्षौत्रवित् शब्द का प्रयोग किया गया है। इस सृष्टि में सबसे रहस्यमय क्षौत्र मनुष्य-देह ही है। जो इस देहगत सूक्ष्म रहस्यों को जानता है वह समस्त में रहस्य दर्शी है। परवर्ती संतों ने भी मनुष्य देह को बहुत महत्व दिया है और उसे ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त संस्करण माना है। अत: इस लघु की साधना से ही विराट् की साधना हो जाती है और इस अणु की जानकारी उस विभु को भी हस्तामलक कर देती है किन्तु इस महान् की प्राप्ति बिना क्षौत्रज्ञ अथवा गुरु के असम्भव है[२]। विशेषकर आध्यात्म के क्षौत्र में गुरु तथा गुरुप्रदत्त ज्ञान अथवा मार्ग का महत्व इसलिए भी श्रेष्ठ होता है कि यह क्षौत्र अपेक्षाया अधिक सूक्ष्म और विषयिगत है अत: जो उसका अनुभवकर्त्ता होता है वही सही ज्ञान देता है और जब सही ज्ञान की प्राप्ति होती है तो वह ज्ञान श्रेष्ठ होता है और साधु भी होता है[३]। संयोगवश यदि

---

१ अक्षौत्र वित् क्षौत्रविदम् अप्राट सम्प्रैति क्षौत्र विदानुशिष्ट:
एतद् वै मद्रमनुशासनस्यौत श्रुतिम विन्दत्यञ्जसीनाम
ऋ० वेद १०।३२।७

२ छांदोग्योपनिषद्, ४।९।३

३ कठ - १।२।८

रहस्य विद्या का उपदेश किसी सामान्य व्यक्ति से ले लिया जाए तो वह विद्या फलवती नहीं होती है अथवा सहज ग्राह्य नहीं होती है इसलिए कि सामान्य व्यक्ति इसकी सूक्ष्मता तक पहुंच ही नहीं सकता है। रहस्य विद्या सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, अत: इसका ज्ञान किसी ज्ञानी रहस्यदर्शी के माध्यम से ही करना चाहिए[१]।

उपनिषद-साहित्य में गुरु का महत्व

गुरु के प्रति अगाध निष्ठा और भक्ति-भाव के सम्बन्ध में जो विचार संत साहित्य में मिलते हैं उसे औपनिषदिक साहित्य में भी देखा जा सकता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में गुरु और परमेश्वर के प्रति समान भक्ति का आदेश किया गया है और कहा गया है कि यदि गुरु के प्रति परमेश्वर से भिन्न श्रद्धा होगी तो रहस्यान्वेषी व्यक्ति के अन्त:करण में सत्य का यथार्थप्रकाश नहीं हो पाएगा[२]। पुराणकाल में भी वह परम्परा अक्षुण्ण रही अत: परिणाम स्वरूप उसी प्रकार की आस्था-भक्ति के दर्शन इस काल में भी होते हैं[३]।

बौद्ध-तंत्र साधना में गुरु का महत्व

उपनिषद् काल में गुरु और परमेश्वर को समान श्रद्धास्पद मानने का जो आग्रह मिलता है वही आग्रह बौद्धकाल में भी प्राप्त होता है क्योंकि बौद्ध-साधकों ने स्वयं भगवान् तथागत को ही सर्वोत्तम गुरु स्वीकार किया है[४]। बौद्ध-साधना के साहित्य में गुरु को कल्याण मित्र की संज्ञा दी गयी है क्योंकि उचित मार्ग-दर्शन के द्वारा गुरु सर्वतोभावेन शिष्य के कल्याण का मार्ग प्रशस्त

---

१ न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमान:
अनन्य प्रोक्ते गतिरत्र नास्ति
अणीयान ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्। कठ० १।२।८

२ श्वेताश्वतर ६।२३

३ शिवपुराण (कैलाससंहिता) ६।३।४२ - यो गुरु: स शिव: प्रोक्तो य:
शिव: स गुरु स्मृत:
तस्माद्धि श्री गुरौर्भक्ति मुक्ति मुक्ति प्रदायिनी।

४ संयुक्त निक ३।२।८।

करता है । अंगुत्तर निकाय के अनुसार गुरुगम्भीर, सम्माननीय, वक्ता, सहनशील, रहस्य का ज्ञाता तथा सत्कर्म में नियोजित करने वाला व्यक्ति ही कल्याण मित्र होने की योग्यता रखता है[१]। कल्याणमित्र के रूप में गुरु को समादरित करके बौद्ध-साधना-साहित्य दो सत्यों पर प्रकाश डाल रहा है । प्रथम तो यह कि रहस्य अथवा आध्यात्म का ज्ञान ही सर्वोत्तम कल्याण का मार्ग है और जो इस ज्ञान अथवा मार्ग का उपदेष्टा अथवा प्रदर्शक है वही सच्चा मित्र है । इस प्रकार के भावों की स्पष्ट झलक कालान्तर में प्राप्त सन्त-साहित्य में मुक्तल रूप में होती है[२]।

महायान-साधना जब अपने विकासक्रम में तंत्र साधना तक पहुंची तब भी गुरु का महत्व कम नहीं हुआ अथवा यह कहना अधिक संगतियुक्त होगा कि किंहीं अर्थों में अधिक ही हो गया इसलिए कि 'इस महारागयुक्त सहज-बोधि का समुत्पाद गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान के बिना असम्भव है[३]। 'वरगुरु पाद' और 'गुरुनाथ' आदि आदरपूर्ण विशेषणों से संबोधित किया है[४] तथा सिद्ध सरहपा, डोम्बीपा, भुसुकपा, शबरपा, कामलिपा, दारिकपा, कण्हपा, जालन्धरिपा आदि ने एक स्वर से गुरु के महत्व, शक्ति और अनन्यता पर प्रकर्ष दिया है[५] ।

नाथ पंथ में गुरु का महत्व

सन्तों के पूर्ववर्ती नाथ-साधकों की भी गुरु के प्रति अपार निष्ठा और भक्ति थी इसका स्पष्ट प्रमाण गुरु गोरखनाथ जी की बानियों में मिलता

---

१ पियोगुरु भावनीयो वत्ता च वचनक्खमो
गम्भीरंच कथं कत्ता नो चट्ठाने नियोजये । अंगुत्तर निकाय ७।४।६

२ सतगुरु सवांन को सगा -- कबीर ग्रंथावली १।१

३ सिद्धसाहित्य - डा० भारती, पृ० १६५

४ वही, पृ० १६६

५ सन्त साहित्य के प्रेरणा स्रोत, पं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ११२-११३ ।

है । वे अपने गुरू के प्रति इतने श्रद्धावनत हैं कि उन्हें सर्वदा स्वामी तथा गुरू गुसांई आदि सम्बोधनों से सम्बोधित करते हैं[१]। गुरू, स्वामी, गौस्वामी जैसे शब्दों का एकत्र प्रयोग यह बताता है कि नाथ गौगियों के लिए गुरू का महत्त्व कितना अधिक है और उनकी गुरू के प्रति कितनी श्रद्धा है ।

नाथ-पंथ कठिन साधना का मार्ग है, अतः यह निर्विवाद है कि यह कठिन साधना बिना किसी अनुभवी गुरू के असम्भव और कठिन दोनों है । गोरखनाथ जैसा प्रचण्ड साधक भी जब पिण्ड के गगन में स्थित औंधे कुएं में प्राप्त अमृत का पान करके जरा-मरण जित होना चाहता है तो उस स्थिति में यह निश्चित रूप से अनुभव करता है कि यह असाध्य-साधन मात्र गुरू-कृपा से ही सम्भव है और उन निगुरों के प्रति दुख भी प्रकट करता है जिन्हें सारे साधनों के बावजूद भी आध्यात्म की चरमोपलब्धि नहीं हो पाती है[२] ।

गुरू गोरखनाथ जैसे विशुद्ध साधक अपने गुरू के जिस प्रकार के भावों का प्रदर्शन किया है उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने साधना के द्वारा जिस चरमस्थिति की प्राप्ति की है वह निश्चितरूप से गुरू की कृपा के कारण है, उनका निज का प्रयास मुख्य नहीं है[३] । साधक के लिए गुरू का शारीरिक अथवा मानसिक या आध्यात्मिक सान्निध्य निरन्तर आवश्यक है तभी वह बाधाओं से उबर सकता है और प्रगति के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है, यही कारण है गोरखनाथ सर्वदा गुरू-सान्निध्य में रहता है[४] ।

जो साधक जितनी उच्च भूमिका को प्राप्त किए रहता है, वह उतनी ही अधिकता से गुरू के वैशिष्ट्य को अनुभव करता है । साधक की आध्यात्मिक ऊंचाई जिस सीमा तक बढ़ी होती है वह उसी सीमा तक अहंकार मुक्त

---

१ गोरखबानी, मंझीद्र गोरख बोध, पृ० १८७

२ गगन मंडल में ऊंधा कुवा तहां अमृत का बासा
सगुरा होइ सु भरि भरि पीवै, निगुरा जाइ पियासा । वही, पृ० ६

३ गोरष गुरू मछिन्द्र प्रसाद, गोरखबानी, पृ० ६४
मछिन्द्र प्रसादै जती गोरष बोल्या, वही, पृ० ६०,६३

४ गोरख रहीला मछिन्द्र ठांई, वही, पृ० १४१

भी होता है और अहंकार-मोक्ष का गुरु शरणागति से बड़ा साधन न संतों की दृष्टि में दिखाई देता है[१] और न नाथों की दृष्टि में[२] । गुरु का आध्यात्मिक व्यक्तित्व महान से महानतम होता है अत: उसके निज का शरीर क्या उसकी चरणपादुका की भी नमस्य हो जाती है[३]।

शरीर, सम्पूर्ण रहस्यों का केन्द्र है । इन्द्रियों की सहायता से मन के द्वारा जगत का ग्रहण होता है लेकिन यदि मन का ही रूपान्तरण कर दिया जाए तो सम्पूर्ण व्यवहार दशा का रूपान्तरण सम्भव है । यही कारण है कि गुरुगोरखनाथ ने मन को योगी बनाने अर्थात् मनोमारण का उपदेश दिया है लेकिन यह कठिन साधन गुरु के मार्ग दर्शन के बिना सम्भव नहीं है[४] ।

गुरु गोरखनाथ एक ओर जहां अपने देहधारी गुरुदेव मत्स्येन्द्रनाथ के प्रति गुरुचित आदर और समर्पण के भाव व्यक्त करते हैं वहीं दूसरी ओर यह भी कहते दीख पड़ते हैं कि आत्मतत्व ही सर्वोपरि गुरु है[५] । कहीं कहीं तो परब्रह्म को ही जगत् गुरु के रूप में स्वीकार करते प्रतीत होते हैं[६]। कुल मिलाकर अर्थ यह निकलता है कि गुरु, ब्रह्म और आत्म-तत्व में अभेद है । अध्यात्म का रहस्य-मार्ग इस त्रिपुटी की साधना से हो कर ही जाता है ।

---

१ मोटे बंधन जगत के गुरु भक्ती से काट
फीने बंधन जगत के कटैं नाम परताप

२ मछीन्द्रनाथ पूता - गोरखबानी - ८७
बोल्या गोरखनाथ मछिन्द्र का पूता - ६४
भणत गोरखनाथ मछीन्द्रनाथ दासा - १३०

३ गुरु मछीन्द्रनाथ पादुका नमस्तते - १६३

४ काया कंथा मन जोगोटा, सतगुर मुक लषाया - वही, पद १०

५ गुरुदेव स्वयं देव सरीर भीतरिये - वही, पद ८

६ वही, पृ० १४६।५३

वारकरी पंथ में गुरु का महत्व

महाराष्ट्र का वारकरी पंथ सन्त साहित्य की भूमिका के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है । इस पंथ के संत, यथा नामदेव तथा ज्ञानदेव आदि ने आध्यात्म के क्षेत्र में गुरु की कृपा को आवश्यक और अनिवार्य माना है क्योंकि गुरु की कृपा के बिना परमतत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है । गुरु द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलकर ही कायस्थ-वायु को वशीभूत करके जन्म-मरण से मुक्त हुआ जा सकता है[१] । गुरु परमेश्वर रूप है जिसकी कृपा से ही चक्र-जागरण, ज्योति दर्शन, अनहद श्रवण और परमात्म-मिलन होता है[२] । गुरु ही मात्र शक्तिशाली है जो मायारूपी मत्त गजराज का नाश कर सकता है और सत्यरूपी मौक्तिक की प्राप्ति शिष्य को करा सकता है[३] । संत विनोबा ने ज्ञानदेव चिन्तनिका में गुरुतत्व पर विशद प्रकाश डाला है । लगता है, संत ज्ञानेश्वर ने अपने अन्तिम उद्गार में गुरुतत्व के सम्पूर्ण तथ्य को खोल कर रख दिया है । साधक के लिए सर्वोत्तम सहज-साधन, नामस्मरण है लेकिन वृत्तियों के समाधान के बिना यह शक्य नहीं होता है । जब निरन्तर स्मरण अर्थात् अजपाजप सध जाता है जब चित्त-मल का शोधन होता है और जब चित्त परिशुद्ध हो जाता है तब पूर्णज्ञान हो जाता है परिणाम स्वरूप आवागमन रुक जाता है; देह का दिव्य परिवर्तन हो कर ब्राह्मीभाव का उदय हो जाता है लेकिन यह सब गुरु कृपा द्वारा ही शक्य होता है और नि:सन्देह संत ज्ञानदेव ने इस संदर्भ में बार बार अपने गुरुदेव निवृत्तिनाथ का नाम लिया है और उनके चरणों में अपना सम्पूर्ण समर्पित किया है[४]। कुल मिला कर, यह स्पष्ट लगता है कि गुरु

---

१ पंजाबातील नामदेव-जोशी, पृ० १०८

२ वही, पृ० ८६
(हिंदी को मराठी संतों की देन - आचार्य विनमोहन शर्मा, पृ०११४, ११५ पर उद्धृत)

३ अमृतानुभव (संत साहित्य के प्रेरणास्रोत, पृ० ११० पर उद्धृत

४ ज्ञानदेव चिन्तनिका - विनोबा, दर्शनखण्ड, २१ ।

की सहायता के बिना रहस्यमार्ग पर प्रशस्त होना तो कठिन है ही असम्भव भी है क्योंकि गुरु जहां एक ओर मार्ग दर्शन कराता है वहीं दूसरी ओर शिष्य को उच्चतर भूमिकाओं की ओर ले जाता है[१]। अत: उपर्युक्त विचारों के प्रकाश में यह निष्कर्ष निकलता है कि उच्चतर भूमिकाओं की प्राप्ति की इच्छा रखने वाले सोधी के लिए एक समर्थ गुरु की खोज और उसके प्रति समर्पण की नितान्त आवश्यकता है तभी यह मनुष्य जीवन सही अर्थों में सफल हो सकता है[२] ।

संत-मत में गुरु का महत्व

संत-मत में भी गुरु का महत्व अत्यधिक है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि प्राय: सभी संतों की वाणियों का प्रारम्भ 'गुरुदेव को अंग' से होता है और इस अंग से इनके अटूट-अशेष श्रद्धा का परिचय मिलता है । संत-साधक इन्हें गुरु, गुरुदेव, सतगुरु अथवा पूर्णगुरु आदि नामों से पुकारते हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से यह निश्चित हो गया कि संतों के लिए गुरु का महत्व सर्वाधिक है । अत: इससे जुड़ा हुआ एक दूसरा प्रश्न उठता है, आखिरकार इतना महत्वशाली व्यक्तित्व किस प्रकार के व्यक्ति का हो सकता है तो उसके उत्तर में नानकदेव जी कहते हैं कि सद्गुरु उसी को कहा जा सकता है जिसने सत् पुरुष को जान लिया है । ऐसा ही गुरु शिष्य का उद्धार कर सकता है[३]। ऐसा ही गुरु आवागमन मिटा सकता है और जीवन मुक्त कर सकता है[४] । ऐसे सतगुरु की प्राप्ति और पहचान के लिए शिष्य का व्यक्तित्व भी कबीर, प्रहलाद, नामदेव, नानक और गोरखनाथ आदि की भांति असाधारण होना चाहिए[५] ।

---

१ Path of the Masters - JULIAN Johnson, page 251

२ वही, पृ० २५३ ।

३ सति पुरुख जिनि जानिया सति गुरु तिसका नाउ
तिसके संग सिख उधरै नानक हरि गुन गाउ । गउड़ी म० ५,२८६-१२

४ आवागमन मिटाया सतगुरु पूजी मन की आसा,
जीवनमुक्त किया परमेसुर, कहत मलूकदासा । मलूकदास की बानी, शब्द १,पृ० १

५ वही, शब्द २

संत पलटू साहब ऐसे सद्गुरु को बार बार दण्डवत करते हैं जो सतत जागरूक है, जो अलिप्त है, जो सोहं शब्द का सुमिरन करता है और सुरति को उलट कर अमृतपान करता है, जो शून्य स्थान में पहुंचकर अनहदनाद का श्रवण करता है और अखण्ड तैलधारावत ध्यान के द्वारा उस नाद में लीन रहता है तथा जिसमें शिष्य को भी उपर्युक्त स्थितियों में पहुंचा देने की शक्ति होती है[१]। कुल मिलाकर यदि साफतौर पर कहा जाए तो यही कहा जा सकता है कि सुरत शब्द योग में निष्णात व्यक्ति ही सतगुरु होने की योग्यता रखता है और जो इस साधना में पारंगत होगा वही दूसरे को भी साधना की दीक्षा दे सकता है और उसे भी पारंगत करा सकता है ।

तीन प्रकार के गुरु

संत-साहित्य में तीन प्रकार के गुरुओं का जिक्र आया है जिन्होंने उन्हें दीक्षा दी है । पहले प्रकार के गुरु वे हैं जो निष्णात, पहुंचे हुए साधक हैं । दूसरे प्रकार के गुरु वे हैं जिन्होंने शरीर का तो त्याग कर दिया है लेकिन आवश्यकता पड़ने पर अल्पकाल के लिए पुनः शरीर धारणा कर, शिष्य को दीक्षा दे देते हैं । तीसरा प्रकार उस प्रकार के गुरु का है जिसमें स्वयं परमेश्वर ने दीक्षा दी है । पहले प्रकार के गुरुओं की गणना में रामानन्दादि संतों की गणना आती है । दूसरे प्रकार के गुरु का जिक्र संत गरीबदास ने किया है जिन्हें संत कबीर ने मरणोपरान्त दीक्षा दी थी[२]। तीसरे प्रकार के गुरु की प्राप्ति संत दादू को हुई थी[३]।

गुरुओं के प्रकार जितने भी हों, संतों ने सर्वत्र उनके प्रति अशेष श्रद्धा भाव का प्रदर्शन किया है और इतना ही नहीं कहीं तो उनको ईश्वरतुल्य माना है और कहीं पर उन्हें ईश्वर से श्रेष्ठ माना है ।

---

१ पलटू साहिब की बानी, भाग ३, गुरुदेव, शब्द १

२ गरीब दास की बानी, गुरुदेव के अंग-८

३ दादू दयाल की बानी - गुरुदेव को अंग- ३

गुरु बनाम गोविन्द

संत कबीर कहते हैं कि गुरु तो गोविन्द तुल्य है उन्हें प्रणाम करना चाहिए, उनसे शब्द ग्रहण करके उसका ध्यान करना चाहिए[१] । मनुष्य मात्र के अन्त:करण में परमेश्वर का निवास है जिसका साक्षात्कार नाम साधना से ही सम्भव है लेकिन यह असाध्य-साधना गोविन्द तुल्य गुरु की कृपा से ही सम्भव है[२]।

कहीं-कहीं तो संत-जन गुरु को गोविन्द से भी अधिक महत्व देते दीख पड़ते हैं क्योंकि वह गोविन्द को प्रकट करने वाला है । परमेश्वर के हाथ में मनुष्य जन्म है, मुक्ति नहीं, लेकिन गुरु में ही उसे मुक्त करने की भी शक्ति है अत: वह श्रेष्ठ है । यदि भगवान् एक बार अप्रसन्न होकर शरण न भी दें तो कोई बात नहीं, गुरु के यहां शरण मिल जाती है लेकिन गुरु के रूठने पर परमेश्वर भी शरण नहीं दे सकते हैं इसलिए भी गुरु ही श्रेष्ठ है[३] ।

रूपान्तरण

गोविन्द-कल्प सद्गुरु जब कृपा करते हैं तब शिष्य के व्यक्तित्व का रूपान्तरण कर देते हैं क्योंकि वे पारस-तुल्य हैं । गुरु की कृपा से पंचेन्द्रियां और मन जो लौक-साधन में प्रवृत्त हैं परमार्थसाधन में प्रवृत्त हो जाते हैं[४]। इन्द्रियां परमार्थ-रत तभी होती हैं जब सतोगुण से युक्त होती हैं । सतोगुण जब आ जाता है तब अभय सध जाता है[५] और सतोगुण की सम्प्राप्ति के बाद शनै: शनै: जगत से उपरामता सधने लगती है[६] और साधना के लिए भूमिका प्रस्तुत

---

१ सद्गुरु कबीर की साखी - गुरुदेव को अंग- २,३

२ दादू दयाल की बानी - करनी-३०

३ सद्गुरु कबीर की साखी- ४,६,३८,३६,४०,६२
फरटू सा० की बानी - गुरुदेव, शब्द २
गुलाल सा० बानी - पृ० ११२-१३

४ साखी ग्रंथ- सतगुरु को अंग ३१, गुरुदेव को अंग- १०,४२
दा०द० बानी- गुरुदेव को अंग- १०,४७,१४२
कबीर शब्दावली - भाग १, पृ० १६, शब्द २१

५ वही, सतगुरु को अंग- ८,२६
अभय सत्व संशुद्धि - गीता १६-१

६ वही, ६,१७

हो जाती है ।

भूमिका प्रस्तुत होने पर सद्गुरु उस निर्मल भूमि में नाम का बीज डालता है । नाम साक्षात् सत्य का स्वरूप होता है जिसे शिष्य ग्रहण करता है[१]। नाम-ग्रहण के उपरान्त शिष्य के अहंभाव का समूलनाश हो जाता है । अहंनाश के पश्चात् केवल आत्मत्व शेष रह जाता है और इस अवस्था को प्राप्त करके शिष्य आनन्द मग्न हो जाता है और अन्तः परम तत्व के साथ एकमुक्त हो जाता है[२] ।

रूपान्तरण की यह क्रिया द्विविधि होती है - एक साधना से दूसरी शक्तिपात से । सद्गुरु मात्र स्पर्श के द्वारा शक्तिपात कर देता है और शिष्य का रूपान्तरण हो जाता है उसे दिव्य-दृष्टि अथवा आत्मदृष्टि की प्राप्ति हो जाती है[३] । जब आत्मदृष्टि की प्राप्ति हो जाती है तब आगे का मार्ग स्वयं प्रशस्त हो जाता है[४] ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शक्तिपात तो तत्काल रूपान्तरण का मार्ग है लेकिन नाम-दीक्षा क्रमशः रूपान्तरण का मार्ग है । नाम-दीक्षा ग्रहण करके, साधक नामस्मरण करना प्रारम्भ कर देता है[५] फिर क्रमशः सुरति स्थिर होती है और इस स्थिति को परम-जाप की स्थिति कहते हैं[६]। स्थिरता के पश्चात् सुरति-निरति से संयुक्त हो जाती है और जीव मुक्त हो जाता है[७] ।

गुरु के द्वारा क्रमशः रूपान्तरण कैसे होता है इसका संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट वर्णन संत दादू ने प्रस्तुत किया है । उनका कहना है कि सतगुरु पहले मन

---

१ साखीग्रंथ - सतगुरु को अंग- ११,२०

२ वही, १३,१४,२१

३ दादू दयाल की बानी - गुरुदेव को अंग- ३-५

४ वही, ६

५ दादू सिख स्रवनहुं सुण्या, सुमिरण लागा सूर - दादू बानी, ३।२६

६ वही, पृ० ७।६६

७ कबीर साखी संग्रह - सतगुरु को अंग-२७
नानक नानक बोध - गुरु - शब्दी, ५

को फकीर करते हैं - ज्ञान देकर । फिर मन में निश्चलता आ जाती है और वह अकलपुरुष के ध्यान में लग जाता है फिर ध्यान में क्रमश: निरन्तरता आने लगती है और अन्त में गुरु-कृपा से वह स्थिर हो जाता है[१] । इस सारी प्रक्रिया को अधिक स्पष्ट करने के लिए दादू ने रूपक का सहारा लिया है । वे कहते हैं कि 'गुरु का शब्द कोड़ा है, मन घोड़ा है, 'लौ' की लगाम है और चैतन्य चढ़ने वाला है'[२]। सब मिलाकर कहने का तात्पर्य है कि नाम, नामस्मरण में एकतानता, ध्यान और इसके उपरान्त अन्तिम स्थिति तक पहुंचाने की इस कठिन असाध्य क्रिया को गुरु सहज बनाकर दे देता है और उसकी कृपा से सब कुछ सहज रूप से सध जाता है ।

गुरु का सूक्ष्म स्वरूप

अंतिम स्थिति तक पहुंचा देने का कार्य सत्गुरु का ही है लेकिन इस गुरु का मूल स्वरूप सूक्ष्म है, जैसा कि स्वामी जी महाराज कहते हैं कि, 'संत सतगुरु ने जो नर स्वरूप धारण किया है वह दिखाने के वास्ते है । पर असली स्वरूप उनका मालिक के स्वरूप से मिला हुआ है । किस वास्ते कि वह हर वक्त सच्चे मालिक यानी सत्पुरुष के आनन्द में मगन रहते हैं और सच्चे खोजी को जब तक कि अपने अन्तर में निजस्वरूप के दर्शन प्राप्त न हो जावे तब तक मुर्शिद यानी सत्गुरु के ही स्वरूप को मालिक का स्वरूप समझे और उनके चरणों में प्रीति और प्रतीति बढ़ाता जावे और जब उसको अन्तर में निज दर्शन प्राप्त हुआ, फिर वह सच्चे मालिक यानी पूरे सतगुरु के चरणों में मिल गया और सतगुरु का स्वरूप हो गया और उसी का काम पूरा हुआ'[३]। इस प्रकार स्वामी जी महाराज ने सत्गुरु के बाह्य शरीर से अधिक उनके आन्तर-शरीर को महत्व दिया है और उसे ही गुरु का वास्तविक स्वरूप माना है ।

---

१ दादू दयाल की बानी - गुरुदेव का अंग - ७१-७३

२ वही, १७६

३ सार बचन वार्तिक, भाग १, वार्ता ५४ ।

संत गरीबदास जी ने तो सतगुरु के सूक्ष्म स्वरूप का अत्यन्त विशद् रहस्यपूर्ण प्रतीकात्मक वर्णन प्रस्तुत किया है । उनका कथन है कि वस्तुत: सत्-गुरु अलखपच्छ पक्षी की जाति का है । जैसे अलखपच्छ पक्षी आकाश में ही रहता है वैसे ही वह निरन्तर आकाश में रहता है । यहां पर गुरु के आकाशीय रूप का एक अर्थ तो यह हो सकता है कि वह भौतिकता से ऊपर है और दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि मूलाधार से लेकर विशुद्ध तक के चक्र भौतिक हैं इसके ऊपर ही अभौतिक चक्र हैं, वहां गुरु के सूक्ष्म शरीर का प्राकट्य होता है । ऐसे गुरु को गरीब दास ने कायामाया और पिंड से रहित बताया है[१] ।

आगे कहते हैं कि उसका स्वरूप उज्ज्वल है और वह ज्ञान की कमान मारता है । यह तो निश्चित ही है कि गुरु ज्ञान देता है लेकिन उज्ज्वल का अर्थ भी यही हो सकता है कि वह ज्ञान स्वरूप है[२]।

सतगुरु शून्य है, विदेशी है । उसके रोम रोम से प्रकाश निकल रहा है और उसके शरीर में अजपाजाप हो रहा है । यहां शून्य से सूक्ष्म का अर्थ हो सकता है । प्रकाश, ज्ञान का अथवा निर्मल ज्ञान का प्रतीक है अथवा ऐसा भी मानते हैं कि अभौतिक उच्चस्तरीय जीवों का शरीर प्रकाश का होता है । गुरु का मूल शरीर ज्ञान का है प्रकाश स्वरूप है जो निरन्तर अजपाजप में लीन है[३] ।

इस प्रकार के गुरु का निवास सुरत में होता है जो अपने 'अजीब बैन' को सुनाकर हृदय को प्रकाशित कर देता है । पिण्डस्थ सूक्ष्म-मार्ग को दिखाता है । ऐसे गुरु का शरीर शब्द का है[४]।

ऐसे सतगुरु का निवासस्थान, संत गरीबदास तुरीया के तीर पर मानते हैं जो विधायुक्त है तथा नीर-क्षीर विवेकी है[५] ।

---

१ गरीबदास जी की बानी - गुरुदेव के अंग - २
२ वही, ३
३ वही, ४
४ वही, ७,६
५ वही, १६ ।

संत कबीर ने भी आत्मदृष्टि को ही मूलत: सत्गुरु माना है क्योंकि आत्मदृष्टि के द्वारा ही साधना का मार्ग प्रशस्त होता है[१]। गुरु का भी कार्य मार्ग-दर्शन है और आत्मदृष्टि से भी मार्ग का दर्शन होता है अत: मूल गुरु आत्मदृष्टि है ।

पूर्ण-गुरु

एक अन्य स्थान पर कबीर साहब ने लिखा है कि पूर्ण-सत्गुरु सेवा के द्वारा प्रसन्न होकर अन्त:करण में प्रकट हो जाता है और त्रिविध-तापों की शांति कर देता है[२]। अब इस दोहे से यह प्रकट होता है कि वह देह रूप में है और विदेह रूप में भी है । यदि सेवा का अर्थ साधना लें तो वह मूलरूप में विदेह ही ठहरता है।

जो भी हो यह निश्चित हो गया कि गूढ़ साधना के निमित्त गुरु की अनिवार्यता से अस्वीकार नहीं किया जा सकता है, चाहे वह शरीरधारी गुरु हों अथवा अशरीरी- बात इतनी ही है कि वह सत्गुरु होना चाहिए, तो यह निश्चित है कि वह शिष्य को पार उतार देगा । उसे पशु से मनुष्य कर देगा, मनुष्य से सिद्ध कर देगा, सिद्ध से देवता कर देगा और देवता से निरंजन कर देगा । उसे आवागमन-मुक्त कर देगा, दिव्य दृष्टि देकर ब्रह्म स्वरूप कर देगा[३] ।

सत्नाम

संतसाधना के मूलधार 'त्रिसत्यों' में अन्तिम सत्य 'सत्नाम' है । संत साधकों के लिए नाम का अत्यधिक महत्व भी है क्योंकि इनकी साधना का मेरुदंड नाम ही है और नाम-साधना को संत सर्वोपरि साधना मानते हैं क्योंकि इसके

---

१ सासी ग्रन्थ - सत्गुरु को अंग - ४१

२ वही, ५२

३ दादू दयाल की बानी - गुरुदेव को अंग- ११,१२,१३ ।

द्वारा जीव का ब्रह्म से मिलन सम्भव है[१]। इसके अतिरिक्त यह साधना प्रभावी और सहज भी है[२]।

संतों की मान्यता है कि शब्द अनादि है लेकिन रचना के पूर्व वह अशब्द, अनाम, अलख और अकथ्य था। सृष्टि-रचना के पश्चात् वह प्रकट हुआ और नाम अथवा शब्द कहलाया[३]।

शब्द अनाम सृष्टि

संत, सृष्टि की संरचना शब्द के द्वारा मानते हैं, और विश्व के अन्यान्य धर्मों का भी यही विश्वास है[४]। संतों का कथन है कि इस रचना का निर्माण शब्द के द्वारा हुआ और अन्तकाल में यह सृष्टि पुनः शब्द में ही लीन हो जाएगी। इसका तात्पर्य यह कि यह चराचर जगत शब्दमय है, शब्द स्वरूप है और इसका कर्ता अथवा कारण ब्रह्म भी शब्द से अभिन्न है[५]।

संत दादू ने इस रहस्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि परमेश्वर ने जगत् की रचना के लिए शब्द का ही सहारा लिया। जब पंचतत्व अस्तित्व में आए उसके पूर्व भी शब्द था और बाद में शब्द पंचतत्वमय हो गया। रचना करने के पूर्व रचनाकार ने 'ओंकार' की उत्पत्ति की और 'ओंकार' से पंचतत्वों की उत्पत्ति की और पंचतत्वों से नानारूपात्मक जगत का निर्माण किया। वस्तुतः 'ओंकार' उस निरंजन-निराकार का साकार स्वरूप है[६]।

---

१ मीसा साहब की बानी - गुरु और नाम महिमा, शब्द २

२ पानप बोध, पृ० ५८, सवैया

३ शब्द गुप्त तब रहा अनाम, शब्द प्रगट तब धरिआ नाम - सार बचन

४ गुरु मत सिद्धान्त, भाग १, खण्ड २, पृ० ६२-६६

५ गुरुवाणी - माझ म० ३, ११७-८, वसंत म० १, ११६०-१०,
तथा आसाम म० ४, ४४८-११

६ दादू दयाल की बानी, सबद को अंग - १५, ८-११।

शब्द का मूल रूप

संत कबीर का कथन है कि शब्द का मूल स्वरूप अशब्द है । शरीर के भीतर वह स्वत: ध्वनित हो रहा है । बिना किसी माध्यम के स्वयं ध्वनित होने वाले शब्द को सार शब्द कहते हैं । इस सार शब्द को जानने के लिए प्रकट शब्द का सहारा लेकर साधक को अपने को शब्द-मय करना पड़ता है तब सार शब्द प्रकट होता है और जब यह प्रकट हो जाता है तो सब कुछ शब्द-मय हो जाता है[१]।

शब्द : सगुण-निर्गुण

संत दादू प्रकट शब्द को सगुण-शब्द कहते हैं और अप्रकट को निर्गुण-शब्द कहते हैं और आगे बताते हैं कि सगुण-शब्द से साधना प्रारम्भ होती और उसके निरन्तर अभ्यास से निर्गुण-शब्द प्रकट हो जाता है । अत: इस निर्गुण शब्द को ही मूल-शब्द मानना चाहिए क्योंकि इसके ही साधना से आत्म-साक्षात्कार होता है[२]। स्वामी जी महाराज ने इसे ही दूसरे शब्दों में वर्णनात्मक और ध्वन्यात्मक शब्द अथवा नाम कहा है । जो शब्द लिखने-पढ़ने-बोलने और दैनिक प्रयोग में आता है वह वर्णनात्मक है लेकिन जो शब्द सूक्ष्म और अप्रकट है जिसे सुरत-साधन के द्वारा प्राप्त अथवा प्रकट किया जाता है वह ध्वन्यात्मक है यानी उसमें मात्र ध्वनि है और वह भी अंत:करण में अप्रकटरूप से व्याप्त है[३]। संत गुलाल साहब इस सूक्ष्म शब्द को 'सत्तशब्द' कहते हैं और बताते हैं कि इसकी साधना से ही शून्य में अनहद का प्राकट्य होता है और उस नाद का लक्ष्य ग्रहण करके साधक साधना की सर्वोच्च स्थिति की प्राप्ति करता है[४]।

---

१ साखी ग्रन्थ - शब्द को अंग - १,२,१०

२ दा०द० बा० - सबद को अंग- ३३ । सार बचन, वार्तिक, भाग २।१०७

३ सार बचन, छंद बंद, निर्णय शब्द अथवा नामका- १-१०
दरिया साहब (मारवाड़), नाद परचे का अंग- १,२

४ गुलाल सा० की बानी - करमभरम- शब्द, ११
दूलनदास जी की बानी - नाम महिमा- १४

संत दूलनदास जी कहते हैं कि उन्होंने अन्त:करण की इस ध्वनि को सुना है । यह ध्वनि बाहरी ध्वनि से अत्यधिक मधुर है यानी दोनों की कोई तुलना नहीं है । यह ध्वनि शरीर के उच्चारकेन्द्र अर्थात् 'अधर' में होती है । इसे वही प्राप्त कर सकता है जो संसार से आसक्ति रहित होकर अन्त:करण में भक्तिपूर्वक चित्त को स्थिर कर देता है ।

प्राकट्य की विधि

अब समस्या यह है कि यदि हमारे भीतर इस प्रकार का कोई सूक्ष्म शब्द है तो वह सबको क्यों नहीं सुनाई देता है? इसके उत्तर में गुरुवाणी का कथन है कि सामान्य जीवों को यह शब्द इसलिए नहीं सुनाई देता है कि उनका अन्त:करण सांसारिक वासना और अहंकार से मलिन है । जब अन्त:करण वासना-रहित होकर परिशुद्ध हो जाता है तो इस शब्द अथवा नाम का श्रवण सम्भव हो पाता है[१] ।

संसार में व्यवहार आने वाले शब्द को भी शब्द कहते हैं और साधना में भी व्यवहार आने वाले शब्द को शब्द कहते हैं लेकिन दोनों में अन्तर है । संत लोग जिस शब्द की चर्चा करते हैं उससे उनका तात्पर्य उस शब्द से होता है जिन्हें वे गुरु के द्वारा प्राप्त करते हैं । गुरु से प्राप्त होने वाला यह शब्द, सभी शब्दों का सिरमौर होता है । इस सिरमौर शब्द को प्राप्त करने के लिए मन को जगत से निकालना पड़ता है और फिर मन को शब्द से जोड़ना पड़ता है । लेकिन यहां स्पष्ट हो जाना चाहिए कि संत जब शब्द को मन से जोड़ने की बात करते हैं तब उनका तात्पर्य होता है मन को अन्त:करण अथवा 'सुरत' से जोड़ने से । सुरत और शब्द को जोड़ने की क्रिया सहज क्रिया है और इस क्रिया के द्वारा सर्वोच्च दशा की प्राप्ति हो जाती है[२]। इस शब्द को 'साधुशब्द' भी कहते हैं। और इस शब्द में मन को स्थिर करने की शक्ति होती है[३]।

---

१ गुरुवाणी - सारंग वार म० ४, १२४७-१४

२ सासी ग्रन्थ - शब्द का अंग- २६, ३, ८, ११

३ दा० द० बानी - सबद को अंग- १७ ।

अन्तर्ज्योति निरन्तर वाणी

साधक अन्त:करण में इस वाणी का साक्षात्कार करते हैं। गुरुवाणी में इसे 'निरन्तर वाणी' कहा गया है और कहा गया है कि इसका स्वरूप ज्योतिमय है अत: दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि यह वाणी अन्त:करण को प्रकाशित करने वाली है। यही कारण है कि इसे 'अन्तरज्योति' भी कहा गया है[१]। अन्तरज्योति के प्रकट होते ही कर्मफल और अज्ञान का नाश हो जाता है[२]। लेकिन इस ज्योति को प्रकट होने में सबसे बड़ा बाधक अहंकार होता है। कहने का तात्पर्य, अहंकार अन्त:करण का सबसे बड़ा और सूक्ष्म अंधकार है। अहंकार नाश होने पर नाम अन्त:करण में ठहरता है और जब ठहर जाता है तब अन्त:करण प्रकाशित हो जाता है। जब अंत:करण प्रकाशित हो जाता है तब परमपद की प्राप्ति हो जाती है[३]।

नाम-साधना : अपरा-साधना

जप, तप तथा ध्यानादि पर साधनायें हैं इन्हें लौकिक साधना कह सकते हैं क्योंकि इनसे लौकिक फलों की प्राप्ति होती है। मुक्त होने के लिए तो अपरा साधना की आवश्यकता होती है और मुक्त करने के लिए सही अर्थों में कोई साधना है तो वह शब्द साधना ही है लेकिन इस परमसाधना की जानकारी सबको नहीं होती है केवल पहुंचे हुए लोगों को ही होती है[४]।

स्थूल, सूक्ष्म और सहज-शब्द

संत दादू ने नाम अथवा शब्द की तीन स्थितियां मानी हैं - स्थूल, सूक्ष्म और सहज। स्थूल-शब्द तो वह है जिसे बैखरी वाणी कहते हैं जिसको

---

१ 'अन्तरज्योति निरन्तरवाणी' - सोरठी म० १, ६३४-१२
माझ म० ३, १२४-१३
सारंग वार म० ४, १२५०-४

२ साखीग्रन्थ - शब्द को अंग - ४५
दादू द० वा० - शब्द को अंग - २२

३ सुखन दास की बानी - नाम महिमा - १०

४ साखी ग्रन्थ - शब्द को अंग- ५१।

किसी स्थूल माध्यम से उत्पन्न करना पड़ता है । सूक्ष्म शब्द वह है जिसका प्रयोग व्यवहारदशा में नहीं है लेकिन जिसकी अनुभूति अन्तःकरण में होती है और सहज शब्द वह है जो सहज है यानी हमारी चेतना का अंग है । शब्द साधना में शब्द क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म होते हुए सहज दशा को प्राप्त होता है । शब्द की जब सहजावस्था आती है तब उससे निर्गुण की प्राप्ति होती है और निर्गुण की प्राप्ति ही निर्मल ज्ञान की प्राप्ति है[१] ।

सर्वसुलभ साधना

शब्द और नाम साधना की सबसे बड़ी विशेषता अथवा खूबी यह है कि यह परम सहज-साध्य है । इसके लिए न तो कृच्छ्र- साधना की आवश्यकता है और न सन्यास ग्रहण की । गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए, सांसारिक कार्यों का संपादन करते हुए भी यह साधना सम्भव है । हमारे पास एक तो शरीर है, दूसरा है - मन । विचार पूर्वक शरीर से लौकिक कार्य होते रहें और हृदय से नामस्मरण होता रहे तो निश्चित है, माया से मुक्त होकर सारतत्व की प्राप्ति हो जायगी और साधक मुक्ति-लाभ कर लेगा[२]। पानप दास भी कहते हैं नाम में ही मुक्त करने की शक्ति है और जिन्हें भी मुक्ति मिली है 'नाम' से ही मिली है[३] ।

---

१ दा० द० बानी - सबद को अंग - ४

२ वही, १६

३ पानप बोध- पृ० ५७, दोहा १ ।

द्वितीय अध्याय

पृष्ठभूमि

आत्मप्रत्यक्ष अथवा आत्मानुभूति की साधन-विधि रहस्यवाद है, इसकी अभिज्ञता पिछले अध्याय के द्वारा हो चुकी है । अतः संतसाहित्य में रहस्यतत्वों को देखने के पूर्व उस भारतीय साहित्य को देख लेना समीचीन होगा जहां से इस भावधारा का उद्गम हुआ है और परम्परारूप में बढ़ते बढ़ते जहां से यह विचारधारा और साधनविधि मध्यकालीन संतों तक पहुंची है ।

भारतीय मनीषा का प्राचीनतम ज्ञान-भण्डार वेद के रूप में हमें प्राप्त है । भारतीय ऋषि-मुनियों ने सहस्त्र वर्षों तक गुरु-शिष्य परम्परा-रूप में इस ज्ञान की रक्षा की और एक समय आया जब इसे लिपिबद्ध होने का सुअवसर मिला और सुरक्षित हो पाया । निश्चितरूप में, आज भी यह नहीं कह सकते हैं कि जो कुछ शेष है, वह सम्पूर्ण है किन्तु इतना निश्चित है कि एक हजार एक सौ शाखाओं में से मात्र बारह शाखायें हमें प्राप्त हैं[१] ।

आस्तिक दर्शनों के अनुसार वेद अपौरुषेय हैं जिनका ऋषियों ने अपनी तपस्या के द्वारा साक्षात्कार किया[२]। इन वेदों में ऋषियों ने अपनी परावौद्धिक-रहस्यात्मक अनुभूतियों को लिखितरूप में सुरक्षित किया है ।

---

१ मध्यकाव्य में रहस्यवाद - डा० रामनारायण पाण्डेय, पृ० २०

२ निरुक्त - १।६।५

सम्पूर्ण वेद-साहित्य विशाल है । उस विशाल साहित्य में स्पष्टरूप में साधना से सम्बद्ध तीन मार्ग परिलक्षित होते हैं । एक तो उनका स्तुतिपरक ऋचाओं का साहित्य है । दूसरा कर्मकाण्ड प्रधान यज्ञ-साहित्य है और तीसरा उच्चतर चिन्तन से सम्बद्ध ज्ञानपरक साहित्य है ।

वैदिक साहित्य के प्रारम्भिक काल में देवी-शक्तियों की पृथक्-पृथक् आराधना होती रही, जिसे हम उनका बहुदेवत्ववाद भी कह सकते हैं लेकिन उन्हें इस प्रकार की साधना से विशेष परितोष नहीं प्राप्त हुआ[१] । उनका चिन्तन निरन्तर चलता रहा जिसका प्रतिफलन 'पुरुषसूक्त' तथा 'अदितिसूक्त' है । 'पुरुषसूक्त' के अनुसार, जो कुछ था, जो कुछ है तथा जो कुछ होने वाला है वह उस पुरुष द्वारा सृष्ट है - ऐसा कहा गया है[२]। 'अदितिसूक्त' में कहा गया है कि, आकाश, अंतरिक्ष, माता-पिता और पुत्र, समस्त देवता तथा पंचजन जो कुछ भी हैं तथा होने वाले हैं - अदिति ही हैं[३]। इस प्रकार वैदिकऋषियों का बहुदेवत्व, एकदेवत्व बन गया । उन्हें यह सत्य प्राप्त हो गया कि वस्तुतः नानात्व सत्य नहीं है सत्य है - एकत्व । जो कुछ भी है, वह उस एक सत्य का प्रसार है चाहे,उसका वर्णन भिन्न भिन्न नामों से क्यों न किया जाए[४]।

इन सूक्तों के अतिरिक्त 'हिरण्यगर्भ' तथा 'नासदीयादि' प्रसिद्ध सूक्त हैं जिनमें सृष्टि, स्रष्टा, प्रकृति तथा सत् आदि के सम्बन्ध में ऋषियों के विचार हैं ।

'हिरण्यगर्भ' सूक्त में सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति मानी गयी है । उन्हें ही समस्त प्राणियों का अधिपति स्वीकार किया गया है । ये ही

---

१ भक्तिकाव्य में रहस्यवाद - डा० रामनारायण पाण्डेय, पृ० २२

२ पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् । ऋ० १०।९०।२

३ ऋ०, १।८९।१०

४ एकं सद्विप्रा बहुधावदन्ति - ऋ० १।१६४।४६

पृथ्वी, अंतरिक्ष और आकाश को धारण करने वाले हैं[१]।

'नासदीय सूक्त' में जिज्ञासा का भाव परिलक्षित होता है, जिसमें कहा गया है कि आदि में कुछ भी नहीं था - केवल वह था और उससे परे कुछ भी नहीं था[२]।

आगे कहा गया है - सृष्टि के प्रारम्भ में चारों ओर घोर अंधकार व्याप्त था - जल व्याप्त था। सर्वत्रव्यापी ब्रह्म असत्य-माया से आच्छादित था। अन्त में तप से ब्रह्म का प्राकट्य हुआ। उसके मन से एक बीज निकला, वह काम था और उसी काम से सृष्टि उत्पन्न हुई[३]।

प्रारम्भ में सर्वत्र प्रकाश की किरणें व्याप्त थीं। सत् का प्रसार किससे कहां से आया। स्वयं देव भी विसर्ग के पश्चात् आए? जो कुछ हुआ उसे कौन जान सकता है[४]।

इस सूक्त में जिज्ञासातत्व तथा शंकातत्व का समवेत समावेश है।

अब तक अनेक में एक का दर्शन ऋषि का अभिप्रेत था लेकिन 'पुरुष-सूक्त' में वह एक ही सर्वत्र व्याप्त है - ऐसा उसका साक्षात्कार है - वह पुरुष सहस्र सिर, सहस्र आंख, सहस्र पैरों से सम्पूर्ण पृथ्वी को परिव्याप्त करने के बाद भी दश अंगुल अधिक है[५]। इस मंत्र में सहस्र से तात्पर्य अनन्त से है और अनन्त से भी दश अंगुल अधिक का अर्थ है - अनन्त से भी अधिक - यानी अनिवर्चनीय। एक तो अनन्त का ही वर्णन कठिन क्या, असम्भव है फिर अनन्त से अधिक का कहना

---

१ ऋ०, १०।१२१।१

२ वही, १०।१२९।१,२

३ वही, ४

४ वही, ५,६

५ ऋ० १०।९०।१

ही क्या, एक तो अनन्त ही अपरिमेय है फिर अनन्त का कहना ही क्या ? यदि उपर्युक्त दोनों बातों को मिलाकर कहें तो कहा जायगा - वह तत्व अपरिमेय और अनिवर्चनीय है । रहस्यतत्व का यह एक सुन्दर और साहित्यिक वर्णन है । ऋग्वेद में एक अन्य रहस्यात्मक वर्णन इस जाति का है जो अत्यन्त मनोरम है, जिसमें कहा गया है - मनुष्य की वाणी में उसी के बोल हैं, पक्षियों के कलरव में उसकी ही चहक है, पुष्पों में उसका ही हास है, प्रचण्ड गर्जन के रूप में उसका ही आक्रोश व्यक्त होता है, नभमण्डल के सस्मित तारावलि को वही सुस्थिर किए हुए है[१]। उपर्युक्त वर्णन विश्व के किसी उत्तम रहस्यपूर्ण वर्णन की कोटि में रखा जा सकता है ।

उपनिषद्-साहित्य में रहस्यवाद का स्वरूप

इसमें सन्देह नहीं कि वेदों में रहस्य के तत्व उपलब्ध हैं लेकिन मध्यकालीन-संत-साहित्य में व्यक्त रहस्यभावना का मूल उद्गम उपनिषद्-साहित्य ही है । उपनिषद्-काल के पूर्व तक का तत्व-चिन्तन विशुद्ध दार्शनिक रूप में प्राप्त नहीं होता । वह एक ओर सर्वात्मवाद के रूप में दिखाई पड़ता है तो दूसरी ओर यज्ञीय रहस्यवाद के रूप में प्रकट होता है । एक धारावाहिक चिन्तन-प्रक्रिया के अन्तर्गत तत्व-चिन्तन की रहस्यवादी भूमिका का अभाव प्रतीत होता है । उपनिषद् के साथ ही भारतीय तत्व-चिन्तन में सैद्धान्तिक गरिमा आती है और विभिन्न धाराओं और मान्यताओं के साथ आगे षड्दर्शन के रूप में उनका विकास होता है । मध्यकालीन संतों में तत्वचिन्तन और अध्यात्म-दर्शन के जो सूत्रपात होते हैं, वे प्रत्यक्षतः उपनिषद् और परवर्ती दार्शनिक परम्पराओं से सम्बन्धित हैं । उनमें अद्वैतवाद तथा ब्रह्मवाद के जो तत्व एकेश्वरवादी परम्परा में दिखाई पड़ते हैं वे वस्तुतः उसी विकास परम्परा के अंग हैं

---

१ ऋ० १०।१२१

इसलिए मध्यकालीन संतों की भावनाएं तथा रहस्यवादी प्रवृत्तियां उपनिषदों के तारतम्य में ही समझनी चाहिए । डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी का कथन है - "जिन पश्चाद्वर्ती धार्मिक शाखाओं अथवा सम्प्रदायों ने अद्वैतवाद के सिद्धान्त को दार्शनिक आधारशिला बनाया उन्होंने मूल प्रेरणाएं उपनिषदों से लीं । अद्वैत ही नहीं, संतमत की प्राय: सभी मान्यताएं उपनिषद्-युग में मूर्तरूप धारण कर चुकी थीं"[१]। उपनिषदों में ब्रह्म अथवा आत्मा नाम से प्रतिपादित तत्व अद्वैत ही है जिसका दर्शन अनेक रूपों में प्राप्त होता है[२]।

उपनिषद्-साहित्य का मूल प्रतिपाद्य ब्रह्म अथवा आत्म-साक्षात्कार है जिसका प्रतिपादन संतों-ऋषियों का कार्य है[३]। इस ज्ञान की प्राप्ति का अधिकार भी सबको नहीं है - केवल वे जिनका चित्त प्रशान्त है अथवा परम्परा से जिन्हें अधिकार प्राप्त है, वे ही इसको पाने का अधिकार रखते हैं । परम्परागत अधिकारी योग्य शिष्य और योग्य पुत्र ही है क्योंकि उनके संस्कार अनुकूल होते हैं । दूसरी ओर योग्य गुरु और पिता का भी कर्तव्य है कि अपने शिष्य अथवा पुत्र को योग्य बनाए[४]। बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य में भी ऐसा ही कहा गया है[५]। दीक्षा का भी अधिकार सद्गुरु को है जिनसे दीक्षापाकर श्रद्धावान शिष्य के हृदय में ब्रह्मज्ञान का प्रकाश होता है[६] ।

उपनिषदों की भाषा भी साकेतिक है क्योंकि देवता और ऋषि दोनों परोक्ष प्रिय है[७]। इस प्रकार की गूढ़ और साकेतिक भाषा-प्रयोग का एक अन्य कारण यह भी है कि उसे केवल उसके अधिकारी ही समझ सकें,

---

१ संतमत का सरभंग सम्प्रदाय - डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, पृ० ३
२ बृहदारण्यक - १०।१०।१२१
छान्दोग्य - ६।२।१
ऐतरेय - २।१।१
३ अस्ति ब्रह्मेति चैदेद । संतमेनं ततो विदुरिति - तैत्तिरीयोपनिषद् - ३१७
४ श्वेताश्वतरोपनिषद् - ४२८।२२
५ बृहद् -
६ श्वेताश्वर - ४२८।२३
७ परोक्ष प्रिया इवहि दे देवा: - ऐतरेयोपनिषद् - २६२।१४

इतरजन नहीं जिससे इसकी पवित्रता अक्षुण्ण रह सके[१]।

उपनिषद् : रहस्य साहित्य

इस प्रकार विषय की गोपनीयता तथा भाषा की सांकेतिकता तथा गूढ़ता को देखने से यह निश्चित हो जाता है कि उपनिषद-साहित्य, रहस्य का साहित्य है। इस रहस्य-साहित्य का मूल विषय ब्रह्म-जिज्ञासा तथा ब्रह्म प्राप्ति की साधना है।

ब्रह्म सम्बन्धी विचार

सभी उपनिषदों ने ब्रह्म चर्चा की है। ईशोपनिषद् का प्रारम्भ ही ब्रह्म-चर्चा से होता है जहां ब्रह्म को ही सर्वथा-पूर्ण कहा गया है[२] तथा यह संपूर्ण जगत् उससे परिव्याप्त माना गया है[३]।

मुख्यरूप

उस सत्य स्वरूप[४], विज्ञान स्वरूप और आनन्द स्वरूप[५] के अनन्त रूप हैं लेकिन मुख्यरूप से वह सविशेष-निर्विशेष अथवा सगुण-साकार या निर्गुण-निराकार रूप में ही जाना जाता है।

निर्गुण

श्वेताश्वतरोपनिषद् उसे निश्चित रूप से निर्गुण ही मानती है जो सारे प्राणियों के हृदय में गूढ़ रूप से अवस्थित होकर चेतना प्रदान करता है,

---

१ उपनिषदों का अध्ययन : विनोबा, पृ० ६

२ ईश - १।१

३ वही, २६।१

४ तैत्तिरीय, ३०५।१

५ बृहद्, ३।६।२८

जो मात्र साक्षी रूप में अवस्थित रहता है[१]। वृहदारण्यक उसे अस्थूल, अनाणु, अह्रस्व, अदीर्घ कहती है[२] तो कठ उसे अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस, अगन्ध, अव्यय, अनादि और अनन्त कहती है[३]। कुल मिलाकर कहने का तात्पर्य यही है कि उपनिषदों को ब्रह्म का निर्गुण स्वरूप ही मुख्य रूप से मान्य है ।

परम तत्व

ब्रह्म ही परमतत्व है क्योंकि वह सबसे श्रेष्ठ है । शरीराश्रित इंद्रियों की सत्ता भौतिक धरातल पर है । इन्द्रियों से परे मन की सत्ता मानसिक धरातल पर है और बुद्धि इससे भी उच्च भूमिका पर आसीन है । आत्मा तो इन सबसे परे और सर्वोच्च भूमिका पर स्थित है लेकिन आत्मा से भी ऊंची स्थिति जीवात्मा की है और जीवात्मा से परे वह अव्यक्त तत्व ब्रह्म है[४]। अत: यह स्पष्ट है कि उसकी सत्ता सर्वोपरि है । यही कारण है कि यह परमसत्ता भौतिक साधनों की पकड़ की सीमा में नहीं है । उसे भौतिक अस्तित्व से ऊपर होकर ही देखा जा सकता है[५]।

अन्यान्य अभिधायें

अब प्रश्न उठता है, यदि वह सत्ता निर्गुण निराकार ही है तो उसका निर्वचन बार बार उपनिषदों में क्यों मिलता है अथवा जो मिलता है वह उसका सही स्वरूप है क्या ? जब वह महान् तत्व दिव्य और अचिन्त्य है[६] तो उसका

---

१ श्वेताश्वर - ४२०।६।२

२ वृहद् - ४।४।२२

३ कठ - ६५।१८

४ वही, १३५।७

५ वही, १३६।६

६ वृहच्च तद् दिव्यमचिन्त्यरूपम् मुण्डक १।२

चिन्तन किस प्रकार सम्भव है और यदि चिन्तन सम्भव नहीं है तो चित्रण कैसे सम्भव है ? किन्तु यह भी सत्य है कि रहस्यदर्शी ऋषियों और द्रष्टाओं ने उस अचिन्त्य-अव्यक्त तत्व को चिन्तन में भी उतारा है और अभिव्यक्त भी किया है । उसे अनेक संज्ञाओं यथा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, निर्विकल्प, निरंजन, अनाम, अनादि, तुरीय परब्रह्म कहा है[१]। शाडिल्योपनिषद् में ब्रह्म का निर्वचन सांकेतिक भाषा में सत्य, ज्ञान और अनन्त कह कर किया गया है[२]। तथा उसे अद्वितीय, आकाशवत् सर्वव्यापी, अत्यन्त सूक्ष्म, निरंजन, साक्षी, सत्यस्वरूप, चैतन्य, आनन्दस्वरूप, एक रस मंगलमय, प्रशान्त और अमृत कहा गया है[३]। ये सारे प्रयत्न उस एक तत्व को स्वरूप देने की दिशा में प्रयास स्वरूप ही हैं परन्तु उसे स्वरूप अथवा परिभाषा की सीमा में बांधना कठिन ही नहीं असम्भव कार्य लगता है क्योंकि सीमित ज्ञान और सीमित वाणी से उस अपरिमित और असीम को बांधना दुष्कर है फिर भी उपनिषद्कारों ने अपने प्रयत्न में कोई कसर नहीं उठा रखी है, भले ही उनके शब्द कम पड़ गए हैं, उनकी भाषा सामान्य लोगों के लिए अस्पष्ट रह गयी है क्योंकि रहस्य का विषय रहस्यदर्शी को ही स्पष्ट हो सकता है; शेष को तो उसके धूमिल संकेत ही प्राप्त हो सकते हैं ।

ब्रह्म के तीन स्वरूप

अथर्वा ने शाण्डिल्य के ब्रह्म सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर में बताया है कि परब्रह्म के तीन स्वरूप होते हैं - सकल, निष्कल और सकल-निष्कल । ब्रह्म का वह स्वरूप जो सत्य विज्ञान आनन्द साक्षी, निरंजन, सर्वव्यापक, अवर्णनीय और सूक्ष्म है, वह निष्कलरूप है । उसकी ईश्वर रूप में नियंत्रण करने वाली शक्ति सकल-निष्कल है तथा ब्रह्माण्ड के अनेक स्तरों में व्याप्त जो जीवन तथा जगत है- उस ब्रह्म का सकल रूप है[४] ।

---

१ ॐ नित्यं शुद्धं बुद्धं निर्विकल्पं निरंजनं निराख्यातमनादिनिधनमेकं तुरीया - परब्रह्म - १०८ उपनिषद्, योग चूड़ामणि ७७ ।

२ सत्यं विज्ञानमनन्तं ब्रह्म । वही, शाण्डिल्य २८४।२।१

३ वही

४ वही, २८६।३।१ ।

प्रकाश स्वरूप ब्रह्म

प्रकाश को ब्रह्म के सर्वमान्य प्रतीक के रूप में रहस्यदर्शी संत मानते आए हैं। प्रकाश ही ब्रह्म के स्वरूप का बहुत दूर तक प्रतिनिधित्व करता है। उपनिषदों में भी ब्रह्म को प्रकाश स्वरूप माना गया है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि वह प्रकाशमय परम कोशों में निवास करता है तथा स्वयं अत्यन्त शुभ्र है और उसकी शुभ्रता ज्योतियों की भी ज्योति है[1]। विशिल ब्रह्माण्ड में जहां कहीं भी प्रकाश है, वह उसी ब्रह्म का प्रकाश है। सूर्य, चन्द्र ताराकादि समस्त प्रकाश उसी मूल प्रकाश से प्रकाशित है[2]।

सर्वव्यापक

उसे सर्वव्यापक कहा जाए अथवा यह कहा जाए कि मात्र उसकी ही सत्ता सत्य है, दोनों का अर्थ एक ही है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार सामने, पीछे, दायें, बायें तथा ऊपर-नीचे सर्वत्र वही है[2] तथा श्वेताश्वतर में इसी बात को दूसरे प्रकार से यह कह कर कहा गया है कि वह अग्नि, जल, वनस्पतियों तथा सभी लोकों में है[3]। दोनों प्रकार के वर्णन एक ही कोटि में आते हैं क्योंकि दोनों का मौलिक प्रयोजन उसकी सर्वव्यापकता पर ही प्रकाश डालना है।

इस प्रकार उपनिषदों में अनेक रूपों में उस पर ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट करने के बहुधा प्रयत्न मिलते हैं। कुल मिलाकर ये सारे वर्णन सामान्य व्यक्ति की पकड़ के बाहर हैं। उस ब्रह्म को रूप अथवा आकार देने के प्रयत्न

---

१ अणोरणीयान् महतो महीयान्, श्वेताश्वतर ३८८।३।१०

२ ब्रह्मवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण
अधश्चार्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्। मु० २१७।३।११

३ श्वेताश्वतर ३७७।२।१७।

सूक्ष्मता के ही अधिक निकट हैं अत: यह सत्य है कि इन वर्णनों के आधार पर भी उसका सही प्रत्यक्ष कोई रहस्यदर्शी ही कर सकता है । जितने प्रकार के वर्णन उपनिषदों में मिलते हैं वे अनुभूति अथवा अनुभव के विषय ही अधिक हैं ।

आनन्द

ब्रह्म परमानन्द स्वरूप है अर्थात् ब्रह्म का स्वरूप आनन्द है । आनन्द भी अनुभव का ही विषय है लेकिन ब्रह्मानन्द तो कतिपय दिव्य व्यक्तियों के ही अनुभव का विषय है । आनन्द के माध्यम से समझना नितान्त व्यक्तिगत कार्य है । तैत्तिरीयोपनिषद् में उसे रस कहा गया है[१]। इससे भी यह कहा गया है कि वही रस है अर्थात् आनन्द की जितनी भी उपलब्धियां, जिन जिन भूमिकाओं पर हैं, सभी उसी महान्, व्यापक, दिव्यानन्द की अंशरूप हैं तथा उस परम तत्व को प्राप्त कर लेने के पश्चात् विश्व के सभी आनन्द तुच्छ और हेय हो जाते हैं । जीव की परमगति उसी आनन्द को प्राप्त करना ही है । महामहोपाध्याय गोपीनाथ जी कविराज ने इस आनन्द स्वभाव को जगत का कारण कहा है क्योंकि "इस आनन्द स्वाभाव से ही समस्त सृष्टि की प्रवृत्ति हुई है । अतएव सृष्टि-रचना का हेतु अभाव नहीं किन्तु स्वभाव है"[२]।

ब्रह्मानुभूति के साधन

ब्रह्मानुभूति अथवा ब्रह्म साक्षात्कार साधना के द्वारा ही सम्भव है । "किसी प्रधान उद्देश्य को ध्यान में लाकर उसके निमित्त कार्य सम्पन्न करने की क्रिया को बहुधा 'साधना' की संज्ञा दी जाती है"[३]। कवियों ने ब्रह्म-विषयक

---

१ यदैतत्सुकृतं रसो वै स: । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति । को ह्येवान्यात्क: प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् एष ह्येवानन्दयाति । तैत्तिरीय ३२१।२।७

२ रामचरित में रसिक सम्प्रदाय की भूमिका - म०म०पं० गोपीनाथ कविराज, पृ० १

३ आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० १७ ।

जिन विचारों को प्रकट किया है उसे उन्होंने अपनी साधना के द्वारा देखा है - ऐसे संकेत उनकी अध्यात्म सम्बन्धी रचनाओं से प्राप्त होते हैं ।

विश्वास

साधना का प्रारम्भ दृढ़ निश्चय से होता है । जिस सत्य का साक्षात्कार करना है अथवा जिस परमतत्व की प्राप्ति करनी है उसके अस्तित्व के प्रति लेशमात्र की शंका साधक को लक्ष्य की प्राप्ति से विचलित कर सकती है । इस दिशा में अग्रसर होने के लिए 'उसकी सत्ता निश्चित रूप से है' आधारभूत रूप में इस दृढ़ निश्चय पर अडिग रहना पहली शर्त है फिर इसके पश्चात् ही प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है[१]।

परा तथा अपरा विद्या

मुण्डकोपनिषद् में महर्षि शौनक और महर्षि अंगिरा सम्वाद में महर्षि अंगिरा ने परा तथा अपरा नामक दो प्रकार की विद्याओं की चर्चा की है[२]। 'उन दोनों में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिषादि अपरा विद्या के अन्तर्गत आते हैं और जिस विद्या से अक्षर-अविनाशी ब्रह्म की अभिज्ञता होती है वह परा विद्या के अन्तर्गत आती है' । मुण्डकोपनिषद् का यह कथन भी ईशोपनिषद् के कथन के समान ही है । जो आत्मानुसंधित्सु हैं उनके लिए अपरा विद्या अप्रयोजनीय है । वेदादि विषयों के ज्ञान से परे परब्रह्म का ज्ञान है अतः परा विद्या ही सही माने में विद्या है क्योंकि 'सा विद्या या विमुक्तये' अर्थात्

---

१ अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्वभावेन चोभयो: ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्वभाव: प्रसीदति । कठ १।३।१।१३

२ तस्मै स होवाच । द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति
परा चैवा परा च । मुण्डक १।१।१।४

सही अर्थों में विद्या वही है जो मुक्त करे जो अमृत पद की प्राप्ति कराए। 'जो इन दोनों विद्या तथा अविद्या के रहस्य को तत्व जान लेता है वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या के द्वारा अमृत पद को प्राप्त करता है[1]'। वस्तुत: सत्य-सनातन तत्व की उपासना से ही सत्य-सनातन-अविनाशी पद की प्राप्ति हो सकती है। ब्रह्म ही सत्य है, वही सम्भूति तत्व है उससे इतर जो कुछ है वह असम्भूति है। असम्भूति वस्तुत: मिथ्या है जिसकी सम्भावना वस्तुरूप में है ही नहीं। 'जो इस असम्भूति की उपासना करते हैं वे अन्धकार अर्थात् अज्ञानान्धकार में प्रवेश करते हैं और सम्भूति तत्व में रत हैं वे उससे भी अधिक अंधकार में प्रवेश करते हैं[2]'। अब यहां पर रत शब्द के माध्यम से ऋषि ने अनुरक्ति की ओर संकेत कर दिया है अर्थात् अनुरक्ति अथवा आसक्ति अहंभाव को उत्पन्न करती है और आसक्ति चाहे स्थूल की हो अथवा सूक्ष्म की दोनों ही अनर्थकारी हैं। सूक्ष्मासक्ति अधिक अनर्थकारी है क्योंकि वह तो चेतना के सूक्ष्मतम स्तरों तक प्रविष्ट कर जाती है और सूक्ष्म अहंकार की सृष्टि करती है। इसलिए जो धीर पुरुष हैं उन्होंने दोनों तत्वों को अलग अलग स्पष्ट किया है[3] जिससे 'लोग सम्भूति और विनाशशील दोनों का यथार्थ अन्तर जान लें, जिससे विनाशशील की उपासना द्वारा मृत्यु को प्राप्त न करके अक्षय पद की प्राप्ति करें[4]'। अत: यह स्पष्ट हो गया कि सम्भूति अर्थात् परमतत्व ब्रह्म जो नितान्त सत्य है उसकी उपासना तो आवश्यक है लेकिन उपासना जन्य अहंकार नहीं।

---

१ विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते। ईश ३३।११

२ अन्धं तम: प्रविशन्ति ये सम्भूतिमुपासते
ततो भूय इव ते तमो य उसम्भूत्यांरता:। वही, १२

३ वही, १३

४ सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामंतमश्नुते। वही, १४

सदाचार

सदाचार की भूमिका पर ही दिव्य जीवन का प्रासाद खड़ा किया जा सकता है । यदि भूमिका दुर्बल है तो आगे का मार्ग कदापि प्रशस्त नहीं हो सकता है । जीवन को व्यवस्थित करके तपस्या के द्वारा ही अध्यात्म सम्बन्धी उपलब्धियां सम्भव हैं । तप, मन तथा इन्द्रियों का निग्रह और कर्त्तव्य का पालन ये ही तीन आधार हैं[१]। इस बात को कठोपनिषद् में एक रूपक के माध्यम से अत्यन्त स्पष्टतापूर्वक समझाया गया है । यमराज नचिकेता से कहते हैं - 'तुम जीवात्मा को रथ का स्वामी समझो और शरीर को रथ समझो तथा बुद्धि को सारथी समझो और मन को लगाम समझो[२]। ज्ञानी जन इन्द्रियों को घोड़े बताते हैं, विषयों को घोड़ों के विचरने का मार्ग तथा शरीर, इन्द्रिय और मन के साथ रहने वाला जीवात्मा भोक्ता है[३]। जो सदा विवेकहीन अयुक्त-मन है, उसकी इन्द्रियां असावधान सारथी के दुष्ट घोड़ों की भांति स्वच्छन्द विचरने वाली हो जाती हैं[४] परन्तु जो सदैव विवेकपूर्वक वश में किए हुए मन से युक्त रहता है, उसकी इन्द्रियां सावधान सारथी के अच्छे घोड़ों की भांति वश में रहती हैं[५]। उपर्युक्त रूपक के माध्यम से यमराज ने सदाचार पूर्ण जीवन की ओर संकेत किया है तथा मन और इन्द्रियों को विषयों से विवेकपूर्वक अलग रखने की शिक्षा दी है क्योंकि परमपद के मार्ग में 'अविवेक, असंयम और आन्तरिक अपवित्रता' ही बाधक होती हैं[६]। अतः जो इस मार्ग के पथिक हैं,

---

१ तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेद ६२।४।८

२ आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च । कठ १०३।३।३

३ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्
आत्मेन्द्रिय मनो युक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः । वही-४

४ यस्त्वविज्ञानवान भवत्ययुक्तेन मनसा सदा
तस्यैन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः । ५,६

५ यस्तु विज्ञान वान् भवति युक्तेन मनसा सदा
तस्यैन्द्रियाणि वश्यानि सदाश्वा इव सारथेः । ६

६ यस्तविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः
न स तत्पदमाप्नोति संसार चाधिगच्छति । ७

विवेकपूर्वक अपने मन को संयमित रखते हैं और प्रत्येक प्रकार की शुचिता के प्रति सतर्क रहते हैं । असंयमित जीवन व्यक्ति को स्वेच्छाचारी बना देता है और स्वेच्छाचरण से साधक श्रेय के मार्ग से च्युत हो जाता है । सदाचरण ही मन को संयमित रखने का एकमात्र - अचूक अस्त्र है । मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है । जो मन विषयासक्त है, वह बन्धन का कारण बनता है तथा इसके विपरीत जो मन विषयों से मुक्त है, वही मोक्ष कारण बनता है[१] ।

अन्तर्दर्शन : सदाचार के पश्चात्

मन को मार्ग पर लाने के लिए अन्तर्दर्शन एक मात्र प्रभावी क्रिया है । मन का स्वभाव मूलत: बहिरोन्मुख है उसे जगत के प्रपंचों में आनन्द प्राप्त होता है अत: उसे अन्तरोन्मुख करने से जगत् के प्रति उसकी आसक्ति धीरे धीरे क्षीण होने लगती है । परमेश्वर ने इन्द्रियों को बहिरोन्मुखी बनाया है इसलिए वह बाहर की वस्तुएं ही देखता है, अन्तरात्मा को नहीं देखता है । कोई कोई अमृतपद के अभिलाषी विद्वान जन ही उसे अन्दर की ओर समेट कर अन्तरात्मा को देखते हैं[२]। व्यक्ति की यह मजबूरी होती है कि वह अपने को शरीर मानता है अत: शरीर और इन्द्रियों से ऊपर उठकर वह अपनी पहचान जल्दी कर ही नहीं पाता है किन्तु आत्मदर्शी ज्ञानी पुरुष अपने को सदैव चैतन्य आत्मा के रूप में ही देखता है[३]।

नित्यानित्य विवेक

बहिर्दर्शन की प्रवृत्ति तभी तक रहती है जब तक जगत् की सत्यता में विश्वास बना रहता है । जब यह निश्चित रूप से बोधित हो जाता है कि संसार

---

१ मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयो:
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् । मैत्रायण्युपनिषद ४३६।११

२ पराँचि खानि व्यतृणत् स्वयंभू-स्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन
कश्चिद्धीर: प्रत्यगात्मान मैक्षदावृत्त चक्षुरमृतत्व मिच्छन् । कठ १।३।२।१

३ सर्वेन्द्रियविहीनो स्मि - मैत्रेय्युपनिषत्, २४६।१५ ।

क्षणभंगुर और नाशमान है तथा इस जगत के आनन्द भी क्षणभंगुर और असत्य हैं, तो स्वाभाविक रूप से जगत् के प्रति आसक्ति का अभाव प्रारम्भ हो जाता है और एक स्थिति ऐसी आती है, जब जगत् के प्रति आसक्ति रह ही नहीं जाती है । जगत में थोड़े ही लोग ऐसे होते हैं जिन्हें जगत् की अनित्यता का यथार्थतः बोध होता है अधिकांश लोगों को तो यह भान भी नहीं होता है कि जगत अयथार्थ है । इस प्रकार संसार में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं और दोनों के मार्ग पृथक पृथक होते हैं । कल्याण के साधन अलग हैं और प्रिय लगने वाले भोग-साधन अलग हैं; भिन्न फल देने वाले साधन मनुष्य को अपनी अपनी ओर आकृष्ट करते हैं । इनमें से श्रेय-साधन को ग्रहण करने वाले का कल्याण होता है किन्तु जो भोग-साधनों के प्रति आकृष्ट होते हैं, वे यथार्थ पथ से भ्रष्ट हो जाते हैं[१]। श्रेय और प्रेय दोनों साधन मनुष्य के समक्ष आते हैं किन्तु जो विवेकी पुरुष हैं,वे विधिवत् विचार करके दोनों का यथार्थ अन्तर समझकर भोग के मार्ग को त्याग देते हैं और कल्याण-मार्ग का ग्रहण करते हैं । इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वे लोग जो सत्य-लक्ष्य को देखने की शक्ति रखते हैं,वस्तुतः वे ही बुद्धिमान हैं जिनकी दृष्टि में यह सत्य नहीं आ पाता है वे मूर्ख हैं[२]। भोग की प्राप्ति तो अन्य जन्मों अथवा योनियों में भी सम्भव है लेकिन परम-पद के मार्ग को प्रशस्त करने का अवसर मनुष्य-जन्म के माध्यम से ही प्राप्त होता है, इसलिए कि मात्र मनुष्य योनि ही कर्म-योनि है । रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्शादि की शक्तियां तथा विषय

---

१ अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद य उ प्रेयो वृणीते
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्य मेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योग क्षेमाद् वृणीते
कठ ८३,८४।१।२।२

२ परा चः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते
कठ १९४।२।१।२

सभी नाशमान हैं[१] । यह नित्य के अनुभव में आता है फिर भी इसका निश्चित बोध अन्तःकरण में नहीं हो पाता है । विवेकी पुरुष जो अध्यात्म मार्गोन्मुख है इसका निश्चित बोध करके फिर नित्य-तत्व की खोज करता है और अनित्य को छोड़कर नित्य के प्रति समर्पित हो जाता है ।

जगत को नश्वर और क्षणभंगुर मान कर विरक्त हो जाना, यह अभावात्मक स्थिति है । जगत् ब्रह्ममय है और फिर इस दिव्य ब्राह्मीभाव से अपने को सम्पृक्त कर लेना, इस भावना का दूसरा भावात्मक पहलू है । नानात्व की प्रतीति मिथ्यादृष्टि है अतः बन्धनकारी है[२]। मुण्डकोपनिषद् में अधिक विस्तारपूर्वक इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि ब्रह्म ही जगत के नानापदार्थों के रूप में अपने को अभिव्यक्त कर रहा है[३] अथवा यह विश्व परम पुरुष पुरुषोत्तम नहीं है[४]। सर्वात्म दर्शन से व्यक्ति-अहं विराट हो जाता है और विराट् होने पर उसका घनत्व समाप्त हो जाता है और तत्वतः वह अहं रूप में शेष रह ही नहीं जाता है । इस स्थिति को छान्दोग्योपनिषद् में 'भूमा' की संज्ञा दी गयी है[५]। यह 'भूमा' अल्प का विरोधी है ।

योग : अष्टांगयोग

परमतत्व की प्राप्ति का सर्वमान्य साधन योग है । कठोपनिषद् के अनुसार इन्द्रियों की स्थिर धारणा को ही योग मानते हैं । योग के प्रभाव से साधक प्रमाद रहित हो जाता है । योग, उदय और अस्त होने वाला है[६] अर्थात्

---

१ यैन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते ।। एतदैतत् । वही ३

२ कठ ११८,११९।१०,११

३ मुण्डक २।१।४,५,६,७,८,९

४ पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् । वही १०

५ यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमा वै सुखं - छण्ड २३।१ ।

६ तं योग मिति मन्यते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अ प्रम त्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ।। कठ २।३।११

अभ्यास बन्द कर देने से साधक मानसिक और शारीरिक स्थिति पूर्ववत् हो जाती है । अत: योग्य साधक को पूर्णता की प्राप्ति तक प्रमाद रहित चित्त से योग का निरन्तर साधन करते रहना चाहिए । पूर्णता प्राप्त होने पर मन के सहित पांचों इन्द्रियां पूर्णरूपेण स्थिर हो जाती हैं अर्थात् विषयों के प्रति धावमान नहीं होती हैं और बुद्धि भी चेष्टा-रहित हो जाती है । इस गति को परमगति कहते हैं[1]। योगतत्वोपनिषद् में इन्द्रियों के नियमन पर बल न देकर चित्त के नियमन पर ही बल दिया गया है क्योंकि मन ही सारी इंद्रियों का स्वामी है । अत: यदि मन वश में है तो सारी इन्द्रियां स्वत: वश में हैं । चित्त का लय ही योग है[2]। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में भी चित्त की अविकल स्थिति को ही योग कहा गया है[3] । इस उपनिषद् में दो प्रकार के योग बताये गये हैं, 'कर्मों में मन को बांध देना, कर्म योग है और चित्त को आत्म-कल्याण में संलग्न रखना, ज्ञान योग है[4] । योग आठ अंगों वाला है लेकिन यह अष्टांग-योग अधिक सूक्ष्म है । देहेन्द्रियों के प्रति वैराग्य-भावना, यम है । परमतत्व से प्रेम रखना, नियम है । सब वस्तुओं में उदासीनता की वृत्ति ही आसन है । जगत् में मिथ्यात्व की प्रतीति, प्राणायाम है । चित्त का अन्तर्मुखी-करण, प्रत्याहार है । चित्त को निश्चल बनाना ही धारणा है तथा मैं ब्रह्म हूं - यह भावना ध्यान है । सम्यक् प्रकारेण ध्यान का भी विस्मरण कर

---

१ यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहु: परमा गतिम् । वही १०

२ लय योगश्चित्तस्य: कोटिश: परिकीर्तित: । ६८।२२

३ क्रियो योगमथेदानीं शृणु ब्राह्मणसत्तम्
बध्याकुलस्य चित्तस्य बन्धनं विषये ध्रुवंचिन । १८३।२४, त्रिशिखिब्राह्मणो
पनिषद्

४ बन्धनं मनसो नित्यं कर्मयोग: स उच्यते
यत्तु चित्तस्य सततमर्थे श्रेयसि बन्धनम् ।
ज्ञानयोग: स विज्ञेय: सर्वसिद्धिकर: शिव: ।
त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् १८४।२६,२७ ।

देना, समाधि है"[१]। अष्टांगयोग की चर्चा अनेक उपनिषदों में आई है लेकिन वहां यम, नियम, आसन, प्राणायाम की स्थूल क्रियात्मक व्याख्याएं ही मिलती हैं, यद्यपि धारणा, ध्यान और समाधि के वर्णन में समानता है । यमादि की उपर्युक्त व्याख्या विषय के अधिक निकट है अत: इसका विवेचन मेरी दृष्टि में अधिक समीचीन प्रतीत हो रहा है । ध्यान बिन्दूपनिषद् में योग के छ: अंगों का ही वर्णन है जिसमें यम-नियम को छोड़ दिया गया है । यहां पर विस्तार से आसन, प्राणायाम तथा शरीरस्थ चक्रों का वर्णन उपलब्ध होता है ।

प्राणायाम

आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त करने के लिए प्राणायाम को उपनिषदों में एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में स्वीकार किया गया है क्योंकि मन और प्राण का घनिष्ट सम्बन्ध है । प्राण सूक्ष्म हो जाते हैं तो मन की वृत्तियां भी स्थूल से हट कर सूक्ष्माभिमुख हो जाती है । प्राण की क्षीणता मन की वृत्तियों को भी क्षीण कर देती हैं । बुद्धिमान साधक के लिए श्वेताश्वतरोपनिषद् का कथन है कि वह सर्वप्रथम आहार-विहार को युक्त करके चेष्टाओं को युक्त करे, तदन्तर प्राण को सूक्ष्म करे, फिर मन को सावधानी पूर्वक वश में करे । इस अभ्यास के निमित्त अभ्यासी को ऐसा स्थान चुनना चाहिए जो कंकड़-बालुकादि रहित हो, जहां जलादि की सुलभता हो, जहां शान्ति हो, कोलाहल #राहित्य हो और मन्द प्रकाश और मन्दवायु युक्त हो । इस प्रकार के स्थान में विघ्न कम रहेंगे अत: मन को एकाग्र करने में सहायता मिलेगी[२]। योग/ चूड़ामणि उपनिषद्

---

१ त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, २८-३२ तक ।

२ प्राणान प्रपीड्येह संयुक्त चेष्ट: क्षीणे प्राणे नासिक्योच्छ्वसीत ।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान मनो धारयेताप्रमत्त: ।
समेशुचौ शर्करावह्नि वालुका विवर्जिते शब्द जलाश्रयादिभि:
मनो अनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहा निवाताश्रयणे प्रयोजयेत ।
श्वेताश्वतर २।९,१० ।

तथा शाण्डिल्योपनिषद् ने नाड़ी शोधन के अनन्तर प्राणायाम की सलाह दी है[1] क्योंकि नाड़ी-शुद्धि के अनन्तर निर्मल दृष्टि की प्राप्ति होती है । आगे कहा गया है कि आसनों के अभ्यास से रोग का नाश होता है तथा प्राणायाम से पापों का नाश होता है । योगी के मन के विकार प्रत्याहार से शान्त हो जाते हैं । धारणा से मन में धैर्य उत्पन्न होता है तथा समाधि से अद्भुत चैतन्य की प्राप्ति होती है जिससे शुभाशुभ कृत कर्मों का क्षय हो जाता है और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है[2]। फिर इस गूढ़ विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है - बारह बार प्राणायाम का अभ्यास करने से प्रत्याहार सिद्ध होता है । बारह प्रत्याहार के अभ्यास से शुभधारणा की उत्पत्ति, बारह धारणाओं से ध्यान सिद्ध होता है तथा बारह ध्यान से समाधि लगती है । समाधि की प्राप्ति के अनन्तर परम ज्योति, अनन्त और विश्वतोमुख के भाव का उदय होता है जिससे आवागमन समाप्त हो जाता है[3]।

स्मरण

ॐ मन्त्र का निरन्तर स्मरण चित्त में परमतत्व की स्थापना करता है और चित्त को जगत से असम्पृक्त करता है । नामस्मरण की क्रिया का प्रभाव दोहरा पड़ता है । मुक्त मन ही मुक्ति का कारण बनता है, ऐसा उपनिषदों का विचार है । अतः स्मरण के माध्यम से इस लक्ष्य की प्राप्ति अत्यन्त सहजता तथा सुगमता पूर्वक सम्भव है, कारण कि स्मरण में किसी प्रकार की कठिन क्रिया के माध्यम से आगे बढ़ने की आवश्यकता नहीं होती, दूसरी ओर स्मरण

---

१ योग चूड़ामणि ८३।९९

शाण्डिल्योपनिषद् खण्ड षष्ठ।१

२ आसनेन रुजं हन्ति प्राणायामेन पातकम्
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुंचति
धारणाभिर्मनोधैर्यं याति चैतन्यमद्भुतम्
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम् ।
योग चूड़ामणि उपनिषद् ८५।१०९।११०

३ योग चूड़ामणि उपनिषद् ८५।१११,११२,११३ ।

का कार्य किसी समय भी सम्पन्न किया जा सकता है जिसके लिए किसी विधि-विधान की भी आवश्यकता नहीं होती । शारीरिक दृष्टि से यदि अभ्यासी किसी कार्य में व्यस्त भी हो तो इस क्रिया में किसी प्रकार की बाधा की सम्भावना नहीं है । कुल मिलाकर नामस्मरण, निरापद और सहज प्रक्रिया है । कैनोपनिषद् में स्मरण के लिए 'उपस्मरण' शब्द का प्रयोग किया गया जिसका तात्पर्य तल्लीनता पूर्वक स्मरण से है, ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि इस क्रिया से कर्ता में संकल्प जागृत होता है जिससे वह परमात्मा को जान लेता है और प्राणिमात्र का आत्मीय बन जाता है[१]।

ऊं कार

भगवन्नाम अनन्त हैं लेकिन उपनिषदों में सर्वमान्य नाम ऊं है । उपनिषदों के अनुसार सही अर्थों में ऊं कार ही परब्रह्म का वाचक है । नचिकेता के प्रश्न के उत्तर में यमराज ने बताया - 'सम्पूर्ण वेद जिस परमपद का प्रतिपादन करते हैं तथा सम्पूर्ण तप जिसके साधन रूप में कहे जाते हैं, जिसकी इच्छा में साधक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं; उस पद को मैं तुम्हें संक्षेप में बताता हूं; वह ओमु है'[२]। परम सत्ता के अनेक नाम हैं, जिनमें ऊं की महिमा विशेष है। इसी सन्दर्भ में यमराज ने आगे कहा है - यह ओंकार ही ब्रह्म है, यह ओंकार ही परब्रह्म है इसलिए इसी ओंकार को जानकर जो जिसको चाहता है उसको प्राप्त कर लेता है । यही श्रेष्ठ आश्रय है, यही परमावलम्बन है; इस आलम्बन को भली भांति जानकर साधक ब्रह्मलोक में गौरवान्वित होता है'[३]।

---

१ कैन, खण्ड ४।५,६ ।

२ सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् । कठ १।२।१५

३ एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते । कठ, १।२।१६,१७ ।

स्मरणविधि

नामस्मरण की प्रक्रिया दिविध है - एक को स्पष्ट उच्चारण पूर्वक, जिसे कीर्तन की संज्ञा दे सकते हैं और दूसरी को आभ्यान्तरिक स्मरण अथवा मानसिक स्मरण । ॐ का उपयोग दोनों प्रकार के स्मरण के निमित्त साधकों द्वारा किया जाता है । आचार्य विनोबा का कहना है - 'ॐ कार का चिन्तन ब्रह्म - विद्या मन्दिर का गर्भ-गृह है । ॐ कार के लिए दूसरा शब्द 'प्रणव' है । 'प्रणव' शब्द 'नु' - स्तुति करना - धातु को 'प्र' उपसर्ग जोड़कर बनाया गया है, इसलिए इसका यथारथ: अर्थ है 'उत्तम स्तुति'। इस 'उत्तम स्तोत्र' प्रणव के, ॐ कार के आन्तरिक चिन्तन और बाह्यजप यह दोनों ब्रह्मविद्या के आन्तर-बाह्य दो अंग हैं'[१] ।

छान्दोग्योपनिषद् में ॐ कार की महिमा का वर्णन निम्नलिखित आख्यायिका के द्वारा मिलता है -

'पीछा करने वाली मृत्यु से डरकर देवताओं ने त्रयीविद्या यानी वेदों के आच्छादन की शरण ली । इस प्रकार वेद हुंकी संसार-त्रस्त मनुष्य के लिए छिपकर बैठने की जगह है इसलिए उसे 'छन्दस' (छिपकर बैठने की गुप्त जगह) कहते हैं । लेकिन जिस प्रकार एक बगुला पानी में मछली को ढूंढ निकालता है, उसी प्रकार इस गुप्त जगह में मृत्यु ने देवताओं को पकड़ लिया, तब इस किले को भी छोड़कर ॐ कार के दुर्जेय किले (उध्वां:) का आश्रय लेना पड़ा । इस किले पर मृत्यु की कोई ताकत नहीं चलती, इसलिए वहां जाने पर देवता मृत्यु के त्रास से मुक्त होकर निर्भय बने । जो इस प्रकार की उपासना करेगा, वह भी देवताओं के समान अमृत और अभय बनेगा'[२]।

---

१ संत विनोबा - उपनिषदों का अध्ययन, पृष्ठ १३

२ उपनिषदों का अध्ययन (विनोबा) से उद्धृत, पृष्ठ १३

ऊं कार में 'अ', 'उ', 'म' तीन मात्राएं हैं, इसका चौथा स्वरूप मात्रा रहित ओंकार है। मात्रा रहित ऊं कार ही ब्रह्म स्वरूप है[१]। श्वेताश्वतरोपनिषद् में बताया गया है कि जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि निरंतर विद्यमान है किन्तु उसका प्रकटीकरण अरणि-मंथन के द्वारा ही होता है, उसी प्रकार प्रणव के माध्यम से शरीरस्थ परमात्मतत्व को प्रकट किया जा सकता है[२]।

जप, नामस्मरण का पर्यायवाची है। जप की अनेक विधियां हैं। योग चूड़ामणि उपनिषद् में ऊं कार जप की विधि बताते हुए कहा गया है कि एकान्त स्थान में पद्मासन लगाकर, शरीर और सिर को सीधा रखकर, नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करके अव्यय स्वरूप ओंकार का जप करना चाहिए[३]। ऊं कार में क्रिया, इच्छा और ज्ञान की तीनों शक्तियां हैं, परम ज्योति के रूप में ब्राह्मी, वैष्णवी और रौद्री शक्तियां हैं। साधक को पवित्र अथवा अपवित्र अवस्था का बिना विचार किए, परम ज्योति स्वरूप ऊं कार का सर्वदा जप करते रहना चाहिए, इस प्रकार जप करने वाला साधक पाप से मुक्त नहीं होता और इस संसार में पद्म-पत्र की भांति निर्लिप्त रहता है[४]। नाम स्मरण का महत्व अपरिमेय है क्योंकि जो कुछ है नामात्मक ही है इसलिए नामस्मरण एक प्रभावकारी साधन विधि है। ब्रह्म भी नामात्मक है अतः नामस्मरण से ब्रह्म तक साधक की गति हो जाती है[५]।

---

१ माण्डूक्य, मंत्र ६,१०,११,१२

२ वक्ष्येयथा योनिगतस्यमूर्तिर्नदृश्यते नैव च लिंग नाशः।
स भूय स्वैन्धनयोनिगृह्य स्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे। श्वेताश्वतर, अध्याय १।१३

३ पद्मासनं समारुह्य समकाय शिरोधरः
नासाग्र दृष्टि रेकान्ते जपेदोंकारमव्ययम्। योग चूड़ामणि ७७।७९

४ इच्छा क्रिया तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी
त्रिधा मात्रा स्थितिर्यत्र तत्परं ज्योति रोमिति।
वचसा तज्जपेनित्यं वपुषा तत्समभ्यसेत
मनसा तज्जपेनित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति
शुचिर्वा अप्यशुचिर्वाऽपि यो जपेन्प्रणवं सदा
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्र मिवाम्भसा। योग चूड़ामणि उपनिषद्
८१।८६,८७,८८

५ छांदोग्य, अध्याय ७।१।४,५।

शब्द-योग

नामजप अथवा नामस्मरण से किंचित भिन्न एक अन्य प्रक्रिया की चर्चा उपनिषदों में आती है जिसे शब्द-योग नाम दिया जा सकता है कारण कि इस प्रक्रिया का प्रारम्भ शब्द से होता है । संत साहित्य में शब्द-सुरति योग का बहुत महत्व है । मेरे विचार से संतों का यह योग उपनिषद् का शब्द-योग ही है क्योंकि दोनों पद्धतियों में शब्द को आत्मा में लय करने का विधान है । इस पद्धति का सूत्रात्मक विवेचन कठोपनिषद् में प्राप्त होता है -

यच्छेद वाङ्मनसी प्राज्ञस
यद् यच्छेज् ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानात्मनि महति नियच्छेत्
तद् यच्छेच् छान्त आत्मनि ।।
कठ १।३।१३

'वाणी का मन में लय किया जाए, मन का ज्ञानात्मा में, ज्ञान का महदात्मा में और आखिर में इस महात्मा का शांत-आत्मा में लय किया जाए' ।

संत आचार्य विनोबा जी ने इस मंत्र की विशद्-विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है - 'साधना की दृष्टि से आत्मा के उत्तरोत्तर पांच श्रेष्ठ रूप हो सकते हैं । जगत के भिन्न भिन्न विषय-रसों का अनुभव लेते हुए मनुष्य की कभी एक ऐसी अवस्था होना सम्भवनीय है जब उसके हृदय में एक ऐसी अस्पष्ट ध्वनि उठे कि विषयों से भी 'पर' या श्रेष्ठ तत्व होना चाहिए । यह भीतर की आवाज या आकाशवाणी आत्मा का पहला रूप है । आत्मा के इस वाचिक स्वरूप को वागात्मा कहा जा सकता है । यहां से साधना प्रारम्भ होती है,। इसलिए इसे आत्मा का प्राथमिक स्वरूप समझना चाहिए । वस्तुत: इसके पीछे 'विषयात्मा' तो रहता ही है । लेकिन 'विषयात्मा' परमार्थ साधना की दृष्टि से करीब करीब शून्यात्मा ही है । इसलिए इस आत्मा की साधना-मार्ग में गिनती नहीं की जा सकती, या की गयी तो उसे किसी कक्षा से भिन्न करना पड़ता है । इसलिए इस 'बिना कक्षा' की स्थिति को पारकर

वागात्मा को 'पहली कक्षा' वाला आत्मा कहना पड़ता है । जहां भीतर का शब्द जागा कि मनुष्य अन्तर्मुख होने लगता है । परन्तु इस अवस्था में यह अन्तर की आवाज़ अनिश्चित स्वरूप होने के कारण, मनुष्य उसे आजमाने के लिए बाहर से कक्षियों का अनुभव, सन्तों की वाणी, इत्यादि शब्द ब्रह्म की उपासना अथवा श्रवण-भक्ति शुरू करता है । लेकिन इस अन्तर-बाह्य श्रवणों के कारण विचारों को दिशाएं दिखाई देने पर उन सब दिशाओं से मनुष्य की आशा बढ़ने के सिवा, कुछ भी और कार्य नहीं होता । इसके विपरीत, यहीं रुकने पर गीता में जैसा कहा है, मनुष्य और भी गड़बड़ी में पड़ जाता है । इसलिए इस श्रुति-विप्रतिपत्ति से बाहर निकलने के लिए मनुष्य को शब्द-जाल तोड़कर मनन की मानसिक भूमिका पर फंडा गाड़ना पड़ता है । यहां से सच्ची लड़ाई की शुरुआत होती है । यह आत्मा का दूसरा मनोमय स्वरूप है । यहां वागात्मा का लय हो जाता है, इसलिए जहां जहां से मन फूट-फूट कर निकलता है वहीं मनोमय-आत्मा बांध-बांध कर उसे रोकने का प्रयत्न करता है । इस प्रयत्न को 'धारणा' की संज्ञा दी जाती है । श्रोतव्य भूमिका पर जो विविध दिशाएं दिखाई पड़ गई थीं उनमें से आत्मोन्नति की ध्रुव दिशा निश्चित करने का काम चुकी मनन के कर्तृत्वमें के द्वारा 'मन्तव्य' की भूमिका पर करना रहता है, इसलिए धारणा की परिभाषा की जाती है - चित्त को विशिष्ट दिशा में बांध डालने का प्रयत्न - 'देशबन्ध र चित्तस्य धारणा' - यदि दूसरी उपमा के द्वारा कहें तो श्रवण के द्वारा ग्रहण किए हुए विचारों का मनन की भूमिका पर पाचन होता रहता है । यह पाचन पूरा होने पर विचारों का रूपान्तर ज्ञान-रस में होता है । यहां मनन का कार्य समाप्त हो जाने के कारण मनोमय आत्मा का लय ज्ञानात्मा में हो जाता है । 'मन्तव्य' - प्रयत्न का सम्पूर्ण परिपाक होने पर (ध्यान का) 'निदिध्यासितव्य' प्रयत्न शेष रहता है । यह प्रयत्न इस तीसरी 'ज्ञान मय' भूमिका पर होने से ज्ञान को निश्चित स्वरूप प्राप्त होता है । इस प्रकार इस तीसरी भूमिका पर ज्ञान को निश्चितता प्राप्त होने पर भी, इस निश्चित-ज्ञान को समष्टि करके व्यापक ज्ञान में लय करना पड़ता है । ----

अहंकार को व्यापक बनाने पर उसके परमाणु अनन्त क्षेत्र में बंट जाने के कारण उनकी सांघिक शक्ति छिन्न-विछिन्न हो जाती है । इसलिए व्यावहारिक विनियोग के द्वारा ज्ञान का मटका पका कर तैयार करने के लिए और अहंकार को निर्वीर्य करने के हेतु से व्यापक करने के लिए यह ज्ञानात्मा विश्वकर्मा बनने पर, 'एष देवो विश्वकर्मा महात्मा' इस श्रुति वचन में जिस तरह बताया है वह आत्मा का चौथा रूप 'महात्मा' प्रकट होता है । तीसरी 'ज्ञान मय' भूमिका प्राप्त होने के पहले अहंकार काबू में न आने से उसे चाहे जैसा झुकाने की शक्ति प्राप्त नहीं होती । तीसरी भूमिका में यह शक्ति हाथ आती है । चौथी भूमिका में इस शक्ति की सहायता से अहंकार व्यापक बन जाता है । इसके बाद, व्यापक होने कारण अति विरल बना हुआ यह अहंकार सदा के लिए विलीन होने पर चौथी भूमिका के 'महान् आत्मा' का 'शान्तात्मा' में अपने आप ही लय हो जाता है । यह शान्त आत्मा आत्मा का परम शुद्ध स्वरूप है'[१]

उपनिषदों में ॐ को ही परमशब्द माना गया है और शब्द योग के लिए ॐ का ही आधार लेना सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया है - 'ओंकार ही धनुष है, आत्मा बाण है और ब्रह्म उसका लक्ष्य है । प्रमाद रहित साधक ही लक्ष्य-वेध कर सकता है और तन्मय हो सकता है'[२]। इस मंत्र के अन्तिम चरण की घोषणा से स्पष्ट हो जाता है कि यह साधन आत्मा और ब्रह्म के तादात्म्य के लिए अचूक-साधन के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है । 'यही' शब्द योग' का रहस्य है और वेद में वर्णित सभी विधाओं में यह विधा

---

१ उपनिषदों का अध्ययन (विनोबा) पृष्ठ ३६-४२ ।

२ प्रणवः धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेधव्यं शरवत्तन्मयो भवेत ।।

श्रेष्ठ है । मोक्ष का इससे सुन्दर और अचूक कोई दूसरा उपाय नहीं है[1]। ऊँ कार को भली भांति आत्मा में प्रतिष्ठित करना ही इस साधन का रहस्य है । ब्रह्मोपनिषद् में मात्र भाषा में परिवर्तन करके इस साधन के रहस्य को स्पष्ट किया गया है । 'आत्मा को नीचे की अरणि बनाकर, ऊँ कार को ऊपर की अरणि बनाकर ध्यानरूपी मन्थन के द्वारा साधक गूढ़ तत्व आत्म-देवता का साक्षात्कार कर सकता है'[2]। इस मंत्र के द्वारा अधिक स्पष्ट हो गया कि शब्द और आत्मा के योग से यह साधना निष्पन्न होती है लेकिन साधनकर्ता को प्रमाद रहित और अभ्यासशील होना भी नितान्त आवश्यक है । साधन काल में साधक की निरन्तर जागरूकता और सतत अभ्यास ही साधक को सफलता की ओर निरन्तर अग्रसर होने में सहायक होता है, यही 'अप्रमाद' और मंथन का तात्पर्य है ।

ध्यान

ध्यान से समाधि सिद्ध होती है । प्रत्येक साधन में किसी न किसी प्रकार के ध्येय की अपेक्षा होती ही है अत: ध्यान का क्षेत्र व्यापक है । ध्येय पर अजस्र-तैल-धारावत एकाग्रता से ध्यान की प्राप्ति होती है अत: ध्येय की अनेकता होने के कारण ध्यान की विधियों की अनेकता भी सहज सिद्ध है । कठोपनिषद् में ब्रह्म का आकार अंगुष्ठ मात्र परिमाण वाला बताया गया है जिसका वर्णन निर्धूम ज्योति की तरह है जिसका स्थान हृदय है, अत: हृदयाकाश

---

१ वेदोक्त उपासना सुरत शब्द योग, डा० सम्पूर्णानन्दजी (उपासना-अंक-कल्याण), पृ० ४६ ।

२ आत्मानम अरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्
ध्यानानिर्मथनाभ्यासा देवं पश्येत निगूढवत् ।
ब्रह्मोपनिषद् ४०।१८ ।

में उस परमात्म-तत्व का ध्यान करना चाहिए[१]। मात्र ध्यान करना ही अभीष्ट नहीं है बल्कि यह अपेक्षित है कि साधक मरणधर्मा विक्रियाशील शरीर से पृथक् उसके अस्तित्व का भी बोध प्राप्त करे क्योंकि जीव का वास्तविक स्वरूप वह आत्मतत्व है । अत: यह आत्मतत्वात्मक बोध ही सत्य बोध है[२]। हृदय, चेतना का केन्द्र स्थान है, अत: इस केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित करने से चैतन्य को जागृत किया जा सकता है - हृदय में कुल एक-सौ-एक नाड़ियां हैं, उनमें से एक मूर्धा की ओर गई हुई है उसके द्वारा ऊर्ध्व लोकों में जाकर साधक अमृतत्व की प्राप्ति कर सकता है[३]। जिस एक नाड़ी की चर्चा यहां है, उसकी जागृति हृदय केन्द्र में ध्यान स्थित करने से ही सम्भव है । इस नाड़ी को ब्रह्म नाड़ी की संज्ञा दी जाती है क्योंकि ब्रह्म, हृदय देश के भीतर निवास करता है, वह प्रकाश स्वरूप तथा अविनाशी है[४]।

इस प्रक्रिया को ध्यान योग की संज्ञा दी गई है और यह भी बताया गया है कि यह योग उस परमात्मशक्ति के साक्षात्कार का अव्यर्थ-साधन है[५] । ध्यान योग के अभ्यास की विधि बताते हुए कहा गया है कि अभ्यासी को सीधे बैठना चाहिए तथा सिर गला और वक्ष को ऊंचा उठाए रखना चाहिए ।

---

१ अंगुष्ठमात्र: पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ।।
अंगुष्ठमात्र: पुरुषो ज्योतिरिवाधूमक:
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उश्व: ।। कठ २।१।१२,१३

२ अंगुष्ठमात्र पुरुषो अन्तरात्मा सदा जनानां हृदयं सन्निविष्ट:
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहे मुंजादिवेषिकां धैर्येण तं विद्याच्छुक्रममृतं विद्याच्छुक्रममृतमिति ।। कठ २।३।१७

३ कठ, २।३।१६

४ स य एषोऽन्तर्हृदय आकाश: । तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमय: ।
अमृतो हिरण्मय: । तैत्तिरीय १।६

५ ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन
देवात्म शक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् । श्वेताश्वतर १।३

इसके पश्चात् उसे मन के द्वारा समस्त इन्द्रियों को हृदय में निरुद्ध करके ऊँ पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए । भवसागर को पार करने के लिए यह अचूक साधन है[१] । योगियों ने शरीर के भीतर कई चक्रों का अनुभव किया है जिनमें हृदयचक्र को चौथा चक्र मानते हैं । ज्योतिस्वरूप आत्मतत्व का अनुभव इस केंद्र में ध्यानस्थ होकर किया जा सकता है[२] । बाठ दल वाले हृदय कमल को हंसात्मा भी कहते हैं[३]। इस चक्र के अतिरिक्त भी जो अन्य चक्र हैं उनके स्वरूप का स्मरण करते हुए उनके ध्यान का भी निर्देश मिलता है और उनकी विधियां भी विस्तार में मिलती हैं । 'गुदा चक्र का आंकुचन करके आधार चक्र की वायु निकालना, फिर स्वाधिष्ठान चक्र की तीन प्रदक्षिणा करके, मणिपूर चक्र में जाकर, अनाहत चक्र से भी आगे जाना, फिर विशुद्ध चक्र में प्राण निरोध कर, आज्ञाचक्र का ध्यान करना और आज्ञाचक्र का भी अतिक्रमण करके, ब्रह्मांध्र में ध्यान को स्थित कर देना - इस प्रकार चक्रों का ध्यान किया जाता है[४]। सभी चक्रों के रूप, वर्ण, देवता मंत्र इत्यादि का भी सांगोपांग वर्णन इस शास्त्र में प्राप्त होता है । ध्यान की समस्त प्रक्रियाओं का उद्देश्य चित्त को परमतत्व में विलीन कर देना ही है ।

इस परम तत्व का स्वरूप सगुण अथवा निर्गुण में ही साधकों के समझा जाता है अतः कोई तो सगुणरूप में उस परमात्मतत्व का ध्यान करते हैं तो कोई निर्गुणरूप में । भगवान् का सगुण-ध्यान अणिमादि सिद्धियों

---

१ त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ।
श्वेताश्वतर, २।८

२ नाभौ हृदये चक्रं विशेष्य तदधोमुखम् ।
ज्योतिरूपं बयन्तध्ये हंसं ध्यायेत प्रयत्नत: । योगराजोपनिषद्, मंत्र १०,११ ।

३ स्वं कृत्वा हृदये हंसाभात्मानं ध्यायेत । हंसोपनिषद्- १२

४ हंसोपनिषद्, २२४।६ ।

को देने वाला बताया गया है तो निर्गुण-ध्यान समाधि की प्राप्ति कराने वाला बताया गया है[१]। ध्यान योग के द्वारा चित्त को परमात्मतत्व में विलीन कर देना ही लय योग की स्थिति है। यह योग चलते, सोते, खाते, बैठते किसी समय भी किया जा सकता है[२]।

नाद श्रवण

रहस्यदर्शी ऋषियों ने नादरूप में भी ब्रह्म का साक्षात्कार किया है। आत्मज्ञान के अभाव में ही प्रपंच अथवा जगत की स्थिति है। आत्मज्ञान प्राप्त होते ही प्रपंचात्मक जगत् भी समाप्त हो जाता है और शरीर के अभाव का भी अनुभव लगता है। जब उस स्थिति तक साधक पहुंच जाता है तब उसके प्रारब्ध समाप्त हो जाते हैं और प्रारब्ध समाप्ति की इस स्थिति में ही साधक को परमात्मा का नादस्वरूप साक्षात्कार होता है[३]।

विधि

नाद श्रवण की विधि पर प्रकाश डालते हुए नादबिन्दूपनिषत् में बताया गया है - योगी को सिद्धासन में बैठकर, वैष्णवी मुद्रा धारण कर, दायें कान से अनाहत ध्वनि का श्रवण करना चाहिए। यह नाद बाहरी जगत् की ध्वनियों को ढंक लेता है और ॐकार स्वरूप नाद में विलीन हो जाता है[४]।

नाद के स्वरूप और प्रकार का भी विधिवत् वर्णन करते हुए नाद बिन्दूपनिषत् में बताया गया है - अभ्यास के प्रारम्भ में कई प्रकार के नाद सुनाई देते हैं। प्रारम्भ में नाद तीव्र होता है किन्तु अभ्यास बढ़ने पर मंद हो

---

१ सगुणध्यान मेतत्स्यादणिमादि गुण प्रदम्
निर्गुण ध्यानयुक्तस्य समाधिश्च ततो भवेत्। योगतत्वोपनिषद ८१।१०५

२ योगतत्वोपनिषत् - २३

३ नादबिन्दूपनिषत् - २८-३०

४ वही, ३१-३२।

जाता है । इस स्थिति में साधक का चित्त कभी तीव्र नाद में कभी मन्द नाद में रुचि लेता है लेकिन अन्ततः जिस नाद में उसका चित्त लीन होता है, उसी में स्थिर हो जाता है और उसी में विलीन हो जाता है । इस अवस्था में मन सांसारिक प्रपंचों से रहित हो जाता है और चिदाकश में लीन हो जाता है । यही भाव उन्मुनीभाव है[१]।

नाद की दो स्थितियां हैं, एक तो केवल नाद की है और दूसरी शब्दात्मक नाद की । शब्दात्मक नाद प्रणव से संलग्न अथवा युक्त होता है । शुद्ध नादात्म स्थिति ही नाद की परमस्थिति है । इसके श्रवण से नादानुसंधित्सु की वासनाएं समाप्त हो जाती हैं और उसके मन तथा प्राण का निश्चितरूप से लय परब्रह्म में हो जाता है[२]। इस स्थिति में वह मुक्तवत् हो जाता है तथा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति से परे होकर अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है । दृश्य जगत के अभाव में उसकी दृष्टि स्थिर हो जाती है, चेष्टा के अभाव में वायु स्थिर हो जाती है, आश्रय के अभाव में चित्त स्थिर हो जाता है, उसे तुरीयावस्था की प्राप्ति हो जाती है[३]। यही परम स्थिति है यही काम्य स्थिति है ।

हंसोपनिषत् में नादानुसंधान की क्रिया हंस मंत्र के द्वारा करने का विधान दिया हुआ है । हंस मंत्र के एक करोड़ जप के उपरान्त योगी को नाद श्रवण होने लगता है । यह नाद चिण, चिचिंण, घण्टा, शंख, तंत्री, ताल, वेणु, मृदंग, भेरी और मेघ के नादों के रूप में क्रमशः सुना जाता है । इनमें साधक को प्रथम नव नादों का परित्याग करके अन्तिम नाद को ही अभ्यास के

---

१ नादविन्दूपनिषत् - ३३-४० तक

२ वही ४६-४६ तक

३ वही ५१-५५ तक ।

लिए सुनना चाहिए क्योंकि दसवें से ही परब्रह्म का ज्ञान और साक्षात्कार होता है[1]। योगचूड़ामणि में कान, आंख और नाक के द्वारों को अंगुलियों से अवरुद्ध करके, प्राण को अपान से मिला कर मस्तक में स्थिर करके मन को समभाव में स्थित करने को बताया गया है। ब्रह्मरन्ध्राकाश में पवन के प्रवेश से नाद की उत्पत्ति होती है[2]। इस प्रकार भिन्न भिन्न उपनिषदों में भिन्न भिन्न विधियां दी गयी हैं लेकिन सबका लक्ष्य एक ही है अर्थात् नाद अथवा अनाहत नाद के माध्यम से चित्त को प्रपंचात्मक जगत से मुक्त करके परमतत्व का साक्षात्कार करना। नाद में चित्त रमता है अत: नादयोग एक ऐसा साधन प्रतीत होता है जिसमें मन को लीन होने के पश्चात् आनन्दानुभूति होती है और वह इस अनुभूति में अपने को विलीन करते करते सम्पूर्णत: विलीन कर देता है। मात्र नाद शेष रह जाता है, चूंकि नाद और ब्रह्म का अभेद है, अत: ब्रह्मानुभूति सहज ही प्राप्त हो जाती है।

कृपा

आध्यात्मिक साक्षात्कार के मार्ग में साधक का श्रम उतना सहायक नहीं होता है जितनी सहायक परमेश्वर की कृपा होती है। सत्य तो यह है कि जिस पर कृपा होती है वही इस मार्ग में पदार्पण करता है। परमेश्वर की कृपा सर्वोपरि है। परमात्मतत्व अत्यन्त सूक्ष्म है और गहनीय भी है यानी रहस्यपूर्ण है। उसकी महिमा को वही जान सकते हैं जिन्हें वह स्वयं जना देता है अथवा जिन पर कृपा कर देता है[3]। कठोपनिषद् के एक दूसरे मंत्र में वरण को कृपा के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया गया है। परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति न तो प्रवचन से हो सकती है, न बुद्धि से हो सकती है और न बहुत सुनने से ही

---

१ हंसोपनिषत् - १६-२० तक।

२ योग चूड़ामणि - ११४

३ अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्
तमक्रतु: पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मन:।
कठ १।२।२०।

सकती है अर्थात् वह ब्रह्म न किसी महान् वक्ता को प्राप्त हो सकता है, न विद्वान् को न बहुश्रुत को, बल्कि वह जिसका वरण कर लेता है, उसे ही अपने को सुलभ करा देता है यानी उसके समक्ष अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर देता है[१]। लगता है, रहस्य-मार्ग में परमात्म स्वीकृति ही सब कुछ है। श्वेताश्वतरोपनिषद् ने इस स्वीकृति शब्द का प्रयोग किया है। यहां भी यह शब्द कृपा और वरण से तुलनीय है। जीव आवागमन के चक्र में है। जब तक वह ब्रह्मचक्रमारोपन्न है तब तक उसे आत्मा-ब्रह्म में पृथकत्व की प्रतीति होती है लेकिन जिस क्षण वह स्वीकार कर लिया जाता है, वह अमृत भाव की प्राप्ति कर लेता है[२]।

गुरुकृपा

परम गुह्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए कृपा तो आवश्यक है ही लेकिन वह कृपा ईश्वर और गुरु दोनों की चाहिए। अध्यात्म के मार्ग में गुरुकृपा का कम महत्व नहीं है। कृपा-प्राप्ति के लिए भक्ति की आवश्यकता होती है क्योंकि भक्ति ही कृपा को जागृत करती है। दूसरी ओर भक्त के हृदय को निर्मल भी करती है। श्वेताश्वतर का कथन है - 'जिसकी परमात्मा में परमभक्ति है तथा जिस प्रकार की प्रगाढ़ भक्ति परमात्मा में है उसी प्रकार की भक्ति गुरु में है तो ऐसे ही महात्मा तुल्य पुरुषों के हृदय में सत्य-ज्ञान का रहस्य प्रकाशित होता है[३]। परमेश्वर और गुरु दोनों की भक्ति पर बल प्राचीन काल से चला आता है, उसका एकमात्र कारण यही है कि साध्य भले ही परब्रह्म हो लेकिन

---

१ नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूंस्वाम् । वही, १।२।२३

२ सर्वा आशा मम हृदयं च मम सर्वे संस्था वृश्चन्ते अस्मिन हंसो भ्रामयन्ते ब्रह्मचक्रे ।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ।। श्वेताश्वतर १।६

३ यस्य देवे पराभक्तिः यथा देवे तथा गुरौ
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः । श्वेताश्वतर ६।२३

परमगुरुदेव की कृपा के बिना उसको प्राप्ति कठिन होती है । अनुभव यही कहता है कि अध्यात्म के मार्ग में गुरु के अभाव में एक कदम भी आगे बढ़ना कठिन होता है।

सिद्धावस्था

महान् गुरु ही शिष्य का निर्माण करते हैं । जिसे भाग्यवश सद्गुरु की प्राप्ति हो जाती है वही सही साधक भी बन पाता है । साधक को उपनिषदों में धीर कहा गया है अर्थात् जो मार्ग की कठिनाई से विचलित नहीं होता है और किसी भी परिणाम को प्राप्त करके, शोक नहीं करता है[१]। ऐसे ही पुरुष सत्य, तप और ब्रह्मचर्य के व्रती होते हैं और पूर्वोक्त साधनाओं से वे सर्वांतोभावेन निर्दोष स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं । क्षीणदोष होने पर उन्हें परमात्मत्व की प्राप्ति अवश्यमेव हो जाती है[२]। जिन्हें परमतत्व की प्राप्ति हो जाती है, ऐसे ही वीतराग विशुद्ध अन्तःकरण वाले व्यक्ति को कृषि कहते हैं । कृषि-स्थिति को प्राप्त पुरुष ज्ञानतृप्त होते हैं, उनका चित्त सम्पेक्षयेण प्रशान्त हो जाता है, वे ब्राह्मीभाव से ओत-प्रोत हो जाते हैं या यों कहें ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं[३]। ये विद्वान कृषि मय-मुक्त होते हैं[४]। साधना की पूर्णता की स्थिति में ये महात्मा मुक्त और पूर्ण अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, जिस स्थिति का वर्णन असम्भव है लेकिन साधनावस्था में भी उन्हें अनेक प्रकार के रहस्यपूर्ण अनुभव होते हैं । कुहरा, धुआं, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, बिजली, तथा स्फटिक मणि के दृश्य साधक को दिखाई देते हैं । साधक को नीरोगिता

---

१ ---धीरो न शोचति । कठ० १।२।२२

२ सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो, यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः
मुण्डक ३।१।५

३ सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः
ते संवर्गी सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति । मुण्डक ३।२।५

४ ----- विद्वान न बिभेति कुतश्चनेति । तैत्तिरीय वल्ली २।९

प्राप्त हो जाती है तथा उसे हल्केपन का भी अनुभव होने लगता है साथ ही साथ उसका वर्ण उज्ज्वल हो जाता है, स्वर मधुर हो जाता है, शरीर गन्धयुक्त हो जाता है तथा वह स्वयं निष्पाप हो जाता है[१]।

इस अध्ययन के निमित्त मूलत: प्राचीन उपनिषदों को ही चुना गया है। प्राचीन उपनिषदों में क्रमश: बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, केन, कौषीतकि, कठ, ईश, श्वेताश्वतर, मुण्डक, महानारायण, प्रश्न, माण्डूक्य और मैत्रायणी की गणना की जाती है[२] किन्तु इस संदर्भ में कतिपय अपेक्षाया नवीन उपनिषदों का उपयोग किया गया है, केवल इसलिए कि संत-साहित्य के संदर्भ में उनका उपयोग उपनिषदों के साथ ही उचित ठहरता है और विषय-साम्य की दृष्टि से भी वे पूर्ववर्ती उपनिषद साहित्य के ही समीप हैं।

गीता

उपनिषद् ज्ञान का एकत्र समाहार गीता में उपलब्ध होता है। अपनी संक्षिप्तता, व्यापकता और विषय संबंधी गूढ़ता के कारण यह ग्रन्थ, एक महान् उपजीव्य ग्रंथ की भांति रहस्यदर्शियों के उपयोग में आता रहा है। युद्ध-क्षेत्र में ज्ञान की अभिव्यक्ति एक सांकेतिक रहस्य है, जिसका अभिप्राय संघर्षरत जीवन से पलायन नहीं करके ज्ञान और आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति

---

१ श्वेताश्वतर, अध्याय २।११,१३,१५।

२ ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, मैकडानेल, पृ० २२६।
और हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, बेलवलकर तथा रानाडे, भाग २।८६।

है - ऐसा विचारकों द्वारा स्वीकार किया जाता रहा है ।

विभाग

संत विनोबा ने सम्पूर्ण गीता ज्ञान को मुख्य दो विभागों में बांट दिया है - 'सांख्य-बुद्धि अर्थात् आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या शास्त्र और योग-बुद्धि अर्थात् आत्मज्ञान के अनुसार जीवन की कला । शास्त्र और कला मिलकर ब्रह्मविद्या परिपूर्ण बनती है'[१]। संत विनोबा ने आगे चलकर इन दोनों विचारों को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है - 'योगबुद्धि का पहला स्वरूप है कर्तव्य निश्चय । कर्तव्य निश्चय हुए बिना साधना आरम्भ ही नहीं होती । निश्चय के बाद एकाग्रता अर्थात् साधना में तन्मयता, फल पर ध्यान न देते हुए साधना में डूब जाने की वृत्ति, साधनैकशरणता अथवा साधन निष्ठा । यह दूसरी मंजिल है । उसके आगे की मंजिल है चित्त को निर्विकार दशा अथवा समता अवस्था समाधि । वही जब स्थिर, अचल हो जाती है किसी भी झांकी से जब डगमगाती नहीं है तो स्थितप्रज्ञावस्था प्राप्त होती है । इस प्रकार योग बुद्धि की ये चार मंजिलें हैं - (१) साधन निश्चय (२) फल निरपेक्ष एकाग्रता (३) समता अथवा समाधि (४) स्थिर समाधि अखण्ड, निश्चल और सहज'[२]। सम्पूर्ण गीताशास्त्र उपर्युक्त विभागों के भीतर ही समाया हुआ है । इसी बात को लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक महाराज ने सूत्र रूप में रखते हुए स्वीकार किया है कि संपूर्ण गीता में ज्ञान-मूलक भक्ति प्रधान कर्मयोग का ही प्रतिपादन किया गया है[३]।

गीता बनाम निर्गुण ब्रह्म

गीता में यद्यपि भगवान् के सगुण अवतार की चर्चा आई है किन्तु मुख्य विवेच्य निर्गुण-ब्रह्म ही है, ऐसे तिलक महाराज भी स्वीकार करते हैं -

---

१ स्थितप्रज्ञ दर्शन - विनोबा, पृ० १८

२ वही, पृ० १६

३ गीता रहस्य - प्रस्तावना, पृ० १५ ।

गीता में परमेश्वर के व्यक्त-स्वरूप का यद्यपि बहुत वर्णन है, तथापि परमेश्वर का मूल और श्रेष्ठ स्वरूप निर्गुण तथा अव्यक्त ही है; और मनुष्य मोह या अज्ञान से उसे सगुण मानते हैं[१]। वह अजन्मा है, अव्यय है अर्थात् उसका सही स्वरूप अव्यक्त ही है[२]। उस अव्यक्त निर्गुण को कर्ता मानना मूर्खता है[३]। वह सर्वव्यापी कुछ नहीं करता है, अज्ञानवश ही उसे कर्ता रूप में स्वीकार किया जाता है[४]। वह अव्यक्त और अपार मन बुद्धि से परे और अकथनीय है[५]। बार बार निर्गुण और निर्गुण के अन्य समानार्थी शब्दों के प्रयोग गीता में मिलते हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि गीताकार का अभीप्सित तत्व निर्गुण ही है। निर्गुण होकर भी वह अपनी योगमाया से कर्तृत्व की शक्ति धारण करता है लेकिन यह कर्तापन उसका वास्तविक कर्तापन नहीं है[७]। उस निर्गुण में व्यक्ति भाव का आरोप इसलिए ही होता है कि लोग अपनी बुद्धिहीनता के कारण उसके तात्त्विक रहस्य को नहीं जान पाते हैं[८]। सगुण की चर्चा से गीता खाली नहीं है लेकिन इस सगुणोपासना की व्यवस्था मात्र सामान्य व्यक्तियों के लिए है जो आध्यात्मिक अथवा वैचारिक दृष्टि से हीन स्थिति में हैं। निर्गुण तत्व की प्राप्ति के लिए गुणातीत होना आवश्यक है, गुणातीत्य की यह स्थिति साधक को अपने व्यवहार और ज्ञान के दोनों धरातलों पर लानी होती है।

गुणातीत दशा

व्यावहारिक भूमिका पर गुणातीत होने से तात्पर्य है - सतोगुण प्रधान, रजोगुण प्रधान और तमोगुण प्रधानभूमिका से ऊपर उठकर तटस्थता

---

१ गीता रहस्य - प्रस्तावना, पृ० २११
२ अजो पि सन्नव्ययात्मा, गीता ४।६
३ गीता ३।२७-२९
४ नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभु:
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तव: । ५।१५
५ वही, १२।३-४
६ वही, १३।१४
७ वही, १३।३१
८ वही, ५।२४ ।

क ज्ञान के चिन्तन से ऊपर उठकर परमज्ञान की प्राप्ति करना । अध्यात्म
क्षेत्र में वेदज्ञान भी स्पृहणीय नहीं है कारण कि यह ज्ञान भी त्रिगुणात्मक
ज्ञान की ही परिधि में आता है । संतों का भी मन्तव्य वेदज्ञान से उठकर
परमज्ञान को प्राप्त करना ही रहा है। कबीरादि संतों को इस दिशा में प्रेरणा
गीता से ही मिली होगी क्योंकि उनकी वाणी और गीता के कथन में अधिक
साम्य है । गीता में कहा गया है - वेद में प्रतिपादित विषयों का सम्बन्ध
त्रिगुणात्मक जागतिक प्रपंचों से है । अत: जो ब्रह्म को जान लेता है उसके लिए
वेद का ज्ञान उतना ही अर्थहीन हो जाता है जितना नदी को प्राप्त कर लेने
पर किसी गंदे तालाब का जल[४]।

---

१ प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति । गीता १४।२२

२ उदासीन वदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते । १४।२३

३ समदु:ख सुख स्वस्थ: समलोष्टाश्मकांचन:
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुति ।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयो:
सर्वारम्भ परित्यागी गुणातीत: स उच्यते । १४।२४,२५

४ त्रैगुण्य विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान ।
यावानार्थ उदपाने सर्वत: संप्लुतोद के
तावान सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानत: । गीता २।४५,४६ ।

तृष्णानाश

रहस्यदर्शी साधक को सर्वप्रथम अपने मन का संस्कार करना पड़ता है । मन को अथवा चित्त को संस्कृत करने की प्रक्रिया द्विधात्मक है । मन से कामनाओं का पूर्णतया निष्कासन, पहली क्रिया है फिर वासना - परिशुद्ध मन में परमेश्वर की प्रतिष्ठा करना, यह दूसरी क्रिया है अर्थात् पहली क्रिया निषेधात्मक है और दूसरी विधेयात्मक । उस दुहरी प्रक्रिया से संस्कार-क्रिया पूर्ण होती है । इसी बात को गीता में 'प्रजहाति यदा कामना' और 'आत्मन्येवात्मनातुष्ट:' इन दो निषेधक और विधेयक लक्षणों से बताया गया है[१]। कुल मिला कर गीताकार का तात्पर्य यही है कि तृष्णानाश के उपरान्त आत्मदर्शन सम्भव है ।

मार्ग : कर्म, भक्ति और ज्ञान

कामना के पूर्णरूपेण निरसन और आत्मस्थिति की प्राप्ति के लिए गीता में तीन प्रमुख मार्ग बताए गए हैं लेकिन वस्तुत: इन तीनों मार्गों को मिलाकर एक पूर्ण मार्ग बनता है । ये तीन मार्ग कर्म, भक्ति और ज्ञान मार्ग के नाम से प्रसिद्ध हैं, इन्हें कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग भी कहा जाता है । इन तीनों योगों को एकत्र कर देने के उपरान्त पूर्णयोग की कल्पना की जा सकती है और यही सम्पूर्ण योग गीता को अभिप्रेत है । कर्म जब व्यक्ति के लिए स्वार्थबुद्धि से किया जाता है तब बन्धनकारी होता है लेकिन लोकार्थ किया जाता है तो मुक्तिदाता बन जाता है । लोकार्थ कर्म के लिए गीता का शब्द 'यज्ञ' है । कर्मयोग, श्रेष्ठ योग है[२]। यथार्थ कर्म मुक्त करने वाला

---

१ प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्
आत्मन्येवात्मनातुष्ट: स्थितिप्रज्ञस्तदोच्यते । गीता २।५५

२ कर्मेन्द्रिये: कर्मयोगमसक्त: स विशिष्यते । गीता ३।७

है और इतर कर्म-बन्धनकारी हैं[1]।

भक्ति मार्ग साधना का सरल और प्रशस्त मार्ग है जहां वासनाओं की अशुचिता को शुचिता में परिवर्तित करना पड़ता है। कहने का तात्पर्य, वासनाओं का त्याग न करके उनको उदात्त बना देना पड़ता है, बहिर्मुख वासना को चिन्मोन्मुख कर देना पड़ता है। जगत् के प्रपंच धर्म का त्याग करके, चैतन्य धर्म के आश्रित होना पड़ता है, परिणाम स्वरूप साधक का बद्धार्पित अस्तित्व चैतन्य के सम्पर्क से चैतन्य हो जाता है[2]।

ज्ञान-मार्गीका मार्ग उपर्युक्त मार्ग की भांति सरल और प्रशस्त नहीं होता है क्योंकि इस मार्ग में साधक को अपनी वासना को क्रमश: सूक्ष्म से सूक्ष्मतर करते हुए अन्त में परमतत्व में विलीन कर देना होता है। एक बार जब साधक के अन्त:करण में ज्ञानाग्नि प्रज्वलित हो जाती है तब वह उसके चित्त की कर्मज वासनाओं को भस्म कर देती है[3]।

सम्पूर्णयोग

इस प्रकार सबको मिलाकर एक सम्पूर्ण-योग बनता है, सम्पूर्ण इस अर्थ में कि व्यक्ति का सम्पूर्ण अस्तित्व उसके कर्म, उसकी भावनाओं और उसके विचारों को मिलाकर ही बनता है। इसमें भी एक दूसरे का अन्योन्याश्रय है। इस प्रकार साधक कर्म योग से अपने कर्मों का परिष्कार करता है, भक्ति

---

१ यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन:
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्त संग: समाचर। गीता ३।९

२ सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच:। वही १८।६६

३ यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन
ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा। वही ४।३७

योग से भावनाओं का संस्कार करता है और ज्ञान योग से विचारों को परिशुद्ध करता है । केवल भक्त गलदश्रु भावुक हो जाता है, मात्र ज्ञानी, शुष्क और नीरस हो जाता है और कर्मयोगी, महत्वाकांक्षी हो जाता है । जिस योग के लिए मैंने सम्पूर्ण योग शब्द को उचित समझा है, उसके लिए मनस्वी तिलक ने अध्यात्म शब्द का प्रयोग किया है - 'ज्ञानमार्ग श्रेष्ठ है अथवा भक्ति मार्ग श्रेष्ठ है ? यद्यपि ये दोनों साधन प्रथमावस्था में अधिकार या योग्यता के अनुसार भिन्न हों तथापि अन्त में अर्थात परिणाम रूप में दोनों की योग्यता समान है; और गीता में इन दोनों को एक ही 'अध्यात्म' नाम दिया गया है (११-१)'[१] ।

यज्ञ

प्राणायाम, ध्यान, स्मरण इत्यादि विधियों की चर्चायें भी गीता में हैं लेकिन ये सभी उपर्युक्त योगों के साधनरूप में स्वीकार किए गए हैं । इनको स्वतंत्र योग के रूप में विवेचित नहीं किया गया है । यज्ञ शब्द को भी व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा गया है अर्थात् संयमयज्ञ, द्रव्ययज्ञ, तपयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, योगयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ और प्राणायामयज्ञ की भी चर्चा है । प्राण में प्राण को होमना अथवा प्राण में अपान को होमना प्राणायामयज्ञ है । ब्रह्मयज्ञ के होता के लिए हविष्य और अग्नि भी ब्रह्म ही है[२]। संयम, दान, स्वाध्याय और आसनादि को भी यज्ञ की संज्ञा दे दी गयी है । पूर्वोक्त सभी साधनों को रहस्य साधना में आवश्यक माना गया है ।

प्राणायाम

प्राणायाम-युक्त ध्यान की भी व्यवस्था गीता में मिलती है - चित्त को विषयों से हटाकर, दृष्टि को भृकुटि के मध्य में स्थित करते हुए

---

१ गीता रहस्य - पृ० ४१६

२ गीता ४।२४-३० तक ।

और प्राणवायु तथा अपान वायु सम करे । इस साधन को मुक्तिप्रद माना गया है[१] ।

युक्त-जीवन और ध्यान

शरीर की रक्षा के लिए भोजन और अन्य वस्तुओं की आवश्यकता होती ही है । गीता इन वस्तुओं के असंग्रह का आदेश देती है । निरशन के लिए भी गीता का आदेश है लेकिन इसका तात्पर्य पूर्ण अनशन से नहीं बल्कि युक्ताहार से ही है । 'निराशी' होने का दूसरा तात्पर्य मन से विषयों को समाप्त करने से भी लिया जा सकता है । पूर्वोक्त कृत्यों के पश्चात् एकान्त स्थान में बैठकर आत्मानुसंधान किया जा सकता है । अन्तःकरण की शुद्धि के लिए मन को एकाग्र करना एक प्रभावकारी विधि है और अचल धारणापूर्वक नासिकाग्र पर दृष्टि एकाग्र करते हुए, परमात्मचिन्तन से परमशान्ति रूप निर्वाण को प्राप्त किया जा सकता है[२]। निर्वात निष्कम्प दीपशिखा की भांति अविचल ध्यान ही चित्त में विषयों को आने से रोकता है और ऐसे ही परिशुद्ध चित्त के द्वारा आत्मा में परमात्मा को नियोजित किया जा सकता है[३]।

नामस्मरण

अनन्य भाव से निरन्तर परमेश्वर को स्मरण करने से साधक का चित्त परमेश्वर मय हो जाता है और उसे सहज ही परमेश्वर की प्राप्ति हो जाती है[४]। स्मरण आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के हो सकते हैं । दूसरे प्रकार के स्मरण को 'कीर्तन' कहा गया है[५] । कीर्तन करते हुए मन को

---

१ गीता - ५।२७
२ वही, ६।१०-१५
३ वही, ६।१९-२०
४ वही, ८।१४
५ वही, ९।१४ ।

परमेश्वर के साथ संयुक्त करने से यह साधन अधिक प्रभावकारी बन जाता है ।

विश्वरूप-दर्शन

ग्यारहवां अध्याय विश्वरूप दर्शन का है । विश्वरूप दर्शन यानी साक्षात्कार, चाहे उसे ब्रह्म साक्षात्कार कहें चाहे आत्म साक्षात्कार, क्योंकि रहस्यदर्शी संतों का कहना है कि जो कुछ पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में भी है । मेरे विचार से गीता का अध्यात्मशास्त्र दसवें अध्याय तक समाप्त हो जाता है और उसके पश्चात् ब्रह्मदर्शन अथवा विश्वदर्शन नामक ग्यारहवां अध्याय प्रारंभ होता है । यह कोई संयोग की बात नहीं है बल्कि समझबूझ कर इस प्रकार अध्यायों की संयोजना की गयी है । रहस्य साधना के क्षेत्र में दशम द्वार का बहुत महत्व है, इस दसवें द्वार के खोलने के बाद ही ब्रह्मसाक्षात्कार होता है; ऐसा इस साहित्य के अध्येताओं को ज्ञात ही है । अतः इस रहस्यात्मक दृष्टि से भी मुझे इस अध्याय का विशेष महत्व लगता है ।

मोह-नाश

यह दिव्य दर्शन हर एक के लिए सम्भव नहीं है । इसका अधिकारी वही साधक हो सकता है जिसके अन्तःकरण के मोह अथवा अज्ञान का नाश हो गया हो[१]। जिस साधक का मोहनाश के परिणामस्वरूप अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है तो ऐसे ही साधक को दिव्यदृष्टि की प्राप्ति होती है[२]। दिव्य दृष्टि प्राप्त पुरुष ही दिव्यदर्शन कर सकता है ।

---

१ यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम । ११।१

२ न तु मां शक्य से द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगैश्वरम् ।
वही ११।८

अनन्याभक्ति

ग्यारहवें अध्याय के चौवनवें श्लोक में अनन्याभक्ति की चर्चा है[१] तथा पचपनवें श्लोक में अनन्यभक्त का स्वरूप वर्णित है । अगला बारहवां अध्याय इन्हीं दो श्लोकों की विस्तृत व्याख्या है, जिसमें विस्तारपूर्वक अनन्याभक्ति और भक्त के स्वरूप को बताया गया है । अत: बारहवें अध्याय को ग्यारहवें अध्याय का विस्तार ही माना जा सकता है । पिछले दस अध्यायों में जो अध्यात्म साधना प्रस्तुत की गयी है उसकी प्रस्तावना ही बाद के इन शेष अध्यायों में है जिसमें क्षेत्र, गुण, पुरुषोत्तम, दैवासुरसंपद् और श्रद्धादि विषयों की सूक्ष्मता पूर्वक जानकारी दी गई है । अन्तिम अध्याय तो इस शास्त्र का उपसंहार है ।

आत्मज्ञान

आध्यात्मज्ञान और आध्यात्म-साधना की परिणति मोहनाश में है[२] । मोह-नाश की स्थिति को अनेक अन्य समानार्थी पदों द्वारा स्थान स्थान पर संकेतित किया गया है । तिलकजी के निष्कर्ष भी समान ही हैं - 'पूर्ण आत्मज्ञान जब और जहां होगा, उसी क्षण में उसी स्थान पर मोक्ष धरा हुआ है । क्योंकि मोक्ष तो आत्मा ही की मूल शुद्धावस्था है । शिव गीता में श्लोक है[३] - अर्थात् मोक्ष कोई ऐसी वस्तु नहीं, कि जो किसी स्थ

---

१ भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप । ११।५४

२ नष्टो मोह: स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत
स्थितोऽस्मि गतसंदेह: करिष्ये वचनं तव । गीता १८।७३

३ मोक्षस्य नहि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा
अज्ञान हृदय ग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृत: । शिवगीता १३।३२ ।

स्थान में रहा हो; अथवा यह भी नहीं, कि उसकी प्राप्ति के लिए किसी दूसरे गांव या प्रदेश जाना पड़े । वास्तव में हृदय की अज्ञान ग्रन्थि के नाश हो जाने को ही मौक्ष कहते हैं । इसी प्रकार आध्यात्मशास्त्र से निष्पन्न होने वाली भगवद्गीता के - जिन्हें पूर्ण आत्मज्ञान हुआ है, उन्हें ब्रह्मनिर्वाण रूपी मौक्ष आप ही आप प्राप्त हो जाता है[१]; त्था 'य: सदा मुक्त एव स:'[२] इस श्लोक में वर्णित है । इसीको 'ब्रह्मभूत'[३] या 'ब्राह्मी स्थिति'[४] कहते हैं, 'भक्तिमान'[५] या 'त्रिगुणातीत'[६] पुरुषों के विषय में जो वर्णन हैं, वे भी इसी अवस्था के हैं[७] ।

उपर्युक्त अवस्था-प्राप्त साधक का सम्पूर्ण जीवन रूपान्तरित हो जाता है । उसके सम्पूर्ण लौकिक कर्म उपासनामय हो जाते हैं, वह स्वधर्मानुरूप निष्काम-कर्म के आचरण से ही परमेश्वर की उपासना करता है[८] । 'अधिक क्या कहें; इस श्लोक का और समस्त गीता का भी भावार्थ यही है, कि स्वधर्मानुरूप निष्कामकर्म करने से सर्वभूतान्तर्गत विराट्-रूपी परमेश्वर की एक प्रकार की भक्ति, पूजा या उपासना ही हो जाती है'[९]। वस्तुत: यही कर्म-रूपान्तरण-प्रक्रिया ही संतों का सहज योग है ।

श्रीमद्भागवत
==========

रहस्य-साधना के क्षेत्र में भक्तिसाधना अथवा भावसाधना का महत्त्व कम नहीं है । मध्य काल की सम्पूर्ण भावसाधना किसी न किसी रूप में महा-

---

१ अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् । गीता ५।२६ ।
२ वही - ५।२८
३ वही - १८,५४
४ वही - २-७२
५ वही - १२।१३-२०
६ वही - १४।२२-२७
७ गीतारहस्य - पृष्ठ २५१
८ यत: प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव: । गीता १८।४५
९ गीता रहस्य - पृ० ४४० ।

भागवत, शाण्डिल्य-भक्ति सूत्र और नारदभक्ति सूत्र से अनुप्राणित होती रही है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तो भागवत् को बेजोड़ माना है क्योंकि यह ग्रंथ कवित्वशक्ति, शास्त्रीय तत्व और ज्ञानचर्चा में किसी को अपना प्रतिद्वन्दी नहीं मानता[१]। डा० रामनारायण पाण्डेय ने तो उपर्युक्त तीनों ग्रन्थों को रहस्यवादी प्रगति की मूल कृति के रूप में स्वीकार किया है[२]।

प्रतिपाद्य

यद्यपि परम सत्ता से भावात्मक परमतन्मयता तथा एकता, महाभागवत पुराण का प्रतिपाद्य है फिर भी सहायक साधना के रूप में अन्यान्य योगों की चर्चा इस ग्रन्थ में उपलब्ध है। अष्टांगयोग का संक्षिप्त किन्तु तात्त्विक निर्देश भागवतकार ने दिया है क्योंकि यमनियमादि रहस्यसाधना के आवश्यक और उपयोगी साधन हैं। मलिन-देहधारी मनुष्य का चित्त प्रकृत्या कुमार्गगामी होता है उसे यत्नपूर्वक एकाग्र करके परमात्मा के ध्यान में लगाया जा सकता है[३]। दृढ़ आसन पूर्वक प्राणायाम के अभ्यास से प्राणवायु का शोधन हो जाता है और मन निर्मल हो जाता है फिर निर्मल मन ध्यान की योग्यता प्राप्त करता है[४]। सतत् ध्यानाभ्यास से साधक में परम-प्रेम का उदय होता है और उसका हृदय भक्ति से परिपूर्ण हो जाता है। भक्ति के प्रभाव से मन शान्त होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है[५]। नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि का संयम करना, हृदयकमल में ॐ का चिन्तन करते हुए प्राणवायु को ऊपर ले जाने से नाद

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ७५

२ भक्ति काव्य में रहस्यवाद, डा० रामनारायण पाण्डेय, पृ० ५१

३ रजोरन्यैश्च पथिभिर्मनो दुष्टमसत्पथम्
हृदया यंमित शनकैर्जितप्राणो अतन्द्रित: । श्रीमद० ३-२८-७

४ वही, ३।२८।८-१२

५ वही, ३४-३५

का अनुसंधान होता है[१]।

निर्गुणभक्ति

यद्यपि भागवत सगुणभक्ति के प्रति समर्पित ग्रंथ है फिर भी निर्गुण-भक्ति की महिमा स्वीकार करने में भागवतकार ने संकोच का अनुभव नहीं किया है। भाव के अनुसार भक्ति को तामस, राजस और सात्त्विक तीन वर्गों में विभाजित किया गया है लेकिन निर्गुण-भक्ति को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया गया है। निर्गुण भक्ति की प्राप्ति मन की अजस्र तैल धारावत एकतानता और हृदय की अनन्य तन्मयता से होती है[२]। यह भक्तियोग चित्त को राग द्वेषादि से पूर्णतया मुक्त कर देता है और फिर मुक्तचित्त परमेश्वर का आश्रय स्थल बन जाता है[३]। निर्गुण भक्त प्राणिमात्र में उस परमात्मतत्व का दर्शन करता हुआ, मूर्तिपूजा की हीन उपासना से विरत रहता है[४]।

भाव प्रधान रहस्यानुभूति

भक्ति के इस महान् ग्रंथ में 'चीर हरण' और 'महारास' के प्रसंग अत्यन्त काव्यपूर्ण और मनोहारी हैं लेकिन यह कहना भी गलत नहीं होगा कि भावप्रधान रहस्यानुभूति का सर्वोच्च दर्शन इन्हीं दो प्रसंगों में ही प्राप्त होता है। इन दो प्रसंगों के समस्त कार्य-कलाप रहस्य की दिव्य गरिमा से मरे पड़े हैं। रहस्यवाद के विद्वान विद्वान् प्रोफेसर रानाडे का भी विचार है कि, 'कृष्ण और गोपियों के सम्बन्ध वासनापूर्ण थे, इसकी कल्पना भी कठिन है। इस प्रकार के असत्य की खोज तो वस्तुत: उन परवर्ती पुराण

---

१ भागवत - ११।१४।३२-३३

२ वही, ३।२६।७-१२

३ वही, ।२०
२१-२३

4 Mysticism in Maharastra, page 11.

के कर्त्ताओं के द्वारा की गई है जिन्हें दिव्य-जीवन के स्वरूप की सही जानकारी नहीं थी[1]।

रहस्यदर्शी साधकों और विद्वानों ने 'चीर हरण' प्रसंग की सही व्याख्याएं प्रस्तुत की है। श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार जी का विचार है, 'आध्यात्मवादी श्रीकृष्ण को आत्मा के रूप में देखते हैं और गोपियों को वृत्ति रूप में। वृत्तियों का आवरण नष्ट हो जाना ही 'चीर हरणलीला' है और उनका आत्मा में रम जाना 'रास' है। —— साधकों के लिए किस प्रकार कृपा करके भगवान् उनके अन्तर्मल को और अनादिकाल से संचित संस्कारपुंज को विशुद्ध कर देते हैं, यह बात इस चीर-हरण-लीला से प्रकट होती है'[1]।

भागवत का दशम स्कन्ध साधकों, भक्तों और रहस्यप्रेमियों के मध्य बहुचर्चित रहा है। यह कुछ संयोग की बात है अथवा जानबूझ कर किया गया प्रयास है कि गीता और महाभागवत दोनों के दशम अध्याय रहस्य पूर्ण अध्याय हैं। रहस्यदर्शी संतों ने दशम-द्वार की महत्ता का गुणगान किया है जिसके खुल जाने के बाद सत्य का साक्षात्कार हो जाता है। इन दशम अध्यायों की तुलना दशमद्वार से ही की जाती है।

महारास भगवान् की योगमायाशक्ति की अचिन्त्य क्रीड़ा है[2], कोई लौकिक प्रेम विलास नहीं। तभी तो रासगत अल्पकालिक वियोग की स्थिति में गोपियों के शेष सभी संस्कार भस्म हो जाते हैं और ध्यान में भगवान का प्राकट्य होता है[3]। वस्तुतः यह भक्ति की रागात्मिका स्थिति का परिपाक ही है जिसे भागवतकार ने 'तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगताः'[4] शब्दों

---

१ भागवत - नोट, द्वितीय खण्ड, पृ० २७२

२ भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिका
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः। १०।२९।१

३ वही, १०।२९।१०

४ वही, ।११

के द्वारा व्यक्त किया है । जार-भाव अर्थात् परकीय-भाव स्वकीय-भाव से अधिक तल्लीनता युक्त होता है । इस परम-सम्बन्ध संस्थापन के द्वारा साधक अपनी वृत्तियों को भगवान् से जोड़ देता है तो उसकी वृत्तियां भगवन्मय हो जाती हैं और भगवान् की प्राप्ति हो जाती है[१]।

रासक्रीड़ा वर्णन के अन्त में यह कहा गया है कि जो श्रद्धापूर्वक इस रास के वर्णन का श्रवण करता है, उसे शीघ्र ही हृदयरोग अर्थात् कामनाओं से मुक्ति मिल जाती है तथा उसे परा भक्ति की प्राप्ति होती है[२]। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह महारास निश्चितरूप से कोई लौकिक क्रिया नहीं है । 'गोपिकाएं कृष्ण के साथ तन्मय होकर विहार करती हैं, मानो जीव अपने सब बन्धनों से मुक्त होकर अपने स्वरूप (कृष्ण) को पहचानता है और उसी आनन्द में विभोर होकर क्रीड़ा करता है । यहां कृष्ण गोपिकाएं दो नहीं रहीं, एक ही हो गयी हैं'[३]। भागवत का दशम स्कन्ध इतना महिमा शाली है कि अनेक आचार्यों ने इस पर अपना अभिमत दिया है और अपनी पद्धति से उसके रहस्य को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है । 'उन लोगों ने बड़े विस्तार से रास लीला की महिमा समझायी है । किसी ने इसे काम पर विजय बताया है, किसी ने भगवान् का दिव्य विहार बतलाया है और किसी ने इसका आध्यात्मिक अर्थ किया है । भगवान् श्रीकृष्ण आत्मा हैं, आत्माकार वृत्ति राधा हैं और शेष आत्माभिमुख वृत्तियां गोपियां हैं । उनका धाराप्रवाह रूप से निरन्तर आत्मरमण ही रास है'[४]।

---

१ कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते । वही, १५

२ विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः
भक्तिंपरां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ।
भागवत १०।३३।४०

३ महाकवि सूरदास - आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० १३३

४ भागवत (नोट) - हनुमान प्रसाद पोद्दार, पृ० ३३७ ।

भागवत के अतिरिक्त अन्य कतिपय पुराणों में भी भक्ति की चर्चा है लेकिन भागवत सर्वाधिक प्रिय और प्रख्यात पुराण रहा है जिसने परवर्ती रहस्यदर्शियों को प्रभावित किया है । सही अर्थों में भावात्मक - रहस्यवाद का शुद्ध स्वरूप इस ग्रंथ में ही मिलता है । यही कारण है कि रहस्य-विवेचन के लिए मात्र इसी पुराण को चुना गया है ।

नारद-भक्ति-सूत्र तथा शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र

'भक्ति नारदी मगन सरीरा' कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि संतों पर निश्चितरूप से नारदादि भक्तों का प्रभाव है । संत साधना में उपलब्ध प्रेमाभक्ति के तत्व निसन्देह इन भक्ति-ग्रन्थों के प्रसाद स्वरूप हैं जिन्हें कुछ विद्वान् सूफी तत्वज्ञान की देन मानते हैं । प्रो० रानाडे शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र को नारद-भक्ति-सूत्र से प्राचीन मानते हैं, इसलिए कि नारद ने शाण्डिल्य का उद्धरण दिया है । वे दोनों की भक्ति को भिन्न प्रकार की मानते हैं तथा नारद भक्ति सूत्र की पारदर्शी अभिव्यक्ति और तन्मयभक्ति के कारण उसे अधिक श्रेष्ठ भी स्वीकार करते हैं[१] । शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र के लिए प्रो० रानाडे का मत कुछ आग्रहपूर्ण प्रतीत होता है । सत्य तो यह है कि शाण्डिल्य ने जहां दार्शनिक विषयों पर विचार किया है, वहां वे एक विचारक की भांति प्रतीत होने लगते हैं लेकिन जहां उन्होंने भक्ति का विवेचन किया है वहां वे नारद की भांति ही सरल और तरल हैं ।

भक्ति परम प्रेम स्वरूप है[२] अर्थात् प्रेमास्पद के प्रति अनन्य आसक्ति स्वरूप है । जो परम प्रेम का कर्ता है - वह सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता

---

१ Mysticism in Maharastra, page 12.

२ सा तस्मिन परम प्रेमरूपा - ना० भ० सू० २

है और तृप्त हो जाता है[१]। सिद्ध वह है जो इच्छा, शोक और द्वेष से रहित है। अतः दूसरे शब्दों में वह अनासक्त है[२]। अमृत वह है जो प्रेमोन्मत्त है क्योंकि वह आत्मा में रमण करता है तथा इस उन्माद की अवस्था में स्तब्ध हो जाता है। जगत के कार्य व्यापार उसे विचलित नहीं करते क्योंकि उसे इसकी अभिज्ञता नहीं होती। मरते तो वे हैं जिनकी कामनाएं निरन्तर जन्म लेती हैं और मरती हैं[३]। तृप्त वह है जो कामना हीन है। वस्तुतः कामना ही अतृप्ति है[४]। उसे एक ही कामना है प्रियतम की[५]। नारद ने रहस्यदर्शी के स्वरूप को बताया है कि वह परमप्रेमी होता है। वह सिद्ध, अमर और तृप्त होता है। सिद्धि, अमरता और तृप्ति को भी उन्होंने विवेचित कर दिया है।

भक्ति

भक्ति को परानुरक्ति कहें अथवा परम प्रेम कहें - मात्र शब्द भेद है, तत्वतः बात एक ही है[६]। परानुरक्ति शब्द शाण्डिल्य को प्रिय है तो परमप्रेम नारद को। परम प्रेम अथवा परम अनुरक्ति का लक्षण यह है कि प्रेमी के सारे कार्य-व्यापार प्रेमास्पद के निमित्त होते हैं - यह स्थिति तो संयोगदशा में होती है लेकिन जब कभी वियोग की स्थिति आती है तो प्रेमी परम व्याकुल हो जाता है[७]। अतः शास्त्रकार ने प्रेमी की दोनों दशाओं की स्थिति भी बता दी है। परम प्रेम की स्थिति को प्राप्त करना अत्यन्त

---

१ यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धोभवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति - वही ४

२ यत्प्राप्य न किंचिद्वांछति न शोचति न द्वेष्टि, न रमते नोत्साही भवति- वही-५

३ यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति- वही-६

४ सा न काम यमाना निरोधरूपत्वात् । वही-७

५ अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता । वही-१०

६ सा परानुरक्तिरीश्वरे - शाण्डिल्य भक्ति सू० - २

सा त्वस्मिन परम प्रेमरूपा - ना०भ०सू० - २

७ तदर्पिताखिला चारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति । ना०भ०सू० १६

कठिन है । अब तक परमानुरक्ति के निकष पर मात्र गोपियां ही खरी उतरी हैं[१] ।

प्रेम परमसूक्ष्म तत्व है अत: अनिवर्चनीय है[२] । इसकी संवेदना की केवल अनुभूति सम्भव है - कथन नहीं[३] । परमप्रेम की स्थिति की प्राप्ति असम्भव नहीं तो कठिन अर्थात् विरल है[४] । इस स्थिति को यद्यपि प्राप्त करना कठिन तो है लेकिन अब एक बार प्राप्त हो जाती है तो निरन्तर बढ़ती रहती है[५] । अत:अब सर्वतोभावेन यह निश्चित हो गया कि परमप्रेम की स्थिति सर्वश्रेष्ठ स्थिति है[६] । प्रेम और तज्जन्य तन्मयता की स्थिति लय की स्थिति है ज्ञान की स्थिति नहीं । जितनी तन्मयता बढ़ती है उतना आनन्द बढ़ता है और परमतन्मयता की स्थिति में परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है[७] ।

भक्त का स्वरूप

प्रेमी भक्त अथवा रहस्यदर्शी में दैन्यभाव अर्थात् अहंकार हीनता होती है[८] । उसे एकान्त प्रिय होता और त्रिगुणातीत स्थिति को प्राप्त होकर जगत के सारे बन्धनों को तोड़ देता है[९] । सब कुछ त्याग कर वह निर्द्वन्द्व हो जाता है[१०] । वह परम तन्मय होकर भक्ति में लीन रहता है[११] । रहस्य-दर्शी में परमेश्वर के प्रति सम्मान बुद्धि, नाम के प्रति आदर, भक्त-भगवान के

---

१ यथा व्रज गोपिकानाम् , ना०भ०सू० - २१

२ अनिवर्चनीयं प्रेम स्वरूपं, वही ५१

३ मूकास्वादनवत, वही ५२

४ प्रकाशते क्वापि पात्रे, वही ५३

५ वही, ५४

६ वही, ८१

७ तत्रोपपत्तेश्च तथा भावाद्रसश्रुतेश्च राग: । शा०भ०सू० ५,६

८ दैन्यप्रियत्वाच्च - २७

९ यो विविक्त स्थानं सेवते, यो लोकबन्धमुन्मूलयति, निस्त्रैगुण्यो भवति, योग क्षेमं त्यजति - ४७

१० य: कर्म फलं त्यजति, कर्माणि सन्न्यस्यति ततो निर्द्वन्द्वो भवति - ४८ ।

११ वही, ४६,६७,७० ।

ऐसे व्यक्ति के सभी कर्म भगवान को अर्पित हो जाते हैं। जब यह समर्पण-बुद्धि स्थित हो जाते हैं तो साधक के कार्यों में शुभाशुभ फल देने की शक्ति नितान्तरूपेण क्षीण हो जाती है[४]। ऐसे पुरुष का जीवन संगरहित अर्थात् विषयासक्ति रहित हो जाता है क्योंकि उसका अन्तःकरण विषय नहीं; नाम से सम्पृक्त हो जाता है[५]। यह स्थिति उन्मन स्थिति से तुलनीय है जिसमें मन तो परमेश्वर से संयुक्त है और तन यंत्रवत कार्यसंपादन में रत है।

---

१ शाण्डिल्य म०सू० - ४४

२ नामुने ति जैमिनिः सम्भवात्, वही - ६१

३ लौकिकापि भगवद्गुणश्रवण कीर्तनात् - ना०भ०सू० ३७। अव्यावृतभजनात् - ३६

४ अबन्धौ अर्पणस्य सुखम् - शा०भ०सू०- ६४

५ तद् विषयत्यागात् संगत्यागाच्च। ना०भ०सू० ३५

दर्शन में प्रीति, विरहानुभूति अन्य विव्हलता, जगत के विषयों के प्रति अरुचि, महिमा वर्णन के प्रति रुचि, जीवन का पूर्णसमर्पण, निरन्तर तल्लीनता आदि कतिपय ऐसे गुण हैं जो प्रत्येक प्रेमीभक्त में पाए जाते हैं[१]।

नामस्मरण

निरन्तर नाम का स्मरण सत्य के साक्षात्कार का एक अव्यर्थ महासाधन है। नाम स्मरण को श्रेष्ठत्व जैमिनि और नारदादि सबने महत्व दिया है[२]। साधक नामस्मरण को साधना क्षण से प्रारम्भ करता है, फिर कीर्तन करता है फिर अन्तःकरण में नाम का स्मरण करता है और धीरे-धीरे एक स्थिति वह आती है जब स्मरण उसका स्वभाव बन जाता है, वह अखंडरूप में अपने आप होने लगता है[३]। यही संतों के अजपाजप की स्थिति है।

ऐसे साधक का जीवन सहज हो जाता है, उसके समस्त कार्य ईश्वर मय हो जाते हैं । वह पूर्ण समर्पित हो जाता है ।

ध्यान

मन जब नाम से युक्त होता है तो चित्त भी स्वत: नामी से युक्त हो जाता है । इसी को ध्यान कहते हैं[1]। ध्यान की जब एकतानता सध जाती है तब वह ध्येय मय हो जाता है[2]।

समदर्शन

प्रेम का मार्ग अभेद का मार्ग है । जहां साधक व्यष्टि की भूमिका पर प्रेमास्पद से अभेद की साधना करता है वहीं जगत के प्रत्येक तत्व से भी अभेद बुद्धि की स्थापना करता है । इसलिए इस मार्ग में सबका प्रवेश है यह मार्ग ऊंच-नीच की संकीर्ण सीमा को हेय मानता है[3]। इतना ही नहीं इससे और ऊपर उठकर सबको नारायण स्वरूप ही मानता है[4]।

मुक्ति

भक्ति की चरम परिणति मुक्ति है - यह मुक्ति जीवन-मुक्ति के रूप में भी सिद्ध है । पराभक्ति अथवा अनन्याभक्ति के कारण कर्ममल का क्षय हो जाता है और साधक मुक्त हो जाता है । बन्धन का कारण जगत के प्रति आसक्ति है और अनन्यासक्ति से विषयासक्ति निर्मूल हो जाती है जो साधक को बन्धनविमुक्त कर देती है[5]। इस मार्ग पर श्रद्धा और विश्वास पूर्वक आरूढ़

---

१ ध्यान नियमस्तु दृष्टसौकर्यात् - शा० म० सू० ६५

२ तदेव चिन्तयति - ना० भ० सू० ५५

३ आनिन्द्यौन्य धिक्रियते पारम्पर्यात सामान्यवत् - शा०भ्यू० ७८

४ ना०भ०सू० ७२,७३

५ शा० भ० सू० ६६-६८ ।

होकर साधक अपना प्राप्य पा लेता है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है[1]।

बौद्ध-धर्म

भगवान् बुद्ध की महनीय साधना और महान व्यक्तित्व का प्रभाव भारतीय चिन्तनधारा और जीवन पर स्पष्टरूप से परिलक्षित होता है। इस महान धर्म ने अपनी उद्गम भूमि को प्रभावित तो किया ही उसके अतिरिक्त अनेक विदेश के देशों को भी प्रभावित किया। भगवान बुद्ध का धर्म सहज-मानव-धर्म था जो अंधविश्वास पर नहीं बल्कि स्वानुभूति और तर्क पर आधारित था।

चार आर्य-सत्य

अपनी घोर तपस्या के अनन्तर भगवान तथागत ने जिस सत्य का साक्षात्कार किया उसका नाम 'चत्वारि आर्य सत्यानि' अर्थात् चार आर्य सत्य दिया[2]। उन्होंने जगत को दुख माना। तृष्णा अथवा कामना के द्वारा इस दुख की उत्पत्ति होती है अत: कामना और तृष्णा के आत्यन्तिक निरोध के द्वारा दुखरूपी कार्य का भी निरोध सम्भव है। पवित्र-सुव्यवस्थित जीवन के द्वारा तृष्णा अथवा कामना का उन्मूलन किया जा सकता है।

अष्टांगिक मार्ग

पवित्र अथवा सुव्यवस्थित जीवन की प्राप्ति के लिए उन्होंने 'अष्टांगिक मार्ग' का विधान किया जिसके अन्तर्गत विचार, संकल्प, वाणी, कर्म, आजीविका, अभ्यास सातत्य, स्मृति तथा समाधि की सम्यकता और उचितता का नियोजन किया। कहने का तात्पर्य भगवान तथागत ने समाधि के लक्ष्य तक पहुंचने के लिए एक सुनियोजित शील की व्यवस्था की क्योंकि शील

---

1 Narada Bhakti Sutra - Swami Chinmayanand, page 149

2 An Introduction to Indian Philosophy
By S.C. Chatterjee and D. Dutta - page 136.

के सम्यक आचरण से शारीरिक, वाचिक, मानसिक क्रियाओं में समाधान प्रस्तुत होता है[१]।

बौद्ध-योग

कालान्तर में त्रिपिटकों में बिखरे साधनात्मक विचारों को एकत्र करके व्यवस्थितरूप दिया गया । आचार्य बुद्धघोष प्रणीत विशुद्धिमार्ग इस प्रकार का अनुपम प्रयास है । मूलत: यह ग्रन्थ योग-ग्रंथ है, तथापि बौद्ध धर्म दर्शन का जो विशद विवेचन इसमें प्राप्त होता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है ।

शील

बौद्धशासन की आधारभूमि शील है । तृष्णारूपी जाल में प्राणि मात्र बद्ध हैं लेकिन जो वीर्यवान साधक हैं, वे शील, समाधि और प्रज्ञा के सतत अभ्यास से इस बन्धन को समाप्त कर सकते हैं[२]। पारम्परिक भाषा में सभी कुशलकर्मों को करना और अकुशल कर्मों का परित्याग ही शील है अर्थात् ऐसे कर्म जिनसे तृष्णा का निवारण होता है, कुशल कर्म हैं, तृष्णा की वृद्धि करने वाले कर्म अकुशल कर्मों की श्रेणी में आते हैं ।

समाधि

शील के आचरण से समाधि सधती है और समाधि से प्रज्ञा की प्राप्ति होती है । 'कुशल चित्त की एकाग्रता ही समाधि है । एक आलम्बन में चित्त - चैतसिकों के बराबर और भलीभांति प्रतिष्ठित होने के अर्थ में समाधि

---

१ History of Indian Philosophy - Dasgupta, page 7-8, Vol.I

२ अन्तो जटा बहि जटा जटाय जटिता पजा
तं तं गोतम ! पुच्छामि, कोइमं विजटये जटं ?
सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो चित्तं पञ्ञञ्च भावयं
आतापी निपको भिक्खु सो इमं विजटे जटं । सुत्त निकाय १,३,३

होती है । विक्षेप न होना समाधि का लक्षण है । विक्षेप को मिटाना इसका कार्य है । विकल्पमुक्त न होना जानने का आकार है । सुख इसका प्रत्यय है'[१]। 'भगवान बुद्ध ने अपने उपदेश में कहीं विपश्यना द्वारा, कहीं ध्यान द्वारा, कहीं शून्य तर्कों द्वारा, कहीं कर्म, विद्या धर्म शील और उत्तम आजीविका द्वारा और कहीं प्रज्ञा और समाधि द्वारा निर्वाण प्राप्ति बतलाई है'[२]। समाधि दो प्रकार की होती है - उपचार और अर्पणा । 'जब तक ध्यान क्षीण रहता है और अर्पणा की उत्पत्ति नहीं होती, तब तक उपचार समाधि का व्यवहार होता है, पर अर्पणा में अंग सुदृढ़ हो जाते हैं; सारा दिन, सारी रात चित्त स्थिर रहता है'[३]।

चर्या

राग द्वेषादि की प्रवृत्ति क्रमावेश सारे प्राणियों में होती है लेकिन जिसमें जिस तत्व की अधिकता होती है, उसे उसी प्रकृति का माना जाता है। बौद्ध साधना में प्रकृति को 'चर्या' नाम दिया जाता है । इस प्रकार कुल मिला कर, राग, द्वेष, मोह, श्रद्धा, बुद्धि और वितर्क चर्याओं के अन्तर्गत सभी प्रकृति के व्यक्तियों को वर्गीकृत किया जा सकता है । बौद्ध साधना के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की साधना उसकी मौलिक प्रकृति स्वभ् प्रवृत्ति के अनुरूप होनी चाहिए ।

कर्म-स्थान

साधन के लिए इस साहित्य में 'कर्मस्थान' का प्रयोग किया जाता है । कर्मस्थान अर्थात् समाधि के साधन चालीस हैं, अथवा 'एक निश्चित विचारवस्तु पर ध्यान केन्द्रित करके मन को शान्त और स्थिर करने की चालीस विधियां

---

१ विशुद्धिमार्ग, भूमिका - भिक्षुधर्मरक्षित, पृ० २५

२ बौद्ध-धर्म-दर्शन - आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ० ३६

३ वही, पृ० ५४-५५ ।

हैं । ये चालीस विधियां सात श्रेणियों में वर्गीकृत की जा सकती हैं[१] । इन चालीस साधनों में से किसी एक का, जो अपनी चर्या के अनुकूल हो, ग्रहण करना पड़ता है[२] । चालीस कर्म स्थान हैं - दस कसिण, दस असुभ, दस अनुस्मृतियां, चार ब्रह्म विहार, चार आरुप्य, एक संज्ञा, एक व्यवस्थान[३] । किसी पदार्थ अथवा वर्ण (रंग) छिद्र अथवा शून्य में ध्यान एकाग्र करना, मरणादि अशुभ भावनाओं के द्वारा चित्त को जगत से उपराम करना, बुद्धादि दिव्य विभूतियों के स्मरण के द्वारा चित्त को उच्च से उच्चतम भूमिका पर स्थापित कर, प्राणि मात्र के प्रति मैत्री, करुणा, मुदिता अथवा उपेक्षा भाव द्वारा चित्त का उदात्तीकरण करना, आकाशविज्ञानादि आयतनों के ध्यान द्वारा ध्यान को क्रमशः शान्तप्रणीत और सूक्ष्म करना, जागतिक रस-तृष्णा का हरण करना तथा जगत् के पदार्थों के अनित्य, अनात्म और दुख स्वभाव को समझना - संक्षेप में कर्मस्थान से तात्पर्य इस प्रकार के अभ्यासों से ही है । 'स्मृति' शब्द का रूपान्तरण 'सुरति' के रूप में संत-साहित्य में तो स्पष्ट रूप से ही मिलता है[४] - स्मृतियों के अन्तर्गत ही आनापान-स्मृति की चर्चा आती है । इस स्मृति को एक प्रमुख योग साधन के रूप में स्वीकार किया गया है । 'आन' का अर्थ सांस लेना और 'अपान' का अर्थ सांस छोड़ना होता है । स्मृतिपूर्वक आश्वास-प्रश्वास की क्रिया द्वारा जो समाधि में निष्पन्न की जाती है, वह आनापान स्मृति - समाधि कहलाती है[५]। आनापान-स्मृति की साधना तथा संतों की अजपाजप की साधना निःसन्देह तुलनीय है ।

स्वानुभूति

योग मार्ग सतत अभ्यास और स्वानुभूति का मार्ग है । भगवान् बुद्ध

---

१ भगवान् बुद्ध - श्री उ० नू० (अनुवादक - डा० कृष्ण बिहारी मिश्र), पृ० ४३

२ बौद्ध-धर्म-दर्शन - आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ० ४४-४५

३ विशुद्धि मार्ग की भूमिका - भिक्षु धर्मरक्षित, पृ० २५

४ बौद्ध-दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, डा० बलदेव उपाध्याय, पृ० १०६१ तथा बौद्ध धर्म का मध्य युगीन संत साहित्य पर प्रभाव, डा० विद्यावती मालविका, पृ० १६३

५ बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृ० ८२ ।

ने स्वयं शास्त्र प्रमाण की अपेक्षा स्वानुभूति को महत्व दिया है । उन्होंने स्वयं जो जानने योग्य था उसे जाना, जो भावना करने के योग्य था उसी की भावना की और जो अनावश्यक था उसका परित्याग कर दिया[१] । उनका स्पष्ट कथन है कि "किसी बात में केवल इसलिए विश्वास मत करो कि वह तुम्हारे आचार्यों द्वारा कही हुई है, इसलिए भी न करो कि वह तुम्हारे किसी धर्मग्रंथ में लिखी मिलती है, प्रत्युत प्रत्येक बात को अपनी अनुभव की कसौटी पर जांचो। यदि तुम्हें वह अपने तथा औरों के लिए हितकर जान पड़े, तो उसे मान लो, न जान पड़े तो मत मानो"। स्वानुभव की इस उद्घोषणा ने बौद्ध धर्म को सतत् अभ्यास शील और अनुभव शील होने की प्रेरणा दी । परिणाम स्वरूप यह धर्म, हीनयान के बोधिसत्व के आदर्श से महायान के महत्तर आदर्श अर्हत्तत्व की ओर बढ़ता गया । महायान सम्प्रदाय ने प्रयोग, अभ्यास और अनुभव का मार्ग सतत प्रशस्त रखा । आगे चलकर इस प्रवृत्ति ने मंत्रयान, वज्रयान, सहजयान और कालचक्रयान को जन्म दिया, जिन्हें तंत्रसाधना कहते हैं ।

तन्त्रसाधना

बौद्ध तांत्रिकों का मध्यकाल में सम्पूर्ण उत्तरी भारत में प्रचुर मात्रा में प्रभाव स्थापित हो गया था[२]। "बौद्ध-धर्म उत्तरोत्तर लोकधर्म में घुल मिल रहा था"[३] अतः धीरे-धीरे कर्मप्रधान हो रहा था तथा ज्ञान से तंत्र की ओर अग्रसर हो रहा था ।

मंत्रयान-वज्रयान

इस यात्रा के प्रथम चरण को मंत्रयान की संज्ञा दी गयी है इसलिए कि इस यान में मंत्र, मुद्रा मण्डल को अत्यधिक महत्व दिया गया है[४]। वज्रयान

---

१ सैक्रेड बुक, मज्झिम निकाय, २।५।३
२ इन्ट्रोडक्शन टू बुद्धिस्ट एस्थेटिक्स, विनयतोष भट्टाचार्य १९३२, पृ० १६६
३ हिन्दी साहित्य की भूमिका, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २५
४ इन्ट्रोडक्शन टू तांत्रिक बुद्धिज्म, बागची, पृ० ६६ ।

भी वस्तुत: मंत्रयान का ही विकास है - सौम्य अवस्था का नाम मंत्रयान है, उग्र रूप की संज्ञा वज्रयान है[१]। भगवान् बुद्ध के अलौकिक उपदेशों के पाठ की परम्परा के संक्षिप्तीकरण के प्रयास ने उन्हें सूत्र रूप में परिवर्तित करने पर बल दिया और अन्त में इसी प्रक्रिया के अन्तर्गत उनके संक्षिप्ततम रूप मंत्र बन गए। महायान के अस्तित्व के पूर्व स्थविरवादियों में मंत्रात्मक धरणियों का प्रचलन और प्रभाव हो गया[२]। सूत्रों के संक्षिप्त रूप को ही धरिणी कहा गया। इन धरणियों की उपयोगिता ऐसे साधकों के लिए अधिक थी जो सूत्रों को भली भांति नहीं समझ सकते थे[३]। इन मंत्र पदों में गुह्यशक्ति होती है जिससे निर्वाण लाभ सम्भव हो सकता है[४]। मुद्रा और मण्डल को भी इस सम्प्रदाय में एक आवश्यक साधन तत्व के रूप में स्वीकार किया गया[५]। मुद्रा और मण्डल क्रमश: स्पर्श और मण्डलाकार चिह्न हैं, जिन्हें तंत्र साधना में मंत्र शक्ति से युक्त करके शक्ति साधन के रूप में प्रयोग किया जाता है। यही मुद्रा वज्रसाधना में महामुद्रा बन गयी। महायान साधना की 'शून्यता' और 'करुणा' का वज्रयानियों ने नामान्तरण कर दिया और उसे 'प्रज्ञा' और उपाय कहा[६]। तथा दोनों की सामरस्या अथवा मिलनावस्था को 'युगनद्ध' संज्ञा दी और इस स्थिति को साधक का अन्तिम लक्ष्य बताया[७]।

---

१ आर्य संस्कृति के आधारग्रन्थ - पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० ३३६।
बौध-दर्शन - पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० ४२८।

२ Literary History of Sanskrit Budhism, Nariman, page 112.

३ बुद्धिस्ट आइकनो ग्राफी - सर्वे आफ बुद्धिज्म - भट्टाचार्य

४ बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृ० १६६।

५ Obscure religious cult. - Dasgupta, page 30.

६ वही, २६-३१

७ उत्तरी भारत की संत परम्परा - आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ३५।

सहजयान

मंत्रयान का विकास सहजयान में हुआ । सहजयान को सहजमार्ग भी कहा गया है और ऋजुमार्ग के रूप में इसका वर्णन भी किया गया है[१]। वस्तुत: यह सहजता मध्यम मार्ग के अनुरूप ही है । इसीलिए सिद्ध शान्तिपा ने इसे सीधा और सरल मार्ग कहा है[२] । यही कारण है सिद्ध साधकों ने बाह्य साधनाओं के प्रति उपेक्षा का भाव प्रदर्शित किया है और मन की साधना पर बल दिया है । सहजभाव की प्राप्ति ही सहज योग है । बालवत स्वभाव की प्राप्ति और सहज ही रागद्वेषादि से मुक्त होना सहजावस्था है । वे जीवन को ज्यों का त्यों स्वीकार करना चाहते थे और राग का शुद्धरूप पहचानने का आग्रह करते थे । इसलिए उन्होंने सांसारिक राग का परित्याग करने का उपदेश तो दिया ही है किन्तु निवृत्ति मूलक, निषेधात्मक, निराशावादी विराग को भी बन्धन का कारण बताकर उसके भी परित्याग का उपदेश दिया है[३] । सम्बोधि तो वस्तुत: महाराग ही है[४]। जब राग व्यापक और विभु हो जाता है तब वह महाराग बन जाता है । प्राणिमात्र और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड व्यापिनी राग-भावना की साधना ही बोधि चित्त की साधना है ।

सिद्धों ने चित्त को वज्रसत्व माना है अत: साधक को वज्र स्वभावी होने का उपदेश दिया है[५]। इनकी साधना का केन्द्र बिन्दु चित्त है जिसे वे मोह और संकल्प विकल्प से ऊपर उठाकर सहजावस्था में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं क्योंकि चित्त ही भव और निर्वाण दोनों का बीज है[६]। चित्त जब संकल्पों के अन्धकार से मुक्त होता है तब वह मलमुक्त होता है और उसे ही

---

१ उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ४७

२ वाम दाहिण दो बाटा चअडी, शांति भणइ संकलिआ - चर्यापद, पृ० ११२

३ सिद्ध साहित्य - डा० धर्मवीर भारती, पृ० १६४ ।

४ दोहा कोश, पृ० १६२

५ सिद्ध साहित्य, पृ० १८६

६ दोहा कोश, पृ० २४

संसार कहते हैं किन्तु जब वह संकल्प रहित होकर रागादि से विनिर्मुक्त हो जाता है तथा ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान से अतीत हो जाता है तो उसे ही निर्वाण कहते हैं[१]।

चित्त को संसार की वासनाओं से पृथक करना पहली क्रिया है फिर संसार-रहित-चित में करुणा की स्थापना दूसरी क्रिया है - इन निषेधात्मक तथा विधेयात्मक दोनों क्रियाओं का एकत्र नाम बोधिचित्तसमुत्पाद है। सिद्धों ने बोधिचित्त-समुत्पादन-क्रिया के चार प्रकार बताए हैं जिन्हें क्रमश: विशोधन, हनन, स्थिरीकरण और दृढीकरण कहते हैं[२]। जब तक चित में अज्ञान है, तब तक वह अशुद्ध है। अज्ञान को समाप्त करना और ज्ञान को स्थापित करना अर्थात् अज्ञान मल को हटाकर, ज्ञान के प्रकाश से मन को भरना ही विशोधन क्रिया है[३]। दूसरा है, चित मारण यानी न चित रहे और न विकार रहे, मूल ही नष्ट हो जाए। इसीलिए भुसुकपा चित की तुलना चूहे से देते हैं जिसका गुण चंचलता है तथा जिसका कार्य अमृतत्व यानी एकाग्रता का भक्षण है। अत: इसका हनन ही प्रयोजनीय है[४]। स्थिरीकरण से तात्पर्य है कि जगत के विसराव से चित को अलग कर शून्य में स्थिर करना तथा जब वह स्थिर हो जाए तो उसी दृढ़ कर देना कि फिर वह उस अवस्था से च्युत न होने पाए।

चित सम्बन्धी एक अन्य साधना है - अमन सिकार अथवा अमनस्कार की साधना बौद्धों की बहुचर्चित साधना है, इसे ही सिद्ध अमन की साधना कहते हैं और संतों ने इसे उन्मुनी साधना का नाम दिया है। मन को अमन कर देना ही अमनीभाव की साधना है[५]। मन संकल्प-विकल्पात्मक संसारमय है। इसे संसार

---

१ उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ४३

२ सिद्ध-साहित्य, पृ० १६१

३ दोहाकोष - डा० प्रबोधचन्द्र बागची, पृ० ६३

४ चर्यापद - पृ० १२८

५ सोवि मण्डु लाहि अमण्डु करिज्जइ - दोहाकोष, पृ० १३१।

रहित तथा संकल्परहित करके स्थिर कर देना ही परम साधन है । मन को अमन करना ही वस्तुत: सहज है, जहां न चाह रहे न चिन्ता रहे बल्कि मन पूर्ण भावेन मुक्त हो जाए ।

सहजयानी साधना में बोधिचित्त उन्नयन अथवा उत्थान की प्रक्रिया की भी विस्तृत चर्चा है । साधक बोधिचित्त को निर्माण, धर्म तथा संभोग चक्र से उठाकर उष्णीश कमल में ले जाता है । इस अन्तिम चक्र तक पहुंचने के बाद चित्त को सहजावस्था की प्राप्ति होती है[१] । हठ योग की भाषा में इन चक्रों को क्रमश: मणिपूर, अनाहत विशुद्ध और सहस्रार कहते हैं । बोधिचित्त का मार्ग मध्य अथवा सुषुम्ना नाड़ी से होकर जाता है, इड़ा और पिंगला से नहीं । सहजावस्था को ये महासुख की अवस्था मानते हैं[२]। इन्हीं तीन केन्द्रों को त्रिकाय भी कहते हैं[३]। निर्माण-काय, धर्मकाय तथा वज्र अथवा सहजकाय[४] इन तीनों के अनन्तर महासुख-काय की स्थिति है[५] ।

नाद-विन्दु जिसकी चर्चा परवर्ती साहित्य में पुष्कल आती है,उसका स्वरूप सहज्योगियों के यहां अहं और इदं के रूप में है[६]। हमारी एकाग्रता और तन्मयता में वस्तुत: लघु अहं और विराट इदं ही बाधक है । सच्ची एकाग्रता की प्राप्ति दोनों के सामरस्य से ही हो सकती है । यह वह स्थिति है जहां साधक कण-कण में आत्मदर्शन करने लगता है, सब उसके हो जाते हैं और वह सबका हो जाता है ।

---

१ Obscure religious cult. Dr. S. Dasgupta, page 109

२ वही, ६५

३ Aspects of Mahayan Budhism and its relation to Hinyan by N. Dutta, page 96.

४ वही, पृ० १०६

५ Indian Literature - Winternitz, Vol. II, page 388.

६ Obscure religious cult. page 49.

प्रज्ञा और उपाय को आगे चलकर कालचक्रयान वालों ने काल और चक्र के रूप में स्वीकार किया और दोनों की समरस स्थिति को कालचक्र माना[१]। पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता कालचक्र वालों को सर्वतोभावेन मान्य है अत: ये पिण्ड में स्थित चक्रों को देखने पर बल देते हैं किन्तु यह दर्शन तब तक सम्भव नहीं है जब तक पिण्ड मलिन दशा में है अत: पिण्ड-परिशुद्धि साधक का प्रथम और आवश्यक कर्त्तव्य है क्योंकि प्राण और चित्त का शरीर से निकटस्थ सम्बन्ध है इसलिए कायशुद्धि चित्त और प्राणशुद्धि का सहज कारण बन जाती है[२]। पिण्ड और ब्रह्माण्ड की यह समरसता परवर्ती संत साहित्य में भी पुष्कल है।

वैदिक साहित्य में जिस प्रकार जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय नाम से चार अवस्थाएं मानी गयी हैं, उसी प्रकार कालचक्रयान में बुद्ध की चार ही कायाओं की मान्यता है[३]। ये चार कायाएं हैं - सहजकाय, धर्मकाय, संभोगकाय और निर्माणकाय। क्रमश: तुरीय, सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत अवस्था के क्षीण होने में इनका उदय होता है। सहजकाय में शून्यता का ज्ञान होता है अत: यह काय पारमार्थिक और परिशुद्ध है। धर्मकाय में स्वयं प्रकाश ज्ञान की प्राप्ति होती है। संभोगकाय में अनाहत नाद का उदय होता है तथा निर्माणकाय बुद्ध की वह काया है जिसके द्वारा वे जगत के अशेष दुख का नाश करते हैं[४]।

नाथपंथ

तंत्रसाधना के बाद उत्तर भारत में नाथ साधना अस्तित्व में आई। इसके कालक्रम तथा विचार इन दोनों दृष्टियों से संत मत नाथ पंथ के निकट पड़ता

---

१ एंट्रोडक्शन टू तांत्रिक बुद्धिज्म, पृ० ७६।

२ बौद्ध-दर्शन, पं० बलदेव उपाध्याय, ४५६। उ०मा०सं०प० - पृ० ४८ तथा टिप्पणी।

३ वेदान्तसार - हिरयन्ना, पृ० ३-११

४ संत काव्य में परोक्ष सत्ता का स्वरूप - डा० बाबूराव जोशी।

है, यही कारण है कि अनेक विद्वान् संत मत को नाथपंथ का विकसित रूप स्वीकार करने में लेशमात्र हिचक महसूस नहीं करते हैं[१]। नाथ सम्प्रदाय योग का सम्प्रदाय है तथा योग की परम्परा भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक-कालीन व्रात्य स्त्रोपासना, प्राणायाम तथा ध्यानादि को महत्व देते थे[२]। कतिपय विद्वानों के विचार से यह परम्परा वेदकाल से भी पूर्व की है, इन विद्वानों ने ये निष्कर्ष सिंध प्रदेश की उपत्यका में प्राप्त कतिपय ध्वसावशेषों के आधार पर लगाया है[३]। जो भी हो इस मार्ग की प्राचीनता में इसलिए सन्देह नहीं किया जा सकता क्योंकि इस मार्ग के प्रवर्तक रूप में आदिनाथ भगवान शंकर को ही स्वीकार किया जाता है[४]। मध्यकाल में इस मत के पुनर्स्थापना का श्रेय मत्स्येन्द्रनाथ और इसे व्यवस्थित और व्यापक बनाने का श्रेय गोरखनाथ को है। इस मत के लिए अनेक नामों का प्रयोग किया जाता रहा है जिनमें सिद्ध, अवधूत, योग मतादि नाम अधिक प्रसिद्ध हैं[५]। मत्स्येंद्र और गोरख जैसे प्रभावशाली व्यक्तियों के नाम का भी प्रयोग इस मत के लिए किया जाता है अत: इसे मत्स्येन्द्रनाथी सम्प्रदाय और गोरखपंथ भी कहा जाता है। सम्प्रति बहु-प्रचलित और बहुप्रयुक्त नाम, नाथ-पंथ ही है[६]। इस मार्ग के अनुयायिओं को कनफटा, दर्शनी और योगी नाम से पुकारने का भी प्रचलन है[७]।

नाथपंथ के इतिहास में सर्वाधिक महत्व मत्स्येन्द्रनाथ और उनके शिष्य गोरखनाथ को ही दिया जाता है। ये दोनों महान् साधक थे और दोनों ने

---

१ निर्गुणधारा - बेथनाथ - विश्वनाथ, पृ० ८७

२ गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज़ - डब्ल्यू० ब्रिग्स, पृ० २१२

३ उत्तरी भारत की संत परम्परा - पृ० ५६

४ श्री चिलमन अवधूत - दुर्गाप्रसाद त्रिवेदी 'शंकर', पृ० ४५१
नाथ सम्प्रदाय - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १

५ गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह, पृ० १२,१८,२१

६ नाथ सम्प्रदाय का इतिहास, दर्शन व साधन प्रणाली, डा० कल्याणी मल्लिक, पृ० १३

७ गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज़, पृ० १ ।

दो भिन्न भिन्न धाराओं का प्रवर्तन किया है[१]। डा० बागची मत्स्येन्द्र नाथ जी को योगिनी कौल मार्ग का प्रवर्तक मानते हैं[२]। आचार्य हजारी प्रसाद जी द्विवेदी इन्हें सिद्धयानी मानते हैं जिसने बाद में वाममार्गी साधना स्वीकार कर ली थी लेकिन फिर अपने ही शिष्य गोरखनाथ के द्वारा इस साधना से विमुक्त किए गए[३]। जो कुछ भी हो इतना सत्य है कि दोनों महान् साधक और रहस्य दर्शी थे और दोनों के सिद्धान्तों और यौगिक प्रक्रियों का प्रभाव संत-साहित्य पर परिलक्षित होता है।

साहित्य

नाथ-पंथ के बहुमान्य और बहुचर्चित साहित्य के रूप में ब्रिग्स ने गोरखबोध, गोरक्षसंहिता, गोरक्षशतक, हठयोगप्रदीपिका, घेरण्डसंहिता, शिवसंहिता, सिद्धसिद्धान्तपद्धति, और गोरक्ष-पद्धति का जिक्र किया है[४]। इसके अतिरिक्त कुछ ग्रन्थों की चर्चा डा० त्रिगुणायत भी करते हैं, जिनमें से कुछ तो तंत्र ग्रंथ हैं और कुछ शाक्त-शैव ग्रंथ हैं जिनमें देवीभागवत, योगचिन्तामणि, योगमंजरी, शिवगीता, शिवपुराण, निरंजनपुराण, शिवरहस्य तन्त्र तथा रुद्रयामल आदि विशेष उल्लेखनीय हैं[५]। अब डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल द्वारा सम्पादित 'गोरख-बानी' तथा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'नाथ-सिद्धों की बानियां' भी उपलब्ध हैं जिनकी भाषा हिन्दी है।

---

१ हिन्दी की निर्गुणकाव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि
डा० गोविन्द त्रिगुणायत, पृ० २६८।
२ कौल ज्ञान निर्णय की भूमिका, डा० प्रबोधचन्द्र बागची, पृ० ३५।
३ नाथ समुदाय, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५७-६४।
४ गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज़, पृ० २५१।
५ हिन्दी की नि० का० और उसकी दा०, पृ० २६७।

मत

मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ के नाम, इस मत के इतिहास में सर्वाधिक महत्व के हैं। डा० त्रिगुणायत का विचार है कि मत्स्येन्द्री साधना में मन को साधने पर अधिक बल है तथा गोरखनाथी साधना में तन को साधने पर अधिक बल है[१]। इस प्रकार इन दोनों धाराओं का मौलिक अन्तर तन और मन की साधना के बल के आधार पर समझा जा सकता है लेकिन जहां तक इस पंथ के समग्रयोग का प्रश्न है उसमें एक मौलिक एकता है।

डा० बड़थ्वाल नाथपंथ को शुद्ध साधना का मार्ग मानते हैं। सिद्धांतों को जीवन में उतारना और अनुभव करना ही जीवन की सार्थकता है। नाथपंथ अभाव और भाव से परे 'केवल' तत्व में विश्वास करता है, यही कारण है कि उसे कोई संज्ञा नहीं दी जा सकती है[२]। वह अगम्य और अगोचर है[३]। वह अलख, अदाय अलोप और विज्ञानस्वरूप है। सिद्ध लोग इसी तत्व का ध्यान करते हैं[४]।

ब्रह्म

परम चैतन्य अर्थात् ब्रह्म, सबका कारण है, अत: शेष सबका परित्याग करके उस परम तत्व का आश्रय ग्रहण करना रहस्यदर्शी साधक का कर्तव्य है[५]। आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप, द्वैतविवर्जित ज्योति स्वरूप है[६]।

माया

माया विश्वजननी है अर्थात् जगत् कारण है। माया-जन्य सभी पदार्थ असत्य हैं अत: त्याज्य हैं। साधक, मायातीत होकर आत्मभाव की प्राप्ति करते

---

१ हिन्दी की नि० का० और उसकी दा०पृ०, पृष्ठ २७५
२ नाथ पंथ में योग, डा० बड़थ्वाल, कल्याण, योगांक।
३ वसती न सून्यं सून्यं न वसती अगम अगोचर ऐसा
गगन सिखर बालक बोले, ताका नांव धरहुगे कैसा। गोरखबानी, १।१
४ वही, २-६
५ शिव संहिता, प्रथम पटल, ५१
६ वही, ५६,५७।

हैं - यही उनका लक्ष्य है[१]। इस आत्मभाव की प्राप्ति के लिए साधक को ज्ञान के द्वारा संसारभाव की समाप्ति करनी पड़ती है उसके उपरान्त संसारभाव से मुक्त चित्त को चिरन्तन आत्म-तत्त्व में लय करके शरीर स्थवा जगतभाव से भिन्न परमात्मभाव की प्राप्ति करनी पड़ती है[२]।

कुल मिला कर यदि कहा जाए तो यही कहा जा सकता है कि नाथ साधना का लक्ष्य मायातीत होकर अर्थात् जागतिक विषयों से निर्लिप्त होकर आत्मचिन्तन द्वारा कैवली (कैवल्य) भाव की प्राप्ति है । इसे म० म० गोपीनाथ जी कविराज ने अद्वय भाव की संज्ञा दी है जिसे चित्तविश्रान्ति द्वारा देहात्म-बोध मूलक द्वैत से मुक्त होकर प्राप्त किया जा सकता है[३]। इसी स्थिति को नाथपद से भी अभिहित किया गया है जो परम-पद वाची है[४]।

योगमार्ग

परमपद प्राप्ति के सर्वोत्तम साधन के रूप में साधकों ने योगशास्त्र को स्वीकार किया है, क्योंकि इसमें व्यर्थ का विवाद नहीं है, मात्र जो करणीय है उसीकी सविधि चर्चा है[५]। योगमार्ग, क्रिया प्रधानमार्ग है अत: प्रत्येक वीर्यवान कर्ता के लिए सुकर और साध्य है ।

पिण्ड-ब्रह्माण्ड

योग क्रियाओं को साधने के लिए मनुष्य शरीर ही परमोपयुक्त है कारण कि इस शरीर का निर्माण शिवरूप बिन्दु और शक्तिरूप रज के सम्मिश्रण से हुआ है अत: यह शरीर शिवशक्त्यात्म है[६]। त्रैलोक्य की अनुकृति

---

१ शिवसंहिता, प्रथम पटल, ६८,६९,७२

२ वही, ६६

३ नाथ और संत साहित्य की भूमिका, डा० नागेंद्रनाथ उपाध्याय, पृ० ५

४ गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह, पृ० १

५ शिव संहिता, प्रथम पटल, १७,१८ ।

६ बिन्दु: शिवो रज: शक्तिरुभयोर्मिलनात्स्वयम्, वही, १०० ।

होने के कारण इसे ब्रह्माण्ड संज्ञक भी कहा जाता है अर्थात् जो कुछ इस ब्रह्माण्ड में है वह सब कुछ इस मनुष्य-पिण्ड में भी है[१]। इस प्रकार, मानव शरीर की शक्तिमत्ता स्वयमेव सिद्ध हो जाती है और यह भी सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य शरीर ही सत्य के साक्षात्कार का सर्वोत्तम साधन है ।

मानव शरीर सामर्थ्यवान है, यह निर्विवाद है लेकिन रहस्य के दर्शन के लिए भी यह शरीर ही सामर्थ्यवान है इसके लिए रहस्यदर्शी साधकों ने शरीरस्थ सूक्ष्म केन्द्रों की विशद् चर्चा की है । यह चर्चा उनके यौगिक साक्षात्कार के आधार पर है । स्थूलशरीर में इन तत्वों को ढूंढा जाना कठिन है लेकिन योगी ध्यान की अवस्था में इन चक्रों और केन्द्रों का दर्शन करते हैं और वहीं उनके द्वारा उन्हें इन केन्द्रों की शक्ति का आभास भी होता है ।

शरीरस्थ नाड़ियों और केन्द्रों का योगसाधना में सर्वाधिक महत्व है । कुल नाड़ियां साढ़े तीन लाख हैं लेकिन इनमें भी चौदह प्रधान हैं । इन चौदहों में तीन मुख्यरूप से प्रधान हैं जिन्हें इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा कहते हैं[२] । इन तीनों के मध्य से प्रवाहित होने वाली नाड़ी का नाम चित्रा है । योगियों के लिए इसका बहुत महत्व है इसलिए इसे शिवसंहिताकार ने अपनी बल्लभा के रूप में स्वीकार किया है[३]। इनके पश्चात् मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञाचक्र तथा ब्रह्मरन्ध्र नाम के केन्द्र हैं जो उत्तरोत्तर अधिक महत्वशाली माने गए हैं[४]। इन चक्रों के दल और स्थान भी हैं । क्रमश: ये चक्र चार, छ:, दश, बारह, सोलह, दो तथा सहस्र दलों से युक्त हैं । इनके स्थान भी क्रमश: गुदा, लिंगमूल, नाभि, हृदय, कण्ठ, भ्रूमध्य और मस्तक हैं[५]। इन नाड़ियों और केन्द्रों की विशद चर्चा नाथयोग संबंधी अन्यान्य

---

१ त्रैलोक्य यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहत:, वही द्वितीय पटल, ४
ब्रह्माण्ड संज्ञके देहे यथा देशे व्यवस्थित:, वही, ५

२ वही, १३,१४,१५
गोरक्षाशतक, १३,१४ ।

३ सासां मध्यगता नाड़ी चित्रा सा मम बल्लभा, शि०, १८

४ वही, २७

५ गोरक्षसंहिता, प्रथम शतक, १४,१५ ।

ग्रन्थों में भी प्राप्त होती है ।

षट्कर्म

षटकर्म और षड्योग का ठाट नाथयोग में देखने को मिलता है । शरीर मूल साधन है जिसके द्वारा हठ योग की साधना सम्पन्न होती है । इस साधना के लिए शरीर का निर्मल तथा निर्दोष अर्थात् कफपित्तादि दोषों से रहित होना आवश्यक है । रोगी शरीर से यह महान साधन कदापि सम्भव नहीं है ।

षट्कर्मों के अन्तर्गत धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी (नौलि) कपाल-भाति की गणना होती है[१]। इन कर्मों से देहशुद्धि, रोगनिवृत्ति और स्वास्थ्य-वृद्धि होती है । षट्कर्म सभी साधकों के लिए आवश्यक नहीं हैं मात्र ऐसे साधक जिनका शरीर मेद और श्लेष्मायुक्त हैं, उन्हें ही इस क्रियामार्ग से गुजरने की आवश्यकता होती है । इन कर्मों के अभ्यास से साधक में प्राणायाम की मंजिल पर बढ़ने की योग्यता प्राप्त हो जाती है[२]।

यम-नियम-आसन

यम-नियम की चर्चा हठयोग प्रदीपिका में है । उसके बाद आसनों की चर्चा है । यम-नियम की भूमिका तो साधना के लिए नितान्त आवश्यक है ही किन्तु आसनों का भी अत्यधिक महत्त्व हठयोग के क्षेत्र में स्वीकार

---

१ धौतिर्वस्तिस्तथानेतिर्लौलिकी त्राटकं तथा
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत । घेरण्डसंहिता, प्रथम, १२
हठ योग प्रदीपिका- द्वितीय, २२ ।

२ मेद: श्लेष्माधिक: पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावत:, द्वितीय, २१ ।

किया जाता रहा है क्योंकि स्थिरता आरोग्य और अंगलाघव के बिना साधना में सफलता की कल्पना ही नहीं की जा सकती है[१]।

मुद्रा

मुद्रा, बन्ध और वेधादि की व्यवस्था भी योग ग्रन्थों में आसन के बाद की गयी है लेकिन इनका भी मुख्यरूप से संबंध स्थूल शरीर से ही है, फिर भी हठ-योग साधना में इनकी नितान्त आवश्यकता स्वीकार की गयी है। मुद्राएं योगियों के मोदनार्थ हैं[२] यानी प्रसन्नता देने वाली हैं लेकिन बन्ध योग की आवश्यक क्रिया में हैं क्योंकि बन्धों की सहायता से प्राण स्थिरता को प्राप्त करता है तथा उसका लय ब्रह्मरंध्र में होता है। इसके अतिरिक्त बरा रोगादि को नष्ट करने की शक्ति भी बन्धों में है अत: योगमार्ग की निर्विघ्नता के लिए इनका अभ्यास आवश्यक माना गया है[३]। शिवसंहिता में मुद्रा, बन्ध और वेध को महा उपसर्ग से मुक्त कर दिया है, इस प्रकार लेखक ने इन क्रियाओं की महत्ता और श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर दिया है[४]।

प्राणायाम

उपर्युक्त क्रियाओं के पश्चात् साधक में प्राणायाम के मार्ग पर अग्रसर होने की योग्यता आती है। प्राणायाम मुख्यरूप से तीन प्रकार के ही हैं जिन्हें पूरक, कुम्भक और रेचक कहते हैं। इनमें कुम्भक का महत्व अधिक है। प्राण और चित्त का घनिष्ठ सम्बन्ध है, जब प्राण स्थिर हो जाता है तब चित्त

---

१ हठस्य प्रथमांगत्वादासनं पूर्वमुच्यते
कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चांगलाघवम्। हठयोग प्रदीपिका, प्रथम १७।

२ प्रीतिपदं योगिनां चैव दुर्लभंमलतामपि। घेरण्ड सं०, तृतीयोपदेश, ५

३ अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम्
ततो न जायते मृत्यु बरारोगादिकं तथा। ह०यो०प्र०, तृतीय, ७५

४ शिवसंहिता, चतुर्थ पटल, २५।

विक्षेप रहित हो जाता है[१]। जब प्राण सुषुम्ना मार्ग से प्रवाहित होने लगता है, उस काल में मन की चंचलता समाप्त हो जाती है और एकाग्रता की प्राप्ति हो जाती है[२]। प्राण का जितना सम्बन्ध मन से है उतना ही सम्बन्ध बिन्दु से भी है अत: प्राण-निरोध बिन्दु-निरोध में भी सहायक है[३]। बिन्दु-धारण योगियों का परम कर्त्तव्य है, अत: प्राण-मन और बिन्दु तीनों का अन्यो-न्याश्रय है; एक के साधने में सभी सध जाते हैं। प्राणायाम के अनेक भेद हैं जिनका विशद वर्णन इन योग ग्रन्थों में उपलब्ध है।

शिवसंहिता में कुल चार प्रकार के योग माने गए हैं - मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग[४]। योगी लेखक ने इस क्रम के द्वारा यह भी बता दिया है कि ये योग उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। राजयोग को तो स्पष्टरूप से द्विधाभाव वर्जित अर्थात् जहां जीव और ब्रह्म का अभेद हो जाता है। ऐसा कहा गया है तथा श्रेष्ठ माना गया है। यह बात आगे चल कर और स्पष्ट हो जाती है जब गुण, शक्ति और योग्यता के अनुसार चार प्रकार के योगी यथा मृदु, मध्यम, अधिमात्र तथा अधिमात्रतम की चर्चा की जाती है। इनमें क्रमश: एक दूसरे से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माने गए हैं। श्रेष्ठतम योगी को अधिमात्रतम माना गया है और वही राजयोग का अधिकारी भी माना गया है[५]। प्रदीपिका में राजयोग को हठयोग का ही दूसरा सोपान स्वीकार किया गया है और यह भी माना गया है कि हठ के द्वारा ही राज की सिद्धि हो सकती है[६]। हठयोग की सीमा प्राणायाम तक स्वीकार की गयी है और उसके आगे प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को राजयोग के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। प्राणायाम तक का योग शरीर-साध्य है लेकिन इसके आगे का योग मनसाध्य है।

---

१ यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निराकुलं। ह०यो०प्र०, द्वितीय, ४०।

२ वही, ४२

३ गोरक्ष संहिता, प्रथम शतक, ८६

४ मंत्र योगो हठश्चैवलययोगस्तृतीयक:।
चतुर्थो राज योग: स्यात्सद्विधाभाववर्जित: ।। शि०सं०, पंचम पटल- १५

५ [illegible] वही, १६-२६ तक।

६ ह० यो० प्र०, प्रथम - २,३।

प्रत्याहार

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द, ये पांच विषय हैं । इन विषयों को इन्द्रियों से अलग कर लेना प्रत्याहार की साधना है[१]। यहां से मन का संयमन तथा जागतिक विषयों से अनासक्ति की साधना प्रारम्भ होती है । प्रत्याहार की सिद्धि हो जाने पर साधक का विकारग्रस्त चित्त विकारमुक्त हो जाता है[२]।

धारणा

अष्टांग योग की साधना में धारणा का चतुर्थ स्थान है । धारणा की साधना में बाह्य और अन्तःकरण की एकत्व की साधना वर्णित है । जो कुछ बाह्य जगत में है उसे निराकार रूप में अन्तःकरण में धारण करना ही धारणा है[३] । धारणा के अभ्यास से मानस में धैर्य अर्थात् स्थिरता की प्राप्ति होती है[४] । आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार की साधना के उपरान्त ही धारणा के अभ्यास की योग्यता प्राप्त होती है । अभ्यासी के हृदय और मन जब निश्चल हो जाते हैं तब वह पंचभूतों की अलग धारणा करता है । पंचभूतों की पृथक्-पृथक् पांच धारणाएं होती हैं । धारणाभ्यास से साधक में पंचभूतों पर अधिकार हो जाता है[५]। इन तत्वों का क्रमशः चक्रों से भी सम्बन्ध है, अतः चक्रों में ही इन तत्वों की धारणा उनके बीज मन्त्र के साथ की जाती है। मूलाधार से विशुद्ध तक के चक्र क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश तत्व के स्थान हैं और लं,वं,रं,यं और हं उनके क्रमशः बीज हैं[६]।

---

१ चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम्
प्रत्याहारणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते । गो०सं०, द्वितीयक, २२

२ सिद्ध सिद्धान्त पद्धति, २-३६

३ वही, २,३७

४ धारणाभिमतो धैर्यं, २,१२, गो० सं०

५ गो० सं० ३,५२-६०

६ घे० सं० ३,६८-८१ ।

ध्यान

धारणा के पश्चात् ध्यानभ्यास का सामर्थ्य प्राप्त होता है । धारणा तो चित्त की स्थिरता है लेकिन ध्यान तो चित्त का पूर्ण लय है । ध्यान तो वस्तुत: परमाद्वैतभाव का साधक है । योगमार्तण्ड में कहा गया है कि ध्यान से बहुसुख ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है[१]।

महर्षि घेरण्ड ने ध्यान के तीन भेद किए हैं - स्थूल, सूक्ष्म और ज्योति[२]। स्थूल ध्यान एक प्रकार से सगुण ध्यान के समान है । इस ध्यान में देवता के स्वरूप स्थानादि का ध्यान, आंख बन्द करके करना पड़ता है । कभी साधक गुरु, कमल, और हंसादि का भी ध्यान करते हैं[३]।

ज्योतिर्मय ध्यान के अन्तर्गत ज्योति अथवा प्रकाश पर ध्यान एकाग्र करने की प्रक्रिया बताई गई है । आत्मा, ज्योति स्वरूप है अत: तेज ध्यान से सहज ही आत्मप्रत्यक्ष हो जाता है और आत्मसाक्षात्कार ही योग की सिद्धि है । ज्योति-ध्यान के दो मुख्य केन्द्र अथवा चक्र हैं - एक तो मूलाधार तथा दूसरा आज्ञाचक्र । मूलाधार कुण्डलिनी का स्थान है, जहां कली के आकार का प्रकाश है । भ्रूमध्य की ज्योति प्रणवाकार है । प्रथम स्थान जीव का है तथा दूसरा स्थान शिव का है । इन केन्द्रों में ध्यान करने से आत्मसाक्षात्कार होता है[४]।

सूक्ष्मध्यान सर्वोत्कृष्ट ध्यान है । इस ध्यान से मोक्ष की प्राप्ति मानी गई है । जिव्हा से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त मार्ग को योग शास्त्र में राजमार्ग कहते हैं[५]। कुण्डलिनी-शक्ति इसी मार्ग में विचरण करती है किन्तु अपनी चंचलता

---

१ योगमार्तण्ड - १०२

२ स्थूलं ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदु: । घेरण्ड सं० ६,१

३ वही, २-१४

४ वही, ६, १५-१७

५ शरीरे सकलं विश्वं पश्यत्मात्मविभेदत: ।
ब्रह्माण्डो यं महामार्गो राजदन्तोर्ध्वकुण्डली । योगकुण्डल्युपनिषद् ।

और सूक्ष्मता के कारण प्रत्यक्ष नहीं होती है । शाम्भवी मुद्रा के अभ्यास के माध्यम से कुण्डलिनी के तेज का ध्यान सूक्ष्म ध्यान है । सूक्ष्म ध्यान अन्य दो ध्यानों से भी उत्कृष्ट है - ऐसा घेरण्ड ऋषि का मत है[१]।

गोरक्ष संहिता में सगुण और निर्गुण दो प्रकार के ध्यानों का ही वर्णन है[२]। सगुण-साकार तथा निर्गुण निराकार के भेद से ही यहां दो ध्यानों के भेद की कल्पना की गयी है । मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त ध्यान के निमित्त नव शक्तिशाली केन्द्र हैं । इनके ध्यान से अपूर्व योगबल की प्राप्ति होती है । आज्ञा चक्र और ब्रह्मरन्ध्र के ध्यान विशेष महत्व के हैं[३]। प्राणायाम और ध्यान दोनों का एकत्र अभ्यास कुण्डलिनी शक्ति के उत्थान और उसके ब्रह्म के मिलन की स्थिति को प्राप्त कराने वाला है । उर्ध्वमुख अपान जब प्राण से संयुक्त होता है तब मन की स्थिरता सधती है और कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो कर मणिपूर से अनाहत चक्र होते हुए ब्रह्मरन्ध्र तक पहुंच कर शिव से संयुक्त होकर अक्षयभाव को प्राप्त कर लेती है । इसी स्थिति का नाम शून्य अथवा लयस्थिति है[४]। लय स्थिति परमोच्चस्थिति है इसे ही शिव लोक संचरण भी कहते हैं[५] । साधना की इस स्थिति में आसन, पवन और ध्यान तीनों का सामरस्य एकत्र सध जाता है जिससे यह परमोच्च स्थिति प्राप्त होती है । इस साधना से बिन्दु भी स्थिर हो जाता है और ज्योति का प्राकट्य भी सहज भाव से सिद्ध हो जाता है[६] ।

श्वास और शब्द से संयुक्त ध्यानविधि को अजपाजप की संज्ञा दी गयी है । इसे गोरक्ष संहिता में हंसमंत्र अथवा अजपागायत्री भी कहा गया है ।

---

१ घे० सं० ६, १८-२२
२ गोरक्ष संहिता, २, ६१
३ वही, ६३, ७७
४ वही, ७८
५ गोरखबानी १६।४३
६ वही, ५४।१५८ ।

प्राणवायु जब बाहर जाता है तब हकार की ध्वनि उत्पन्न होती है और जब भीतर आता है, तब सकार की ध्वनि उत्पन्न होती है । स्वाभाविक रूप से हंस शब्द का उच्चारण श्वास-प्रश्वास के साथ होता रहता है । यह हंसमंत्र ही जीव का स्वाभाविक मंत्र है । प्रति अहोरात्र इस हंस मंत्र अथवा अजपा-गायत्री की कुल संख्या इक्कीस हजार छः सौ होती है । सावधानी पूर्वक जो साधक इस शब्द-प्राण को संयुक्त करके ध्यान करता वह मोक्ष का भागी होता है । यह शब्द, कुण्डलिनी से उत्पन्न होकर प्राण के साथ संयुक्त होता है । अतः उसका प्रभाव अवर्णनीय है । महान् विद्या होने के कारण इसे महाविद्या और प्राणाभ्यास होने के कारण इसे प्राणविद्या भी कहते हैं[१]। गोरक्ष पद्धति में एक अजपागायत्री मंत्र भी दिया गया है जिसमें मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक का वर्णन है और स्वीकार किया गया है कि इसके संकल्पमात्र में पाप से मुक्त करने की शक्ति है[२]। घेरण्ड ऋषि ने इस अभ्यास को केवलीकुंभक के रूप में प्रस्तुत किया है । केवली-कुंभक और हंस मंत्र के अभ्यास से श्वास की गति कम होती है और प्राण का निरोध होता है । सतत अभ्यास के द्वारा कुछ काल में यह क्रिया साध्य हो जाती है[३]। हंस मंत्र को उलट देने से सोऽहं बनता है । सोऽहं जप तथा ध्यान से सहज ही अद्वय भाव की स्थिति बनती है । इसी भाव को ब्रह्मानुभूति भी कहते हैं । इस अनुभूति के साथ शून्य अथवा ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान करने वाला जितेन्द्रीय योगी महान होता है[४]। इस आभ्यान्तर शब्द का श्रवण और स्मरण सबके लिए साध्य नहीं है । ऐसे साधक जो पाप-पुण्य से परे त्रिगुण से अतीत हो गए हैं वे ही इस जप की योग्यता रखते हैं । इसका दूसरा पक्ष यह भी हो सकता है कि निरन्तर अजपाजप का अभ्यासी त्रिगुणातीत

---

१ गोरक्ष संहिता १।४१-४५

२ गोरक्ष पद्धति- पृ० २४

३ घेरण्ड सं० - ५, ८३-९५

४ अजपा जपै सुनि मन धरै, पांचौं इंन्द्री बस में करै
ब्रह्म अगिनि में होमै काया, तास महादेव बंदे पाया । गो० बा० ७।१८ ।

स्थिति प्राप्त कर सकता है[१]। जैसे सांस का चलना सहज है, वैसे ही सांस के साथ 'सोहं हंसा' मंत्र का जप भी सहज है। यह मंत्र ओंकार स्वरूप है क्योंकि ओंकार से उत्पन्न है। यह वायु मंत्र प्रत्येक शरीर में स्वत: प्रवाहित होता रहता है[२]।

अगम्यजप

गोरखबानी में अगम्यजप (अगम जाप) की चर्चा है, जिसे स्वयं गोरख नाथ ने जपा है। यह जप शरीर के विभिन्न केन्द्रों पर चेतना को एकाग्र करके किया जाता है। इस जप में एकादरी, द्वयदारी, त्रयदारी, चतुरदारी मंत्र का स्वरूप परम्परागत मंत्रों से नितान्त भिन्न है। जगत और ब्रह्म की एकता के भाव की साधना एकादरी, लोक-परलोक, निर्गुण-सगुण, सूक्ष्म-स्थूल दोनों पक्षों का साथ साथ उद्धार या द्वयदारी, त्रिकुटी में अजपाजप त्रयदारी तथा वाणी के चारों स्वरूपों से निरन्तर स्मरण चतुरदारी मंत्र-जप है[३]।

शब्दयोग

मंत्र शब्दात्मक हैं। शब्द के भी दो प्रकार हैं - एक स्थूल जो उच्चारित होते हैं - दूसरे सूक्ष्म जिनकी अनुभूति हो सकती है। शब्द को आधार बनाकर निष्पन्न होने वाले योग को शब्द योग कहते हैं। बाह्य और आन्तरिक शब्द का समन्वय इस साधन के द्वारा सम्पन्न किया जाता है। गुरूपदिष्ट शब्द का निरन्तर अभ्यास करने से आन्तरिक ध्वनि प्रकट हो जाती है और अन्त में स्थूल शब्द, सूक्ष्म में समा जाता है[४]। शब्द का आधार ग्रहण करने से साधक के

---

१ अमरा निरमल पाप न पुंनि, सत रज तम विवरजित सुंनि।
सोहं हंसा सुमिरे सबद, तिहि परमारथ अनत सिध। गो० बा० १७।४६

२ वही, पृ० ६८,६६।१२

३ वही, पृ० १०१।१३

४ सबदहिं ताला सबदहिं कूंची, सबदहिं सबद जगाया
सबदहिं सबद सूं परचा हूआ, सबदहिं सबद समाया। वही, ८।२१

अन्त:करण में प्रकाश हो जाता है अर्थात् वह सत्य का साक्षात्कार कर लेता है[१] । इस साक्षात्कार के लिए शब्द की मात्र की आवृत्ति सहायक नहीं होती है बल्कि शब्द के मूल अनाहत स्वरूप और सुरति दोनों को एकत्र करना पड़ता है । यह सुरति शब्द योग द्विधानाशक अर्थात् अद्वयभाव का कर्ता है[२]।

नादयोग

व्यक्त स्थिति में जो शब्द है वही अपनी मूल अव्यक्त स्थिति में नाद है । नाद और ब्रह्म का अभेद है अत: नाद का साधक ब्रह्म की साधना करने वाला है । यही कारण है कि नादश्रवण को हठयोग प्रदीपिका में नादोपासना की संज्ञा दी गयी है । नादसाधना की विशेषता यह है कि यह सर्वजन सुलभ है तथा चित्त के लय की सर्वोत्तम विधि है[३]।

नाद श्रवण के अभ्यासी को कान, आंख, नाक और मुंह के छेदों को हाथ की अंगुलियों से बन्दकर शान्तचित्त से नादश्रवण करना पड़ता है[४] । नाद की चार अवस्थाएं होती हैं जिसमें वह क्रमश: सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता चला जाता है[५]। नाद श्रवण के समय चित्त नाद में रमने लगता है और यह रमणभाव प्रगाढ़ होते होते लयभाव की स्थिति को प्राप्त कर लेता है[६]।

इस नाद को अनाहतनाद की संज्ञा दी गयी है । अनाहतनाद के अन्तर्गत प्रकाशमान चैतन्य तत्व है और इस चैतन्य के आश्रित अन्त:करण है । जब अन्त:करण उस परम प्रकाशरूप चैतन्य में नाद का आश्रय पाकर विलीन हो

---

१ गो० बा०, ध्यानलिंक, १
२ वही, महिन्द्र गोरख बोध, ८३, ८४
३ ह० यो० प्र०, ४, ६५, ६६
४ वही, ६८
५ वही, ८७
६ वही, ८६ ।

जाता है तब चित्त की सारी वृत्तियां शून्यभाव को प्राप्त कर लेती हैं और यही शून्यभाव परमभाव है[१]।

नाद-साधक, चित्त और पवन दोनों को निर्गुण चैतन्य में लीन करता है अत: वह सहज ही प्रपंचमुक्त हो जाता है और अमनी भाव को प्राप्त कर लेता है[२]।

अमनी-भाव, मन की साधना है, जब मन है तो कल्पना है और कल्पना है तो जगत है, यदि मन को समाप्त कर दिया जाए तो जगत समाप्त हो जाएगा। मन को विलीन करने की विधि को अमनी-भाव अथवा उन्मनी-स्थिति कहा गया है। इस भाव के प्राप्त हो जाने पर द्वैत भाव स्वत: ही समाप्त हो जाता है[३]। मन और पवन का अन्योन्याश्रय माना गया है, यदि एक पर अधिकार सम्भव हो जाए तो दूसरा सहज ही अनुवर्ती हो जाता है[४]। शाम्भवी मुद्रा और उन्मुनी मुद्रा के द्वारा चित्त की उन्मन दशा को प्राप्त करने का विधान प्रदीपिका में वर्णित है। इन दोनों मुद्राओं के द्वारा चित्त की वृत्तियों का प्रवाह रुकता है। जब प्राण, मध्यमार्ग से संचरण करने लगता है तब मन स्थिर हो जाता है और मनोन्मनी भाव की प्राप्ति हो जाती है[५]। उन्मनी भाव एक प्रकार से लय दशा का ही दूसरा नाम है।

सहजयोग

नाथ [illegible] के नाम के साथ यह धारणा बद्धमूल हो गयी है कि यह मार्ग कठिन हठ साधना का ही मार्ग है और अब तक जो कुछ कहा गया है वह श्रम-साध्य-क्रिया प्रधान-योगसाधन के अन्तर्गत ही आता है, लेकिन वस्तुस्थिति

---

१ ह० यो० प्र०, १००

२ वही, १०४, १०५

३ वही, ४।६१

४ वही, ४।२१

५ वही, २।४२

यह है कि नाथसाधकों ने सहज जीवन और सहजभाव और सहजस्थिति को भी महत्व प्रदान किया है। योगीन्द्र गोरक्षनाथ जी ने एक रूपक के माध्यम से इस विषय को स्पष्ट किया है - सहज की जीन है, पवन का घोड़ा है, लय की लगाम है और चैतन्यात्मा सवार है। इस प्रकार अन्य विधियों को छोड़कर इस सहज विधि से दुर्लभ्य ज्ञान को प्राप्त करो[१]। अतः यहां स्पष्ट रूप से विलष्ट क्रियामार्ग का निषेध हो रहा है। आगे भी गोरिन्द्र गोरक्ष बोध में स्वयं मत्स्येन्द्र नाथ ने अपने योगी शिष्य को सभी विधाओं को छोड़कर सहज भाव में विचरने की आज्ञा दी है[२]। नागार्जुन जी ने योगयुक्ति के प्रपंच से दूर रह कर, अहंकार राहित्य भाव और सहज की उन्मन स्थिति के द्वारा सत्य रूपी प्रकाश को प्राप्त करने का उपदेश दिया है[३]।

समाधि

उपर्युक्त सभी साधनों की चरम परिणति समाधि में है। ध्यान के पश्चात् समाधि दशा का प्रारम्भ होता है। इस अवस्था में सभी वृत्तियां निःशेषभाव में आत्मा में लीन हो जाती हैं तथा जीवात्मा और परमात्मा में अद्वैतभाव की स्थिति हो जाती है[४]। घेरण्ड-ऋषि ने ६ प्रकार की समाधि का वर्णन किया है - ध्यान योग समाधि, नाद योग समाधि, रसानन्द योग समाधि, लयसिद्धि योग समाधि, भक्ति योग समाधि तथा राज योग समाधि। बिन्दु अथवा बीजाक्षर के माध्यम से ध्यान योग समाधि, खेचरी मुद्रा से नाद योग समाधि, नाद श्रवण से रसानन्द योग समाधि, अद्वैत भाव की भावना से लय सिद्धि योग समाधि, इष्ट-देवता के चिन्तन और तन्मयता से भक्तियोग समाधि तथा मनोमूर्च्छा-कुम्भक द्वारा मन को ब्रह्म में विलीन कर देने से राज योग समाधि की साधना और सिद्धि होती है[५]।

---

१ सहज पलाण पवन करि घोड़ा लै लगाम चित्त चबका
चेतन असवार ग्यान गुरुकरि और तजो सब ढबका।

२ ढबक्या मेटि सहज में रहै। ऐसा विचार मछिन्द्र कहै।। वही, मछिंद्र गो०बो०, ८४

३ आपा मेटिला सतगुरु थापिला, न करिबा जोग जुगति का खेला
उन्मन डोरी जब बाँधिला, तब सहज जोति का मेला। नाथसिद्धों की बानियां, ६७

४ गो० स० २।८३, ८७

५ घेरण्ड संहिता, ७।७-१६।

गुरु

प्राणायाम से लेकर समाधि पर्यन्त समस्त क्रियाओं का कर्ता साधक होता है लेकिन रहस्य मार्ग गुरुगम्य है। गुरु के निर्देश और कृपा के बिना इस मार्ग में कुछ भी सम्भव नहीं है - ऐसा अनेक महान् साधकों का विचार है। गुरु साधक का सर्वस्व होता है। अत: वह परमश्रद्धास्पद पूज्य और सेवनीय भी होता है[१]। गुरु की कृपा से ही वह परमोच्चस्थिति का लाभ करता है[२]। गुरु को गोरखनाथजी ने बड़े आदर के साथ स्वामी कह कर संबोधित किया है और बार-बार उनकी पादुका को नमस्कार किया है[३]।

महान् शिष्य ही महान् गुरु के सान्निध्य का लाभ करता है। महान् गुरु के पास जाकर ही शिष्य साधक बनता है लेकिन साधक बनने के लिए नितांत उत्तम गुणों का होना भी आवश्यक है। उत्तम गुणों के आश्रय स्थान, सत्पुरुष होते हैं। सत्य वचन बोलने वाले और बिन्दु की रक्षा करने वाला ब्रह्मचारी ही सचमुच सत्पुरुष हैं[४]। साधक को आसन, भोजन और निद्रा के नियमों में भी दृढ़ होना आवश्यक है क्योंकि अति आहार से बल बढ़ता है, बल से काम की इच्छा बलवती होती है, काम से ज्ञान का नाश होता है और प्रमाद बढ़ता है अत: आहार और निद्रा पर पूर्ण संयम होना चाहिए, ऐसे व्यक्ति का शरीर योग के योग्य होता है[५]। इस प्रकार नाथ पंथ में गुरु संयमित जीवन और बिन्दु रक्षा पर बल दिया गया है[६]।

---

१ शिव संहिता, ३।१३-१५

२ गो० बानी ५८।१७२

३ वही, महिन्द्र गोरख बोध, १ और अन्त में

४ पंढ़ी का लहबहा जिभ्या का फूहड़ा, गोरष कहें ते पणि चूहड़ा
काइ का जती मुख का सती, सौ सत्पुरुष उत्तमो कथी। गो०बानी,१५२

५ वही, सबदी, पद - १२५, ३६, ३३, ३२

६ अलप बिंद तैं दुनियां उपनी
बहुत बिंद सैं जोया
गए बिंद की खबरि न जानी
मुए बिन्द कूं रोया।
नाथ सिद्धों की बानियां - बालनाथ की सबदी - ४।

योगी की अपनी योग्यता, गुरु की कृपा और साधनाभ्यास के क्रिक से जीवनमुक्ति की अवस्था प्राप्त होती है - यही असली जीवन है[१]। ऐसे ही मुक्त पुरुष रहस्य का दर्शन करते हैं। रहस्य की दशा परमोच्च दशा होती है, जहां निरति, सुरति, योग, भोग, जरा, मृत्यु, वाणी ऊंकार, उदय, अस्त कुछ भी नहीं रहता है। इस स्थिति में केवल अद्वैत भाव रह जाता है, स्थूल सूक्ष्म से परे सर्वव्यापी रह जाता है और योगी केवली भाव की प्राप्ति कर लेता है।

---

१ गोरख बानी, सबदी, पद २५।

२ वही, ११०, १११।

तृतीय अध्याय

सुरति शब्द योग की रहस्यमयी साधना

सुरति शब्द योग, संत मत की मूल साधना है[१]। इस साधना के संबंध में सन्त मत के अनेक अन्वेषी विद्वानों तथा सन्तमतानुयायी विद्वान साधकों ने लिखा और कहा है। इस साधना के सम्बन्ध में सन्त मत के सुधी विद्वानों ने जो कुछ लिखा है वह संतों की कृतियों के आधार पर उनकी तर्कपूर्ण व्याख्या है लेकिन संतमतानुयायी विद्वान साधकों ने जो कुछ कहा है उसमें संतों के विचार भी हैं और उनका निज का अनुभव भी।

सनातन तथा स्वाभाविक साधना

सुरति शब्द योग की साधना सभी कालों और सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में विद्यमान रही है[२] लेकिन इसके मुख्य पुरस्कर्ता संत इसे सर्वदा अपने काल के अनुरूप रूप देते आए, जिससे यह साधना उस काल के साधकों के अनुकूल बनी रही है[३]। अत: कुल मिला कर कह सकते हैं कि 'सुरत शब्द योग' सनातन है, परम्परा से चला आ रहा है तथा स्वाभाविक है[४]। सनातन इसलिए

---

१ संत मत - डा० प्रताप सिंह चौहान, पृ० १

२ गुरुमत सिद्धान्त - संत सावण सिंह, भाग २, खण्ड १, पृ० ३
सहज साधना - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ३०-३२

३ In every age of the world, the Saints have used a system exactly suited to the needs of the people and the times. People change, to some extent from age to age, and so the Saints give them, in each age exactly that system of Yoga which is best suited to their requirements.
The Path of the Masters - Julian Johnson, page 513.

४ गुरुमत सिद्धान्त, पहला भाग, खण्ड तीन, पृ० ५३।

है कि सन्तों के पूर्ववर्ती आर्षग्रन्थों तथा योगाचार्यों की पुस्तकों में भी किसी न किसी रूप में इस साधना की चर्चा आती है । भारतीय धर्म साधना से इतर अन्य धर्म साधकों के आर्षग्रन्थों और वाणियों में भी यह साधना किंचित संज्ञाभेद से वर्तमान है[१]। इस साधना को स्वाभाविक इसलिए कहा गया है कि 'इसके अभ्यास में प्राणायाम आदि साधना की कठिनाइयां नहीं हैं, इसमें उसकी आवश्यकता ही नहीं है और न ही काम-काज, धर्म, जाति तथा घरबार छोड़ने की आवश्यकता है । यह सारी दुनिया के लिए एक ही स्वाभाविक मार्ग है'[२]। प्राणायामादि की साधनाएं जहां एक ओर कठिन हैं वहीं दूसरी ओर भयावह भी हैं क्योंकि साधक की किंचित असावधानी उसे संकट में भी डाल सकती है लेकिन इस योग में असावधानी की अवस्था में भी किसी अनपेक्षित परिणाम की सम्भावना नहीं है[३]।

कतिपय विद्वान तथा साधक जहां एक ओर सुरति शब्द योग की साधना की परम्परा के मूल स्रोत को आर्षवांगमय से उद्भूत मानते हैं[४] वहीं हुजूर महाराज सावण सिंह जी जैसे कतिपय विद्वान्-संत प्रागैतिहासिक काल में भी इस साधना पद्धति का अस्तित्व स्वीकार करते हैं लेकिन इसका लिखित रूप आजकल इसलिए प्राप्त नहीं होता है क्योंकि सिद्ध गुरु अपने शिष्यों को इस साधना की दीक्षा मौखिक रूप में देते आ रहे हैं[५] ।

---

१ गुरुमत सिद्धांत - भाग १, खण्ड ३, पृ० ६२-६७

२ वही, भाग २, खण्ड १, भूमिका, पृ० ७

३ My submission - Huzur Maharaj Sawan Singh Ji, page 4

४ सन्त मत, पृ० २ तथा
वैदोक्त उपासना सुरत-शब्द-योग, डा० सम्पूर्णानन्द, साधनांक, पृ० ४१

५ My submission - page 4 (Part II)
It was prevalent even during the prehistoric period, but was then imparted orally by a Master to a disciple.

सुरति

सुरति के निश्चित अर्थ के सम्बन्ध में हिन्दी के विद्वान एक मत नहीं हैं । सुरति के सम्बन्ध में जो प्रचलित मत हैं उसकी एक तालिका डा० प्रताप सिंह जी चौहान ने प्रस्तुत की है[१]:-

१) स्वर, आशा और मूल

२) सुरति - स्मृति

३) सुरति - स्वरति

४) सुरति - सुष्ठुरति

५) सुरति - श्रुति

६) सुरति - प्रेम

७) अन्तर्मुखी-वृत्ति

८) सुरति - तान

९) सुरति योगी की असाधारण दृष्टि क्षमता को कहते हैं जिसके द्वारा अपार्थिव जगत के आश्चर्य दृश्यों और शब्दों की साक्षात् अनुभूति प्राप्त करता है[२] ।

डा० राजदेव सिंह ने भी सुरति शब्द के परिस्थिति भेद से प्रयुक्त होने वाले भिन्न भिन्न अर्थों को इस प्रकार दिया है -

१) स्मृति, याद

२) श्रवण - विषय

३) स्मृति शास्त्र

४) अपने सच्चे स्वरूप की स्मृति

५) परम ज्ञान से अपने सम्बन्ध की स्मृति अर्थात् 'सो हमस्मि' की वृत्ति का स्मरण या उदय

---

१ संतमत - पृ० ९५

२ संतमत - पृ० ९५ ।

६) सुरत, अर्थात् स्त्री-पुरुष, शक्ति शक्तिमान्, माया ब्रह्म, प्रियप्रिया की केलि क्रीड़ा

७) प्रेम, आसक्ति, अनुरक्ति

८) सुन्दर रति या परमात्मक विषयक रति, चिन्मुख प्रेम - क्योंकि सामान्य स्त्रीपुरुष की बहिर्मुख अर्थात् स्थूल शारीरिक सुषमाओं एवम् आकर्षण से उत्थित प्रेमानुभूति रति है और सत्-चित आनन्द रूप परम प्रेमात्म के प्रति उत्थित प्रेम उक्त लौकिक एवम् बहिर्मुख रति से विशिष्ट होने के कारण सुरति है ।

९) सूरत (अरबी) रूप, आकृति शक्ल

१०) ध्यान [१]

उपर्युक्त तालिकाओं को देखने के पश्चात् प्रश्न यह उठता है कि क्या सुरति शब्द योग में प्रयुक्त 'सुरति' शब्द के ही ये अनेक अर्थ हैं ? यदि ऐसा है तो सुरति शब्द योग भी कई प्रकार का होना चाहिए । लेकिन बात ऐसी नहीं है क्योंकि पहुंचे हुए सन्तों ने जिस सुरति शब्द योग की चर्चा की है, वह मूलत: एक है, उसमें लेशमात्र भी विभिन्नता नहीं है जैसा कि संत दादू ने स्वयं स्वीकार किया है -

जो पहुंचे ते पूछिए, तिनकी एके बात
सब साधौ का एक मत, बिच के बारह बाट ।

अत: अगर सब पहुंचे हुए सन्तों की एक बात है तो निश्चित रूप से सुरति शब्द में प्रयोगित 'सुरति' भी एक ही अर्थ में प्रयुक्त है । ऐसा अवश्य है कि अपने पर्याय रूप में यह शब्द, भिन्न भिन्न अर्थों में भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न संदर्भों में प्रयुक्त हुआ है लेकिन जब उपर्युक्त विशिष्ट साधना के लिए प्रयुक्त हुआ है तो

---

१ संतों का भक्तियोग - डा० राजदेव सिंह, पृ० १२७ ।

एक निश्चित अर्थ में ही प्रयुक्त हुवा है । सुरति-शब्द के अन्य अर्थों से सन्त परिचित थे लेकिन योग के सम्बन्ध में यह शब्द उनके द्वारा काफी सुचिंतित होकर एक निश्चित अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है ।

'सुरति' शब्द के विभिन्न अर्थों को देखने से इस योग के स्वरूप का स्पष्ट होना कठिन है, अत: सम्पूर्णपद 'सुरतिशब्द योग' के सम्बन्ध में विभिन्न मान्य विद्वानों और विद्वान-साधकों के विचारकों को भी देखना आवश्यक है । डा० पीताम्बरदत्त जी बड़थ्वाल ने 'नाम सुमिरन' अथवा 'मंत्र योग' को 'सुरत शब्द योग' का दूसरा रूप माना है और उसे सारे योगों का योग यानी सर्व श्रेष्ठ योग स्वीकार किया है तथा मक्तियोग, राजयोग, मंत्रयोग, कर्मयोग, लय योग, हठयोग एवं ज्ञानयोग को उसी के विविध रूपान्तर के रूप में स्वीकार किया है[१]। आगे और स्पष्ट करते हुए सुरति शब्द योग के सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि - 'वह योग जिसके द्वारा सुरति एवं शब्द का संयोग सिद्ध होता है और युक्त सीमाएं शब्द में फिर लीन हो जाती हैं, शब्द योग अथवा सुरति शब्द योग कहलाता है और वह शब्द सर्वप्रथम भगवान्नाम के रूप में मुंह से निकलता है और अन्त में स्वयं शब्दरूप ब्रह्म हो जाता है । इसे सहज योग भी कहा जाता है क्योंकि इसकी सहायता से ही प्रत्यभिज्ञान होता है'[२]। डा० बड़थ्वाल की यह परिभाषा एक प्रकार से सुरति शब्द योग का ही शाब्दिक भाष्य है और फिर उसे अन्यान्य योगों के समान स्वीकार करने का प्रयास है । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'सहज साधना' में बड़ी मनोरम भाषा में वैराग्य पूर्वक, प्रेमभावापन्न होकर नामस्मरण में लीन हो जाने को ही सुरति योग माना है[३]। डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने इस योग को लय योग के प्रकार के रूप में स्वीकार किया है ।

---

१ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, डा० बड़थ्वाल, पृ० २२८

२ वही, पृ० २२९

३ सहज साधना - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ७७-७८ ।

आचार्य पं० परशुराम चतुर्वेदी ने सुरति को जीव का निर्मल रूप माना है और उस सुरति को किसी सद्गुरु की बताई युक्तियों के अनुसार शब्द से जोड़ने को सुरति शब्द योग बताया है[१]। महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ जी कविराज ने सुरति को असाधारण दृष्टि माना है और निरति को निर्विकल्प ध्यान और इस योग की सफलता अथवा पूर्णता के लिए दोनों का सामंजस्य आवश्यक माना है लेकिन महामहोपाध्याय जी ने संत दरिया साहब के 'शब्द' नामक ग्रन्थ के आधार पर सुरति शब्द योग के सम्बन्ध में यह निष्कर्ष निकाला है[२] और दरिया साहब के अध्येता डा० ब्रह्मचारी ने भी इसी प्रकार की व्याख्या उपर्युक्त योग के सम्बन्ध में प्रस्तुत की है[३]।

सुरति शब्द योग के सम्बन्ध में लिखने वाले साधक विद्वानों में अधिकांशत: राधास्वामी मतानुयायी हैं अत: उक्त योग के सम्बन्ध में उनके विचार अपने मत के अनुरूप हैं, और उनके विश्लेषण तथा व्याख्याओं में भी समूलपूर्व समानता है ।

भारतवर्ष में योग सदा से परम्परा अथवा सद्गुरु द्वारा प्राप्त होने वाली वस्तु रही है, यही कारण है कि इन रहस्य साधनाओं के रेखाचित्र तो पुस्तकों में प्राप्त हो जाते हैं लेकिन सांगोपांग वर्णन नहीं । एतदर्थ इन साधक विद्वानों ने इस योग के स्वरूप का संकेत तो दे दिया है लेकिन विशिष्ट योग-प्रक्रिया को गोप्य रखकर उसे किसी सद्गुरु द्वारा प्राप्त करने का आदेश दिया है।

हजूर महाराज संत सावण सिंह जी ने सुरत का अर्थ तन्मयता, चैतन्य और आत्मा बताया है तथा सुरत को शब्द से युक्त कर देने की प्रक्रिया को 'सुरत

---

१ उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० २०४-२०५

२ भारतीय संस्कृति और साधना - म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, पृ० ४३ (द्वितीय खण्ड)

३ सन्त कवि दरिया, एक अनुशीलन, डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, पृ० १०६ ।

शब्द योग' कहा है । यह योग सुमिरन, ध्यान और धुन के तीन सोपानों में विभक्त है । सुमिरन की पहली अवस्था में वर्णनात्मक शब्द का स्मरण होता है फिर यही शब्द ध्वन्यात्मक हो जाता है जिसका स्मरण भौतिक जिह्वा से न होकर सुरत की जिह्वा से होता है । जब इस साधना में परिपक्वता आ जाती है तब धारणा शक्ति जग जाती है और प्रकाश का प्राकट्य हो जाता है । इस अवस्था को ध्यान की संज्ञा दी गयी है । अन्त में धुन की अवस्था आती है जिसमें एक विशेष आन्तरिक ध्वनि के साथ पूर्ण एकाग्रता प्राप्त हो जाती है तथा साधक का भौतिक अस्तित्व तिरोहित होकर चैतन्यमय हो जाता है । बोलने, देखने और सुनने की शक्तियों के द्वारा ही व्यक्ति का सम्पर्क बाह्य जगत से स्थापित रहता है लेकिन जब बोलने की शक्ति सुमिरन में समा जाती है, देखने की शक्ति ध्यान में मग्न हो जाती है तथा सुनने की शक्ति ध्वन्यात्मक नाम में लीन हो जाती है तब जीभ, आंख और कान तीनों पर सुमिरन, ध्यान और धुन के बन्द लग जाते हैं और आत्म तत्व स्वत: प्रकाशित हो उठता है । सुमिरन का कार्य चैतन्य को एक केन्द्र पर स्थिर करना है जिससे देहभाव की समाप्ति हो जाए । ध्यान का कार्य चैतन्य को शरीर के उच्चतर केन्द्रों पर स्थिर करना है तथा धुन का कार्य चैतन्य को क्रमश: उच्चतम केन्द्रों तक पहुंचाना है[१] ।

निरति

इस आध्यात्मा यात्रा के सन्दर्भ में सुरति के साथ साथ निरति का भी प्रयोग संतों के द्वारा बार बार किया गया है । सुरति हमारे चैतन्य की अन्तर्दृष्टि है और निरति श्रवणशक्ति । इस यात्रा में निरति क्रम में पहले आती

---

१ गुरुमत सिद्धान्त - पहला भाग, खण्ड ३, पृ० ५३-५६
पहला भाग, खण्ड १, पृ० ७५
दूसरा भाग, खण्ड १, भूमिका, पृ० ७-२७

My submission - Part I, page 89-92
राधास्वामी योग- छठवां भाग, पृ० २१-२५ तथा आनंद योग प्रकाश - पंडित शिवव्रतलाल - १२६-३० ।
Mysticism the spritual path - L.R.Puri, Vol.II, 217-225
Message Devine - Shanti Sethi - 7-34.

है और सुरति बाद में और अन्त में दोनों शब्द में विलीन हो जाती है[१]।

व्यापकता

कतिपय साधक-विद्वानों का विचार है कि ध्वन्यात्मक नाम की यह विशिष्ट साधना अन्यान्य धर्मों में भी प्रचलित थी लेकिन उनके अनेक अनुयायियों को इसकी अभिज्ञता नहीं है। हिन्दू धर्म में अनाहत शब्द, आकाशवाणी तथा श्रुति नाम से, छान्दोग्य और माण्डूक उपनिषदों में 'उद्गीथ', नाद-विन्दु उपनिषद में 'शब्द', सिख धर्म में नाम, धुन, सच, अनहदशब्द, बानी, गुरुवाणी, शब्द आदि, इस्लाम धर्म में कलमा, कलमए-इलाही, नादाए-आसमानी, इस्मे आजम, सुलानुलअजकार नाम से इसी साधना का उल्लेख आता है। ग्रीक रहस्य-दर्शी लोगास के द्वारा इसी की चर्चा करते हैं। सुकरात ने भी आन्तरिक शब्द का जिक्र किया है जिसके द्वारा वह दैवी भाव की प्राप्ति करता था। जरथुस्त्र ने इसे ही सराओशा नाम दिया है। थिओसफी मतानुयायी इसे 'मौन का शब्द' कहते हैं जिसे 'शुद्ध-शुभ्र संगीत' की संज्ञा भी दी है[२]। प्रारंभ में इस दैवी नाद अथवा संगीत का स्वरूप मन्द होता है किन्तु धीरे धीरे यह बढ़ता चला जाता है[३]। यह नाम, नाद अथवा शब्द ईश्वर का सर्वव्यापी प्रतिनिधि स्वरूप है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि शब्द और आत्मा अभिन्न हैं। अत: शब्द ही वह अचूक साधना है जिसके द्वारा सुरति उच्च से उच्चतर आध्यात्मिक केन्द्रों की ओर क्रमश: अग्रसर होती है[४]।

---

१ वही, भाग २, पृ० १६
Mysticism the Spritual -PathV- II, L.R. Puri, page 216

२ The Inner Voice - C.W. Sanders, page 21

३ वही, पृ० २४

४ Mysticism the spritual path - L.R. Puri, page 121.

जिस नाम की चर्चा अभी चल रही है, वह नाम लिखने बोलने में नहीं आ सकती है क्योंकि यह ऐन्द्रिक ज्ञान से परे है । इसकी मात्र अनुभूति ही सम्भव है । यह एक दैवी नाद है जिसका श्रवण, आन्तरिक चैतन्य के द्वारा ही सम्भव हो सकता है[१]। इस पवित्र-नाम का गुंजार हमारे भीतर होता रहता है । मनुष्य शरीर में आंखों से ऊपर का भाग इस पवित्र नाम का देश है[२]। इस परम-चैतन्य से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए; देहभाव से ऊपर उठकर ध्यान को भ्रूमध्य में एकत्र करना पड़ता है । जब ध्यान की अवस्था परिपक्व हो जाती है तब स्वत: उसकी गति उच्चतर केन्द्रों की ओर हो जाती है[३]। उच्च से उच्चतर दिशा की ओर जाने वाले केन्द्र हैं - सहस्रदलकमल, त्रिकुटी, सुन्न, भंवरगुफा, सतलोक, अलखलोक, अगमलोक तथा अनामी लोक अथवा राधास्वामीधाम[४]।

इन आभ्यान्तरिक लोकों अथवा केन्द्रों की यात्रा परमानन्दपूर्ण है क्योंकि ये केन्द्र दिव्य प्रकाश और दृश्यों से युक्त हैं । इस स्थिति को प्राप्त रहस्यदर्शी भी सामान्य भाषा में इन दृश्यों का वर्णन नहीं कर सकते[५]। जो एक बार इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है, वह पूर्ण आत्माराम हो जाता है, जीवन-जगत का रहस्य उसके समक्ष खुल जाता है तथा वह जगत में रहकर भी जगत से परे हो जाता है । इस स्थिति को संतों ने जीवनमुक्त की संज्ञा दी है[६]।

---

1 Message Divine - Shanti Sethi, page 7

2 Light on Sant Mat - Maharaj Charan Singh- page 14

3 Liberation of the soul - J. Stanley White, page 51-52.

4 Discourses on Sant Mat - Huzur Maharaj Sawan Singh, p.249-272
In search of the way - Flora E. Wood, page 18-20.

5 The Path of the Masters - Julian Johnson, page 533.

6. Divine Light - Maharaj Charan Singh, page 56.

संत साहित्य के मर्मज्ञ विद्वानों और साधक विद्वानों के विचारों को एकत्र रखकर देखने से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'सुरतिशब्द योग' में सर्वाधिक प्रकर्ष 'शब्द' पर है क्योंकि शब्द को आधार बनाकर यह योग रहस्यदर्शन की उच्च से उच्चतर भूमियों की ओर अग्रसर होता है । इस स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि शब्द को आधार बनाकर सम्पादित होने वाले इस योग का विकास देखा जाए फिर शब्द के स्वरूप पर विचार किया जाय ।

वैदिक साहित्य

वैदिक काल में शब्द साधना किसी न किसी रूप में अवश्य प्रचलित थी क्योंकि ऋषियों ने वाक् अथवा शब्द का साक्षात्कार अपने अन्तःकरण में किया था - ऐसे उद्धरण प्राप्त होते हैं[१] लेकिन शब्द साधना की विस्तृतविधि के संकेत इस लिखित साहित्य में नहीं मिलते हैं । अतः मात्र उपर्युक्त संकेत भी इस बात की पुष्टि के लिए अलम् है कि मंत्रद्रष्टा ऋषियों की साधना पद्धति, शब्द साधना से सम्बद्ध थी । आगे चलकर उपनिषदों में शब्द के एक विशिष्ट स्वरूप ओंकार की साधना पर बल दिया गया और इसे परब्रह्म-स्वरूप स्वीकार किया गया[२]। यह विशिष्ट नादात्मक शब्द ओंकार चार पाद और तीन मात्राओं से युक्त है[३]। इसके चार पाद हैं - वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ तथा शान्तं शिवम द्वैत[३]। इन चार पदों को जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्था से तुलनीय भी माना गया है लेकिन सरल भाषा में यदि यह कहा जाए कि ओंकार का स्मरण पहले जिह्वया-जप के रूप में होता है फिर मन, बुद्धि के स्तरों से उठाते हुए अन्तःकरण के स्तर तक इस जप को पहुंचाया जाता है तो रहस्यात्मक रूप से कही गयी यह बात अधिक स्पष्ट हो सकती है ।

---

१ ऋ० १०।७१।१-२

२ प्रश्नोपनिषद् - ५-२

३ माण्डूक्य - ८

४ वही, ३,४,५,७ ।

बौद्ध-साहित्य

बौद्ध साहित्य में बुद्ध को 'सच्चनाम' कहा गया है[१]। कालान्तर में यह सत्यनाम जप का साधन बन गया और 'अमितायुर्बुद्धनाम गाथा' तथा 'अमितायुनाम' जैसी पुस्तकों की रचनाएं भी हुई[२]। कहने का तात्पर्य यह कि शब्द साधना यहां भी प्रतिष्ठित हो गयी। तत्पश्चात् तंत्रयुग में इसे अधिक प्रकर्ष प्राप्त हुआ। इस काल में इस बहुप्रचलित साधना को मंत्रसाधना की संज्ञा दी गयी है। यह मंत्र एक अक्षर का भी हो सकता है अथवा कई अक्षरों का भी। मंत्र की प्रत्येक ध्वनि अथवा वर्ण को किसी विशेष शक्ति से संयुक्त माना गया है। साधक मंत्र-जप के द्वारा उस विशिष्ट शक्ति का प्राकट्य करता है[३]। 'मंत्र पहले गुरु के व्यक्तित्व में विद्यमान रहता है। जब वह, यह जीवन्त शब्द शिष्य को प्रदान करता है तो फिर इसे वह अपनी साक्षात्कार की शक्ति से शक्तिमान बना देता है। यही नहीं, वह शिष्य की चेतना को मंत्र की जीवन्त शक्ति के प्रति जगाता है। उचित रूप से नियोजित और ग्रहीत मन्त्र और उसमें निहित शक्ति पुनः व्यक्ति में एक ऐसी शक्ति का रूप ग्रहण करती है जो साधना को क्रियान्वित करती है और आगे बढ़ाती है। जैसे जैसे यह साधक की सत्ता में प्रसार करती है और वेग ग्रहण करती है वैसे वैसे साधक के मानवीय प्रयत्न को लील लेती है, उसे ऊंचा उठा देती है[४]।"

तंत्र साहित्य

साधना की उपर्युक्त दिशा में तांत्रिक बौद्ध साधकों ने वज्रजाप का विधान किया है जिसके लिए उन्होंने 'उवं' बीज मंत्र चुना है। 'ब' तथा 'व'

---

१ अंगुत्तर निकाय - भा ३, पृ० ३४६ (बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन भाग २, पृ० १०६१ से उद्धृत)

२ ध्यान सम्प्रदाय - डा० भरतसिंह उपाध्याय, पृ० ६६

३ तांत्रिक साधना - माधव पुण्डलीक पण्डित (हिन्दी रूपान्तर), पृ० २४

४ वही, पृ० २५।

क्रमश: उपाय और प्रज्ञा के बीजाधार हैं । इस विधि के अन्तर्गत मौखिक जप का महत्व नहीं है बल्कि ध्यान में इन बीजाधारों को ग्रहण करने तथा श्वास-प्रश्वास से स्वत: इस शब्द को नि:सृत करने का विधान है । सिद्ध साधकों ने इस शब्द-साधना से उठकर नि:शब्द साधना की स्थिति पर भी विचार किया है और उसे जप की चरमावस्था माना है :

ताव से अक्खर घोलिया जाव णिरक्खर होई[1]।

नाथ साहित्य

शब्द साधना से नाथ योगी भी भली भांति परिचित थे यद्यपि इनकी योगपद्धति का मूल ठाट हठयोग प्रधान है फिर भी जप का उनके यहां कम महत्व नहीं है । जप की उच्चतर भूमिका अजपाजप है जहां आयासरहित स्वत: साध्य जप, स्वाभाविक रूप से चलता है । नाथ-साधना इन्द्रियों के निग्रह, शून्य-ध्यान, ब्रह्मानुभूति तथा तदाकार वृत्ति को भी इस साधना के साथ आवश्यक मानते हैं[2]। यह निरन्तर स्मरण, शब्द अर्थात् अनाहत शब्द को प्रकट करता है और सुरति उस शब्द में लीन हो जाती है और आगे चल कर निरति की वह अवस्था आती है जहां सब कुछ सहज हो जाता है[3]।

शब्द योग की जो महनीय साधना वैदिक काल और उससे पूर्व से चली आ रही थी वह क्रमश: परवर्ती साधना मार्गों में भी किसी न किसी रूप में सुरक्षित रही और सन्त साधकों के हाथ में प्रकृष्ट से प्रकृष्टतर होती गयी । सन्त साधकों ने इस योग को कौन-सा रूप दिया, इस पर विचार करने से पूर्व शब्द के स्वरूप पर विचार कर लेना अधिक समीचीन होगा जिसे आधार बनाकर सन्तों का सुरति शब्द योग विकसित होता रहा है ।

---

१ सिद्ध साहित्य, पृ० ४०३-४०८

२ गोरखबानी, ७।१८

३ वही, १६६ ।

नाम और शब्द

सन्तों की रचनाओं में नाम और शब्द की चर्चा पर्याय रूप में हुई है और उन्होंने नाम अथवा शब्द की सत्ता को सर्वोपरि स्वीकार किया है[१]। किन्तु प्रश्न यह है कि कौन सा नाम अथवा शब्द सर्वोपरि है जिसे संतों ने अपनी साधना का मूल आधार बनाया है। सामान्य रूप से जो कुछ ध्वनित होता है, मुख से अथवा अन्य किसी माध्यम से, उसे शब्द की संज्ञा दी जाती है लेकिन लौकिक व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले तथा अन्य माध्यमों द्वारा उत्पन्न शब्द तो स्थूल शब्द हैं अत: इनकी शक्ति सान्त है। अनन्त तक पहुंचने के लिए सूक्ष्म शब्द को ही मूल आधार बनाया जा सकता है।

वाणी की चार अवस्थाएं

शास्त्रों में चार प्रकार के शब्द की चर्चा आती है[२]। निश्चित रूप से वाणी अथवा शब्द के वे चार पद हैं - परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी[३]। वैखरी, वाणी की स्थूल अवस्था है अत: वह शब्द का निम्नतर स्तर है। मुख विवर के ध्वनि-यन्त्रों की क्रिया से यह वाणी उत्पन्न की जाती है और कानों तक पहुंचायी जाती है।

मध्यमा-वाणी, वैखरी वाणी की बाद वाली अवस्था है, अत: स्थूल-सूक्ष्म की मध्यभूमिका पर अवस्थित है। यह शब्द की मातृका अवस्था है। इसे 'हिरण्यगर्भ' शब्द भी कहते हैं[४]। संकल्प, विकल्प और मनन की दशा में शब्द के जिस सूक्ष्म रूप का भान होता है वही मध्यमा वाणी का स्वरूप होता है[५]। मध्यमा भूमि को मंत्रमयी भूमि कहा जाता है क्योंकि मंत्ररूप

---

१ Mysticism the Spritual Path, L.K. Puri, page 191.

२ चत्वारि वाक्परिमिता पदानि, ऋ मं सूक्त १६४,४५

३ आनन्दयोग प्रकाश - महर्षि शिवव्रत लाल, पृ० ३८

४ कबीर साधना और साहित्य : डा० प्रतापसिंह चौहान, पृ० १

५ मंत्र और मातृकाओं का रहस्य - डा० देवीशंकर अवस्थी, पृ० ३३

में ही मध्यमा वाक् आत्म-प्रकाश करता है[१]।

पश्यन्ती-वाणी वैसी जा सकती है - ऐसा पश्यन्ती शब्द के अर्थ पर विचार करने से लगता है, परन्तु देखने की यह क्रिया स्थूल दर्शन की क्रिया न होकर बोध-दर्शन की क्रिया है इसलिए ही इसे ज्ञान शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है[२]।

परा-वाक् ,चिन्मय और अव्यक्त है, यह वाणी की चरमावस्था[३] है । यह वाणी का श्रेष्ठतम रूप है जो सम्पूर्ण रचना में व्याप्त है जो अदृश्य है[४]। वाणी के इस स्वरूप की अनुभूति हो सम्भव हो सकती है लेकिन अति मानसिक धरातल पर । अत: दूसरे शब्दों में अतिमानस की भूमिका पर जो शब्द है जिसका अनुभव असामान्य योगी जन करते हैं - परावाक् है ।

'पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी को क्रमश: सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत अवस्था कहते हैं[५]। जाग्रत अवस्था में चेतना का बिखराव रहता है । स्वप्नावस्था बिखराव और स्थिरता की मध्यावस्था है और सुषुप्ति उपरामावस्था है । इसलिए इन अवस्थाओं की तुलना वाणी के विभिन्न स्तरों से की जाती है । परा-वाणी तुरीयावस्था स्वरूप है इसलिए कि पूर्ण है । संत-साहित्य में जिस शब्द-साधना की चर्चा आती है वह साधना-वैखरी वाणी की प्रथमावस्था से प्रारम्भ हो कर अन्य इतर अवस्थाओं का आश्रय लेकर ही अग्रसर होती है और लक्ष्य तक पहुंचती है ।

वाणी की वैखरी-अवस्था में, शब्द और अर्थ दोनों की भेदकता रहती है लेकिन क्रमश: अग्रसर होते हुए जब यही नाम अथवा शब्द, मध्यमावस्था

---

१ भा० सा० और साधना - म०म०गो० - कविराज, पृ० ३३१
२ मंत्र और भा० का रहस्य - डा० अवस्थी, पृ० ३७
३ वही, पृ० ३८
४ आनन्द योग प्रकाश, म० शि० ब्र० लाल
५ सहज साधना, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ३८ ।

को प्राप्त होते हैं तब अर्थ से उनका भेदाभेद सम्बन्ध हो जाता है । जब गति और आगे बढ़ती है तब पश्यंति भूमिका में शब्द अर्थ की भेदकता अथवा सीमा-रेखा समाप्त हो जाती है । इस स्थिति को मंत्र-साक्षात्कार की स्थिति कहते हैं किन्तु इस स्थिति में भी साक्षात्कार और साक्षात्कर्ता का भाव रह ही जाता है जिसका निरसन पराभूमिका में होता है यानी जहां पहुंचकर स्मरण और स्मरणकर्ता में अभेद अर्थात् अद्वैत की स्थिति हो जाती है[१]। इसे शब्द साधना की परमोच्च स्थिति मानते हैं ।

मंत्र

साधना-साहित्य में शब्द अथवा नाम को ही मंत्र कहा गया है । लेकिन वैदिक साहित्य में मंत्र शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है । वेद की ऋचाओं के प्रत्येक छंद को मंत्र तो कहा ही जाता है इसके अतिरिक्त भी यज्ञ-हवनादि के लिए रचित वाक्यों और अन्यान्य शब्द-प्रतीकों को भी मंत्र की संज्ञा दी जाती है किन्तु तंत्र-साहित्य में मंत्र शब्द ठीक उन्हीं अर्थों में प्रयुक्त नहीं होता है । तंत्र-साहित्य में उसी शब्द अथवा शब्द समूहों को मंत्र मानता है जिसमें किसी देवता अथवा शक्ति को प्रकट करने का सामर्थ्य रहता है । ये शब्द अथवा शब्द-समूह प्रतीक स्वरूप होते हैं और विशेष शक्ति सम्पन्न भी होते हैं । खुल कहने का तात्पर्य यह है कि मंत्र तो एक प्रकार से नाम ही होते हैं और देवता, उस नाम अथवा शब्द के अर्थ होते हैं[२]।

तंत्र शास्त्र के अनुसार समस्त अक्षर कुण्डलिनी में स्थित हैं जहां से इनका प्राकट्य होता है । वर्णमाला के ये अक्षर ब्रह्म प्राप्ति के साधन हैं लेकिन तब, जब उन्हें सही रूप में नियोजित करके शक्ति सम्पन्न बना दिया जाए । शब्द की इस शक्ति का परिचय साधना के द्वारा होता है । मंत्र और

---

१ संस्कृत काव्य में योग का स्वरूप - डा० रामेश्वर प्रसाद सिंह, पृ० ३६५ ।

२ तंत्र सिद्धान्त और साधना - पं० देवदत्त शास्त्री, पृ० ५६ ।

स्तोत्रों का सम्बन्ध निकट का होता है । कतिपय स्तोत्र भी मंत्रात्मक होते हैं लेकिन इन दोनों में मुख्य अन्तर यह होता है कि स्तोत्रों की भाषा, रचयिता-साधक की भाषा होती है किन्तु मंत्रों की भाषा निश्चित स्थिर और शाश्वत होती है; उसका सम्बन्ध रचयिता से नहीं होता है । मन्त्र वस्तुत: देवता का शब्दात्मक शरीर होता है - दिव्य भाव से सम्पन्न[१]।

बीज

प्रत्येक मंत्र का सम्बन्ध किसी न किसी विशेष शक्ति अथवा देवता से होता है जिसका संकेत 'बीज' से प्राप्त होता है । जिस प्रकार व्यक्ति की पहचान उसके नाम से होती है उसी प्रकार मंत्रात्मक देवता की पहचान 'बीज' से होती है । तंत्र के अनुसार भिन्न भिन्न देवताओं के भिन्न भिन्न बीज होते हैं यथा ह्रीं, श्रीं, क्लीं, ऊँ क्रमश: माया, लक्ष्मी, काली और सरस्वती बीज हैं जिनका प्रयोग मंत्रों के प्रारम्भ में किया जाता है[२]।

नाद-बिन्दु

संत-साहित्य में जैसे शब्द और नाद का सम्बन्ध है उसी प्रकार तंत्र में भी अक्षर और नाद सम्बन्ध हैं । मंत्र में इस नाद की अभिव्यक्ति बिन्दु के रूप में होती है और मंत्रविद् बिन्दु को अक्षर की शक्ति रूप में स्वीकार करते हैं[३]। साधना में भी नाम की अभिव्यक्ति नादरूप में होती है । यही नाद आगे चलकर बिन्दुरूप में प्रकट होता है[४]। यद्यपि नाद का शाब्दिक अर्थ ध्वनि है लेकिन यह ध्वनि कानों से सुनी जाने वाली स्थूल ध्वनि नहीं है । नाद वस्तुत: शब्द का सूक्ष्म स्वरूप है क्योंकि यह वर्णादि से रहित है[५]।

---

१ तंत्र सिद्धान्त और साधना - पं० देवदत्त शास्त्री, पृ० ५७ ।
२ वही, पृ० ५८
३ वही, पृ० ५८
४ सच्चिदानन्द विभवात् सकलात् परमेश्वरात्
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाच्च बिंदु समुद्भव: । शारदातिलक
५ कबीर साधना और साहित्य - डा० प्रताप सिंह चौहान, पृ० ३३ ।

'स्व'-भावोदय

मंत्र-साधना आत्मसाक्षात्कार के प्रमुख साधनों में एक है । आत्म-विस्मृति को समाप्त करने के लिए अज्ञान की समाप्ति आवश्यक है और अज्ञान-नाश के लिए मंत्र साधना । मंत्र साधना से बाह्य आवरणों अर्थात् अहंकार का नाश होता है और 'स्व'-भाव का उदय होता है । 'स्व'-भाव के उदय के अनन्तर ही मंत्रसिद्धि की स्थिति आती है[१]।

जप

मंत्र-सिद्धि की स्थिति तक आने के लिए साधना की आवश्यकता होती है जिसका प्रारम्भ जप से होता है । संतों ने जपक्रिया अथवा जपयोग को ही सुमिरन अथवा नामस्मरण की संज्ञा दी है । स्मरण की यह प्रक्रिया यांत्रिकरूप में होने वाली पुनरावृत्ति की क्रिया नहीं है बल्कि इसका सम्बन्ध आन्तरिक भावराज्य से है । मंत्र-शरीर के ये शब्द, चैतन्य होते हैं, अत: साधारण स्थूल शब्द-कोटि में नहीं आते हैं अत: जप की क्रिया भी शब्द की मात्र पुनरावृत्ति नहीं होती है । यद्यपि प्रारम्भ में इसका स्वरूप शाब्दिक पुनरावृत्ति ही रहता है लेकिन अन्त में इसका सम्बन्ध हमारी चेतना से हो जाता है[२]।

जप की प्रारम्भिक अवस्था में शब्द, मंत्र अथवा नाम की पुनरावृत्ति होती है और अर्थ भी उसके साथ सम्पृक्त रहता है[३] किन्तु जब साधक इस अवस्था से आगे बढ़ जाता है वहां मात्र भाव ही शेष रह जाता है, शब्दार्थ पीछे छूट जाते हैं फिर और आगे बढ़ने पर भाव; साधक की चेतना में इस

---

१ भारतीय संस्कृति और साधना- कविराज जी, द्वितीय खण्ड, ३२७ ।

२ Gayatri - I.K. TAIMNI, page 47.

३ योगसूत्र, १।२८ ।

प्रकार विलीन हो जाता है कि वह उसके चैतन्य-अस्तित्व का अंग बन जाता है। जप-साधना अथवा स्मरण-साधना की इस स्थिति तक भाव की सत्ता चैतन्याश्रित रहती है, कहने का अर्थ यह कि अभी इस भूमिका में भी चैतन्य बोध अथवा अहंकार शेष रह जाता है लेकिन जब भाव-सत्ता चैतन्य-बोध को पूर्णतया आत्मसात कर लेती है तब उस परमोच्च भाव स्थिति अर्थात महाभावावस्था में शब्द, साधक और साध्य की सत्ता एक हो जाती है[1]।

जप-विधि

मंत्र-जप की तीन विधियों का उल्लेख शास्त्रों में मिलता है। पहली स्थिति में उच्च-नीच तथा स्वरित भेद से मंत्र का स्पष्ट उच्चारण होता है। दूसरी स्थिति में ओठ और जीभ हिलने की क्रिया तो होती है लेकिन शब्द बाहर नहीं निकलते हैं। तीसरी स्थिति में जप-क्रिया अन्तर्मन में चलती है - नि:शब्द मंत्र भावना के साथ। साधना-जगत में इन क्रियायों को उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माना जाता है। इनकी क्रमिक श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए शास्त्रों में इन्हें क्रमश: दसगुना, सौगुना और सहस्रगुना फलप्रद कहा गया है[2]। साधक-मनीषी श्री गोपीनाथ जी कविराज ने उपर्युक्त विधियों को वैखरी के अन्तर्गत ही माना है। "वाचिक उपांशु तथा मानसिक - ये तीन प्रकार के जप वैखरी के अवान्तर भेद हैं। इन तीनों भेदों में जप का भाव विद्यमान रहता है। मानस कर्म जिस प्रकार कर्म है, उसी प्रकार मानस जप भी वैखरी जप से भिन्न कोई वस्तु नहीं। मानस जप के मूल में भी कर्ता रूप में अहंभाव अक्षुण्ण रहता है, कि मैं जप कर रहा हूं। यह भाव स्फुट तथा अस्फुट रूप में विद्यमान रहता है। इसके बाद धीरे धीरे अवस्थान्तर का उदय होता है। तब कण्ठरोध

---

1 Gayatri - page 45.

2 The Gospel of divine love - page 152

Gayatri - 43.

तंत्र सिद्धान्त और साधना, पृ० 49

Japa - M.P. Pandit, page 14.

हो जाता है - प्रयत्न द्वारा जप करना और नहीं चल पाता । कर्म रत सब नाड़ियां इस अंश में निष्क्रिय हो जाती हैं, तब जप अपने आप भीतर ही भीतर चलता है । इसका नाम 'अजपा होना' है, यह स्वभाव का जप है । इसके तीन भेद हैं - पहले हृदय में जप होता है, द्वितीय अवस्था में नाभि में होता है और अन्त में मूलाधार में होता है । हृदय जप को ही मध्यमा मार्ग में प्रवेश जानना चाहिए । उस अवस्था में नाद अपने आप चलता है । जब तक मध्यमा में प्रवेश नहीं होता तब तक बाह्य जप में नाद श्रवण नहीं होता । बाह्य जप में मंत्राक्षरों का पृथक पृथक उच्चारण होता है, इस कारण वह विकल्प मय है और प्रकृत मंत्र नहीं । मध्यमाभूमि में जब नाद के सहित मंत्र स्वभावत: ध्वनित हो उठता है तभी उसे 'आन्तर जप समझना चाहिए'[१] ।

श्रेष्ठता तथा प्राचीनता

साधन के क्षेत्र में जप अथवा स्मरण की श्रेष्ठता निर्विवाद रही है यही कारण है कि भगवान ने इसे अपनी विभूति माना है[२]। श्रेष्ठता के साथ साथ इसकी प्राचीनता में भी संदेह नहीं है क्योंकि किंचित संज्ञा भेद से 'स्वाध्याय' नाम से इस साधना की चर्चा वैदिक साहित्य में की गयी है और साधक को स्वाध्याय में अप्रमादित रहने की आज्ञा दी गयी है । रामायण-महाभारत काल में भी इस विधि को उत्कृष्ट साधनरूप में स्वीकार किया गया है[३] और बौद्ध काल ने तो इसे और अधिक महत्व प्रदान कर दिया है जिसका प्रतिफलन मंत्र के एक स्वतंत्र आम्नाय के रूप में हुआ है[४]।

---

१ भारतीय संस्कृति और साधना, ३३५

२ गीता १०।२५

३ कल्याण, योगांक, ३२६

४ मध्यकालीन काव्य में रहस्यवाद, पृ० २२३ ।

हठयोग तथा राजयोग

जप-साधना अथवा नामस्मरण का सम्बन्ध राजयोग से है । पुरा काल से साधना मूलत: दो रूपों में प्रतिष्ठित रही है । साधना के जिस रूप में शरीर-साधना पर अधिक बल दिया जाता था उसे तो हठयोग के अंतर्गत रखा गया लेकिन जिस साधना पद्धति में मन-साधन पर अधिक प्रकर्ष था उसे राजयोग के अन्तर्गत स्वीकार किया गया । इस व्यापक वर्गीकरण को यदि दृष्टि में रखा जाये तो संतों की यह शब्द-साधना भी राजयोग की सीमा में ही आती है । साधना के जगत में हठ और राज को अलग अलग करके देखने की परिपाटी नहीं रही है । वस्तुत: साधकों ने तो हठ को साधना की प्रारंभिक अवस्था माना है और राज को विकसित अवस्था अर्थात् साधना हठयोग के मार्ग से राजयोग तक पहुंचती है[१]। कहने का तात्पर्य कि शरीर ही साधना का मूल है तथा स्वस्थ और परिशुद्ध शरीर से साधना सही रूप में की जा सकती है । तन और मन का ऐसा जबरदस्त अन्योन्याश्रय है कि एक अवस्था तक दोनों को पृथक किया ही नहीं जा सकता है ।

पिपीलिका, मीन, मकड़ी तथा विहंगम मार्ग

संतों के पूर्ववर्ती नाथ तो शरीर साधना को भी महत्व देते थे लेकिन सन्तों ने शरीर साधना को कम महत्व देकर उसे सहज से और सहज बनाने की दिशा में अभूतपूर्व प्रयास किया जिसका परिणाम यह हुआ कि क्रमश: पिपीलिका, मीन, मकड़ी और विहंगम मार्गों के रूप में तीन विधियां प्रकाश में आईं जिनमें संतों द्वारा विधिवत स्वीकृत मार्ग विहंगम मार्ग ही है[२] । राजयोगान्तर्गत इस विहंगम मार्ग की साधना को ही संतों की भाषा में

---

१ कल्याण - योगांक - हठयोग और प्राचीन राजविद्या अथवा राजयोग, पृ० ४१३

२ भजन में है सुगल मारग विहंग और पपीलकं
पपील मद्धे सिद्ध कहिये विहंग सन्त कहावनं ।
पलटू साहब की बानी, शब्द ८६ ।

सुरति शब्द योग कहते हैं[1]।

वाराहोपनिषद् के अनुसार पिपीलिका और विहंगम मार्गों के पुरस्कर्ता क्रमश: वामदेव और शुकदेव हैं इसलिए उन्हें वामदेव मार्ग और शुकदेव मार्ग भी कहते हैं[2]। विहंगममार्ग का अनुगामी महावाक्य-विचार अथवा सांख्य योग समाधि द्वारा सम्प्रज्ञात अवस्था की प्राप्ति करके आत्म लाभ करता है तथा पिपीलिका मार्गगामी यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि रूप अष्टांग योग के अभ्यास के द्वारा उपर्युक्त स्थिति की प्राप्ति करता है । यह मार्ग प्रयास और विघ्नसापेक्ष है । इस मार्ग का अनुगमन करने वाला अनेक जन्मों में ज्ञान के क्रमविकास से परमपद का लाभ करता है । कहने का तात्पर्य कि शुकदेव-मार्ग सद्योमुक्ति प्राप्ति का मार्ग है और वामदेव का मार्ग क्रममुक्तिप्रद मार्ग है[3]। उदार अनन्य ने कर्मयोग को पिपीलिका मार्ग और ज्ञान योग को विहंगम मार्ग माना है[4]।

डा० प्रताप सिंह चौहान को बड़ी खोज के पश्चात् एक महात्मा की कृपा से निम्नलिखित दोहा प्राप्त हुआ । इस दोहे में यद्यपि साधना की उपर्युक्त तीनों प्रक्रियाओं का संकेत मात्र ही है फिर भी वह इतना पर्याप्त है कि उसके आधार पर इन मार्गों का विशद विवेचन किया जा सकता है वह इस प्रकार है -

---

१ सन्तमत - डा० चौहान, पृ० ७०

२ शुकश्च वाम देवश्च द्वे सुती देवनिर्मिते
शुको विहंगम: प्रोक्तो वामदेव: पिपीलिका
वाराहोपनिषद् - उद्धृत कल्याण-योगांक- ४३

३ वही

४ उदार अनन्य- अम्बा प्रसाद श्रीवास्तव, पृ० ५१५

कण्ठ की जाप पिपीलिका, स्वांसा की है मीन ।
सूरत जाप विहंग है, जानत परम प्रवीन ।।[१]

डा० चौहान ने इस दोहे के अनुसंधान के उपरान्त पिपीलिका, मीन और विहंग मार्ग को मार्ग अथवा पद्धति के रूप में स्वीकार न करके तीनों मार्गों को जप की तीन विभिन्न प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया है । यदि वाराही-पनिषद् की व्याख्या पर ध्यान दिया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ये प्रतीकात्मक नाम साधना के गुण-धर्मों को दृष्टि में रखकर दिए गए हैं अत: ये साधना के प्रकार हैं और जप का सम्बन्ध किसी एक साधना से हो सकता है । दूसरी ओर यह भी हो सकता है कि विभिन्न साधनाओं में भिन्न भिन्न प्रकार के जप का प्रयोग होता हो और इन जपों के द्वारा उन साधनाओं की ओर संकेत कर दिया गया हो ।

संत साहित्य के दूसरे सुधी विद्वान डा० राममूर्ति त्रिपाठी ने वैखरी जप, श्वास-प्रश्वास जप और मानस-वृत्ति जप को क्रमश: पिपीलिका, मीन और विहंग जप बताया है[२]। आगे उन्होंने इसे और स्पष्ट किया है और अनेक प्रमाणों से इस विवेचन को अत्यधिक पुष्ट करते हुए मकड़ी मार्ग पर भी प्रकाश डाला है ।

डा० त्रिपाठी का प्रस्ताव है कि वैखरी कण्ठवेद्या के साध्य पर कण्ठजाप वैखरी जप का ही उपलक्षण है । वाचिक, उपांशु तथा मानस - ये तीनों ही प्रकार के जप प्रयत्नसाध्य होने के कारण वैखरी जप ही हैं और वैखरी जप होने से दीर्घकाल साध्य लक्ष्य के द्योत हैं - फलत: पिपीलिका मार्ग के अन्तर्गत हैं ।

मकड़ी मार्ग को पिपीलिका मार्ग से ऊंचा माना गया है । जिस प्रकार मकड़ी अपने द्वारा उत्पन्न ऊर्ण के सहारे नीचे आ जाती है फिर अपने

---

१ संत मत, पृ० ७५
२ संत और तंत्र - डा० राममूर्ति त्रिपाठी, पृ० २४५ ।

मूलस्थान को चली जाती है । "वैसे ही सुरत श्वास-प्रश्वासात्मक ऊर्णा से अवरोहण करती हुई शब्दाभ्यास के प्रभाववश अपने परमधाम पहुंच जाती है"।

मीन मार्ग मकड़ी मार्ग से अधिक प्रशस्त माना गया है । साधना के क्षेत्र में श्वास-प्रश्वास के माध्यम से होने वाले जप को मीनमार्गी साधना के अन्तर्गत माना जाता है । मीन मार्ग की यात्रा सावलम्ब यात्रा है और इससे त्रिवेणी घाट तक की यात्रा सम्भव है - ऐसा संत संपूर्ण सिंह ने स्वीकार किया है[१]।

इसके उपरान्त विहंगममार्ग की निरवलम्ब यात्रा प्रारम्भ होती है । यह योग उपर्युक्त योगों से महत्तर योग है । विहंगम-मार्गी पिण्ड के अष्टदल से परे ब्रह्माण्ड के क्षेत्र में प्रवेश करता है । उसका मार्ग त्रिवेणी से होता हुआ भ्रमर गुहा, सत्यराज और अगम लोक तक पहुंचता है । यही उसका परमानन्द धाम है[२]। विहंगममार्ग अथवा जप के सम्बन्ध में विद्वानों ने जो कुछ लिखा है लगभग एक प्रकार की भाषा में लिखा है और अधिकांश रूप में पूर्ववर्ती संतों की बात को घुमाफिरा कर अपनी भाषा में कहने का प्रयत्न किया है । सब मिलाकर विहंगम मार्ग सन्तों का मार्ग है जो सहज है जो राजयोगान्तर्गत है । राजयोग का प्रदेश भ्रूमध्य के ऊपर से प्रारम्भ होता है[३]। राज योगी भ्रूमध्य के नीचे के प्रदेश को छोड़कर अपनी योग-यात्रा उपर्युक्त उच्चभूमिका से प्रारम्भ करता है जिस प्रकार एक पक्षी जड़ से न चढ़ कर सीधे पेड़ की चोटी पर चढ़कर अपना कार्य व्यापार प्रारम्भ करता है उसी प्रकार विहंगममार्गी निचली भूमिका, केन्द्र, चक्र अथवा स्थान से साधना का प्रारम्भ नहीं करता है बल्कि उच्चतर स्थिति से प्रारम्भ करता है । सम्भवत: यही कारण है इसे

---

१ प्राण संगली - संत संपूर्ण सिंह

२ मा०सं० और साधना - द्वितीय खण्ड, पृ० ४२-४३

३ कल्याण-उपासनांक - लेचरी मुद्रा की साधना - उदासीन स्वामी कृपात्वानन्द, पृ० ४६५ ।

विहंगम योग की संज्ञा दी जाती है ।

पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण मार्ग

जिस प्रकार संत साहित्य में उपर्युक्त मार्गों की चर्चा आती है उसी प्रकार पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण मार्गों की भी चर्चा आती है । डा० चौहान ने 'पच्छिम द्वार' को 'सुरति शब्द' के अजपाजप की साधना से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध माना है और अन्य द्वारों का भी संकेत दिया है - यह कहकर कि संतों ने अपनी प्रतीकात्मक-गुह्य भाषा में इस विषय को गुप्त ही रहने दिया है[१]।

डा० सम्पूर्णनन्द जी ने 'सन्तमत में साधना' शीर्षक लेख में कतिपय ऐसे पदों को उद्धृत किया है जिनमें पश्चिमादि द्वारों की चर्चा है, लेकिन इन द्वारों के संबंध में विद्वान लेखक मौन हैं[२]। महामहोपाध्याय कविराज जी ने इस विषय पर प्रकाश डाला है लेकिन विद्वान साधक की भाषा रहस्यावृत ही है । पूज्य कविराज जी का कथन है कि जिस प्रकार चारों दिशाओं में चार तंत्रपीठ हैं उसी प्रकार पिण्ड की चार दिशाओं में चार पीठ हैं और इन आभ्यान्तर पीठों की यात्रा के उपरान्त ही देहतीर्थ की यात्रा सम्पन्न होती है । 'प्राचीन सन्तसम्प्रदाय में योगसाधना की अनुसारी चार दिशाओं को स्वायत्त कर परम धाम पहुंचने की व्यवस्था रही है, जिस किसी सम्प्रदाय में जो कोई भी साधना

---

१ संत मत - पृ० ६८

२ संत मत में साधना - डा० संपूर्णानन्द - कल्याण योगांक, पृ० ३८२-३८३

दक्षिन देस में दीपक जोहूं, उत्तर धरूं धियाना
पश्चिम देस में देवल हमारा, पूरब पंथ पयाना ।
पिण्ड ब्रह्मांड कौऊ से न्यारा, अगम ज्ञान गोहराऊं
दास गरीब अगम गति आवै सिंधे सिध मिलाऊं । गरीबदास ।

मूल मंत्र करि बंध विचारी, षट् चक्रहिं नव सोधहिं नारी
सोधि के मेरुदंड ठहराना, सुखमन मिलावै प्रान अपाना ।
बंक नाल गहे मन मूला, विकसत अष्ट कमल दल फूला
पश्चिम दिसा लागि किवारी, संत कुंजी सन लेहु उघारी ।
बाबा राम लाल

प्रचलित क्यों न रही हो सभी को इस आध्यात्मिक साधना के अनुगत जानना चाहिए[१]। योग के अध्येताओं को यह विदित ही है कि साधना के क्षेत्र में सुषुम्णा का कितना महत्व है। मन और प्राण को एकरस करके जीव इसी सुषुम्णापथ से अग्रसर होता है और वह क्रमशः एक-एक चक्र पार करता हुआ आगे बढ़ता है। एक चक्र से दूसरे चक्र तक पहुंचने के लिए मध्य-स्थित बिन्दु का भेद करना पड़ता है और इस प्रकार पिछले मुकाम को छोड़कर अगले मुकाम पर पहुंचना पड़ता है। भ्रूमध्य के किंचित ऊपर विशुद्धतम बिन्दु की अवस्थिति है अंत में इसे प्राप्त करना होता है। यही ज्ञान-नेत्र है। इस संधान के उपरांत जीव की ब्रह्माण्ड-यात्रा प्रारम्भ होती है। पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड के मिलनबिंदु तक पूर्व दिशा का मार्ग कहते हैं। षट्चक्र भेदन की यह क्रिया सामने के मार्ग की क्रिया है। उसके उपरान्त तीसरा नेत्र खुल जाता है और यही पूर्व मार्ग की साधना है।

ब्रह्माण्ड से महाशून्य तक की आध्यात्म यात्रा पश्चिम मार्ग की यात्रा है। पूर्वपथ दृश्य प्रधान है लेकिन पश्चिम-पथ, शून्य-प्रधान है अर्थात् यहां आकर सृष्टि लुप्त हो जाती है। महाशून्य तक की यात्रा को ऊर्ध्वगति कहते हैं।

महाशून्य के पश्चात् अर्थात् पश्चिम मार्ग की यात्रा के उपरान्त प्रभर गुहा में प्रवेश करना पड़ता है यह मण्डल धुंधला है और घुमावदार है अतः यहां बायें-दायें अर्थात् उत्तर-दक्षिण घूमकर जाना पड़ता है[२]।

पूज्य कविराज जी ने पूर्व पथ को 'प्रारम्भिक पथ'[३] के रूप में प्रयोग किया है और पश्चिमपथ से उनका तात्पर्य है उसके पश्चात् वाला पथ। उत्तर-दक्षिण पथ को बायें से दायें जाने वाले मार्ग के रूप में माना है लेकिन परमहंस

---

१ भारतीय संस्कृति और साधना - पृ० ४६

२ वही, पृ० ४६-४८

३ वही, पृ० ४७।

ब्रह्मानन्द स्वामी ने प्राण को हृदय-कमल से ब्रह्मरन्ध्र में ले जाने की प्रक्रिया को पूर्वमार्ग कहा है तथा मेरुदण्ड से ले जाने की क्रिया को पश्चिममार्ग बताया है[१]। जिस समय साधक के शरीर में कुण्डलिनी-जागरण होता है उस समय वह उर्ध्वगमन करती है । अपने मूलस्थान से सर्व प्रथम वह हृदय में आती है फिर क्रमश: कण्ठ और भ्रूमध्य के केन्द्रों को पार कर ब्रह्मरन्ध्र तक पहुंच जाती है[२] । कुण्डलिनी का दूसरा आरोहण पृष्ठ देश से मेरुदण्ड के मध्य से होता है और वह शनै: शनै: सीधे ब्रह्मरन्ध्र तक पहुंचती है[३]। इस प्रकार आरोहण की पूर्वमार्ग तथा पश्चिममार्ग की क्रिया सम्पन्न होती है । स्वामी जी ने उत्तर-दक्षिण मार्ग की चर्चा नहीं की है ।

सुरति शब्द योग

इस लम्बे विवेचन के उपरान्त देखने की आवश्यकता यह है कि संतों के अनुसार सुरति शब्द योग का स्वरूप क्या है और प्रारम्भ से लेकर बाद में आने वाले संतों के साहित्य में इस विषय पर किस प्रकार विचार किया गया है । संतों ने अपनी इस महनीय साधना को प्रतीकात्मक और संकेतात्मक भाषा में प्रस्तुत किया है इसलिए कि सत्पात्र ही इसे प्राप्त कर सकें और अयोग्य अथवा कुपात्र के हाथ में पड़कर इसका स्वरूप विकृत न होने पाए । इतना सत्य है कि कतिपय संतों ने स्पष्टरूप से इस योग की सुरतिशब्द योग नाम से चर्चा, विधि-विधान के संकेतों के साथ की है लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि जिन संतों ने इतना खुलकर वर्णन नहीं किया है वे इस पद्धति से सम्बद्ध नहीं हैं । सत्य तो यह है संत सम्प्रदाय ने एक स्वर से इस पद्धति को

---

१ योगरसायनम् - परमहंस ब्रह्मानन्द स्वामी, पृ० ३० तथा ३१

२ हृदयात्कंठमायाति कंठादभ्रूमध्यमेव च
भ्रूमध्याद्ब्रह्मरंध्रं च व्रजेत्प्राण: शनै: शनै: । वही, श्लोक ६६

३ अंगे पिपीलिकारोहे यथा स्पर्श: प्रतीयते
मेरुदण्ड तथावायो: स्पर्श: स्यादूर्ध्वरोहणे ।वही,१०१ ।

विवेचित किया है किसी ने अपेक्षाया स्पष्ट रूप से किसी ने संकेत रूप से लेकिन आदि से अन्त तक सामंजस्य और एकरूपता है[१]।

सुरति शब्द योग

सुरति शब्द योग को संतों ने परम साधन माना है। यहां तक कि संत कबीर ने तो इसे अनुत्तर साधन के रूप में स्वीकृति प्रदान कर दी है। यही कारण है कि उन्हें कहना पड़ा है कि जप, अजपा और नाद इत्यादि सभी साधनों से यह साधन श्रेष्ठ है[२]। यद्यपि संत कबीर ने अन्यान्य साधनों का नाम तो नहीं लिया है, वह इसलिए ही कि एक दोहे के लघु कलेवर के भीतर यह सम्भव नहीं है लेकिन जाप-अजपा और अनहद से उनका संकेत रूप में तात्पर्य प्रचलित अन्यान्य नानाविधि और साधनों से ही है। कहने का तात्पर्य कि आदि सन्त ने इसकी घोषणा कर दी है और अन्य संतों ने भी इसका समर्थन, इसकी महत्ता की स्वीकृति के साथ किया है।

संत दादू ने भी 'पीव' को जगाने अर्थात् परमतत्व की प्राप्ति के लिए इस साधन को अन्तिम माना है[३]। इस साधन की एक अन्य विशेषता यह भी है कि यह कष्टसाध्य न होकर आनन्दप्रद है[४]। कष्टसाध्य इसलिए नहीं है कि इस साधन में किसी प्रकार का आग्रह नहीं है, बल्कि यह मार्ग नितान्त सहज है[५]। इस साधन से हृदय की तपन शान्त होती है और जीवन

---

१ गुरुमत सिद्धान्त - पहला भाग, खण्ड १, भूमिका, पृ० ३१।

२ जाप मरे अजपा मरे, अनहद हूं मरिजाय
सुरति समानी सबद में ताहि काल नहि खाय।
सारसिग्रन्थः, राघवदास की टीका, पृ० २०५।

३ विरह जगावै दरद को दरद जगावै जीव
जीव जगावै सुरति को सुरति जगावै पीव। दादूबानी, भाग १, पृ० ४२

४ सुरति सबद में मिलन में सुख को मया आनन्द। पलटू बानी, पृ० ३५

५ सुरति सदा सम्मुख रहै, जहां जहां ले लीन
सहज रूप सुमिरन करै, निरकामी दादू दीन।

रसमय हो जाता है[१]। जीवन संताप रहित होता है और अन्त में परमधाम की प्राप्ति होती है[२]। यह मार्ग परम-प्रशस्त मार्ग है। सन्तों ने इस मार्ग का सहारा लिया है, पुराकाल में भी जो मुक्त हुए उन्होंने भी इस मार्ग का सहारा लिया[३]।

सुरति

सुरति शब्द को सन्तों ने पारिभाषित नहीं किया है यही कारण है कि इसको परिभाषा देने के लिए विद्वानों को अटकलें लगानी पड़ती हैं। परिभाषा देना संतों का काम भी नहीं है क्योंकि यह तो प्रायोगिक ज्ञान है और इसकी मूलसाधना विधि मौखिक रूप से बतायी जाती रही है[४] इसलिए भी इसके रहस्य को लिखित रूप में, काफी स्पष्टरूप में लिखने की आवश्यकता भी नहीं समझी गयी है। सम्भवत: यदि परिभाषा देने की आवश्यकता भी पड़ी होगी तो वह भी मौखिक ही रही होगी। लेकिन स्वामी जी महाराज ने 'सारबचन' में सूत्र रूप में इस पर प्रकाश डाला है। उनका कथन है - 'जीवात्मा अर्थात् सुरत को रूह कहते हैं और यह सबसे ऊंचे स्थान यानी सतनाम और राधास्वामी पद से उतर इस तन में आकर ठहरी हुई है और तीन गुण, पांच तत्व और दस इन्द्रिय और मन वगैरह में बंध गयी है'[५]। कहने का तात्पर्य मूलरूप में सुरत जीव अथवा रूह ही है लेकिन उसका दूसरा स्वरूप वह है जो देहाश्रित है उसे सामान्यभाषा में कहें तो कह सकते हैं कि 'सुरत' से तात्पर्य, चेतना से है। संत कबीर के कथन से भी इस कथन की पुष्टि होती है। कबीर की

---

१ तुलसी सा० की बानी, पृ० ८

२ दरिया साहब की बानी - नाद परचे का अंग- २६
(मारवाड़ वाले)
दया बाई की बानी - अजपा का अंग- ४

३ रैदास जी की बानी - राग कानड़ा, ७७-२

४ My Submission - Part II, page 4.

५ सारबचन, पृ० १; सारबचन (छंद बंद), पृ० ८६ - सुरतशब्द दोउ धार समान
पुरुष अनामी के यह प्राण

कहते हैं कि किरण का जो सम्बन्ध सूर्य से है, जल का घड़े से वही सम्बन्ध सुरत का पुरुष से है[१]। साधारण विश्वास के रूप में भी शरीर को नाशमान, मृत्तिका स्वरूप माना जाता है तो चैतन्य को आत्मरूप। एक दूसरे दोहे में भी संत कबीर ने सुरति का प्रयोग शरीरस्थ चेतना के अर्थ में ही किया है और कहा है कि वस्तुत: सुरति इस संसार में आकर उस परम तत्त्व से दूर पड़ गयी है, वस्तुत: यह वही है, निरन्तर सान्निध्य फिर इसे वही बना देता है[२]। एक अन्य दोहे में भी तन-मन और वचन की स्थिरता के बाद सुरति का नाम लिया है[३]। क्रम की दृष्टि से विचार करें तो बुद्धि के बाद चैतन्य की ही गणना आती है[४]। संत दादू ने भी मन और पवन को सुरति से पकड़ने के लिए कहा है। अब विवाद यह है कि मन पवन किसी ठोस पदार्थ से तो पकड़े जायेंगे ही नहीं ये जब पकड़े जायेंगे तब अपने से अधिक सूक्ष्म तत्व से और वह तत्व चेतना ही हो सकती है[५]। एक और स्थान पर संत दादू ने ही जीव और पीव के मध्य में सुरति का नाम लिया है और कहा है - 'जीव जगावै सुरति को सुरति जगावै पीव'[६], तो इससे अधिक स्पष्ट हो गया कि सुरति का प्रयोग इस विशेष अर्थ में चेतना के लिए ही हुआ है।

निरति

सुरति के साथ निरति का भी बहुधा प्रयोग मिलता है। संत कबीर ने तो निरति को सुरति की आंख माना है और कहा है कि निरति के बिना

---

१ सद्गुरु कबीर की साखी - सूक्ष्ममार्ग को अंग - ३७

२ वही, सुमिरन को अंग, १३०

३ वही, १२४

४ गीता, ३।४२

५ दादू दयाल की बानी - सुमिरन विधि - ७२

६ वही, भाग १, पृ० ४२।

सुरति अंधी है[१]। फिर यह अबूझ रहस्यात्मक भाषा एक प्रश्न खड़ा कर देती है कि आखिर निरति क्या है? लेकिन जो कुछ है महत्वपूर्ण है। इसलिए भी निरति का महत्व है कि 'स्वंमू' द्वार सुरति-निरति के मिलने पर ही खुलता है[२]। यहां दो बातें द्रष्टव्य हैं एक तो निरति का महत्व और दूसरा क्रम। निरति आगे है सो ठीक भी है क्योंकि अंधे को मार्ग दिखाने वाला आगे ही रहता है और महत्व भी है कि दोनों का सामरस्य, पूर्णता के लिए आवश्यक है। ध्यान की अवस्था में नाद में लय होना और प्रकाश दर्शन दोनों बातें आती हैं, इन्हें नाद-बिन्दु कहते हैं - पारिभाषिक शब्दावली में। नाद को पकड़ने और उसमें लीन होने का कार्य निरति का है और प्रशस्त प्रकाश में अग्रसर होने का कार्य सुरत का है क्योंकि ऐसा मीसा साहब ने कहा है[३]। अत: निरत उसी अन्तर्चैतन्य की नादात्मिका शक्ति को ग्रहण करके आगे बढ़ने वाली शक्ति है[४]।

नाम

सुरति शब्द योग का मूलाधार नाम अथवा शब्द है। इस साधना के सन्दर्भ में नाम और शब्द का प्रयोग पर्याय रूप में हुआ है। साधना के जगत में नाम का सुमिरन होता है और शब्द का श्रवण - कहीं कहीं ऐसा भी प्रयोग मिलता है जिससे कभी कभी नाम और शब्द को दो समझने का भ्रम हो जाता है[५]। इसी भ्रमवश डा० बड़थ्वाल जैसे मनीषी को भी इस संबंध में विचार करते समय नाम-स्मरण और शब्दयोग शिर्षकों में एक ही समस्या

---

१ निरत बिना सुरत आंधरी कहो कहां को जाय
द्वार न पावै शब्द का फिर फिर भटका खाय।
कबीर (उद्धृत गु०म०सि०, भाग २, खण्ड १ - १६०)

२ सुरति निरति परचा भया तब खुले स्वयंमू द्वार। क०ग्र० पृ० ६२

३ मीसा सा० बानी, पृ० ३४

४ गुरुमत सिद्धान्त, भाग दूसरा (खंड १) पृ० १६०।

५ परमार्थी पत्र, संत बाबा जैमल सिंह - २०३।

को अलग-अलग करके विचार करना पड़ा है लेकिन वस्तुत: ऐसा नहीं है ।

असंख्य नाम, अनाम, आदिनाम

परमेश्वर के असंख्य नाम हैं[१] और वह अनाम भी है[२]। असंख्य नाम इस अर्थ में हैं कि बिना नाम के न उसके सम्बन्ध में कुछ कहा जा सकता है और न उसकी प्रार्थना की जा सकती है अत: मनुष्य जाति ने उसे अनेक नामों से संबलित कर दिया है । कहने का अर्थ कि व्यवहार दशा में उसके अनेक नाम हैं लेकिन संतों का विचार है कि परमार्थ-स्थिति में नाम एक है - वह आदिनाम है जो मुक्त करने वाला है[३]। संत इस नाम के द्रष्टा हैं और यह नाम अन्तर्चक्षुओं से देखा जाता है[४]। इस आदिनाम की शक्ति अपार है । वस्तुत: यही नाम है जिसके स्मरण और ध्यान से रूपान्तरण होता है और जगत के बन्धन छूट जाते हैं । संत कबीर ने इसकी उपमा पारस से दी है कि जैसे पारस में लोहे को रूपान्तरित कर देने की शक्ति है वैसे ही इस नाम में मल को समाप्त करने और लौहवत मलिन जीव को शुद्ध शिवत्व की प्राप्ति कराने की शक्ति है । अत: साधक को बिना भटके इस नाम को ग्रहण करना चाहिए[५]।

---

१ असंख नांव - जपुजी, ४।७
दादू सिर जनहार के केते नांव अनंत - दादू दयाल की बानी, भाग १, पृ० १७

२ नम सतं अनामं - जाप साहिब
जाकर नाम अकहुवा रे भाई - रमैनी-५१
हिन्दी के जन पद संत - पलटू दास - ११०

३ कोटि नाम संसार में तासे मुक्ति न होय
आदिनाम जो गुप्त जप बूझै बिरला कोय । सद्गुरु कबीर की साखी - सुमिरन को अंग - १२

४ अरे हां पलटू गैब दृष्टि से संत नाम यह देखते । पलटू सा० की बानी-जरित-२

५ सद्गुरु कबीर की साखी - सुमिरन को अंग - १०-११ ।

वर्णनात्मक तथा ध्वनात्मक नाम

व्यवहार दशा में और परमार्थदशा में मिलने वाले जिन नामों की चर्चा की गयी है उसकी चर्चा स्वामी जी महाराज ने भी की है । उनका कथन है कि सामान्य रूप में वर्ण और अक्षरों की सहायता से जो नाम बनते हैं, उन्हें 'वर्णात्मक' नाम कहते हैं । इन वर्णात्मक नामों का ही प्रयोग लिखने-पढ़ने के प्रयोजन में आता है । दूसरे प्रकार के नाम को 'ध्वनात्मक' कहते हैं । वस्तुत: यह नाम तो नामी का ध्वन्यात्मक विग्रह ही होता है । इस नाम को परामानस भूमिका पर ही देखा जा सकता है । वर्णात्मक नाम तो सुमिरन अथवा प्रार्थना आदि के लिए प्रयोज्य है । इस नाम के मौखिक स्मरण से मन की सफाई हो जाती है लेकिन उससे आगे का मार्ग दूसरे नाम के सहारे तय करना पड़ता है । सामान्य दशा में शब्द और अर्थ दोनों पृथक पृथक होते हैं लेकिन एक स्थिति वह भी है जहां अर्थ और शब्द अद्वैत भाव से स्थित हैं । कहने का तात्पर्य कि वहां पर नाम और नामी, धुन और धुनी असम्पृक्त भाव से हैं । अत: यदि साधक ने अपनी साधना के द्वारा ध्वन्यात्मक नाम का ग्रहण कर लिया तो यह भी स्वत: सिद्ध है कि उसने परमतत्व की भी प्राप्ति कर ली । लेकिन इस दूसरे प्रकार के नाम को प्राप्त करना इतना सरल नहीं है । इसकी प्राप्ति समर्थ गुरु की कृपा और सुरत की सहायता से होती है[१]।

सार शब्द; सत् शब्द; सतनाम

संत कबीर ने भी कहा है कि हरिनाम का कीर्तन सभी करते हैं और यह भी विश्वास करते हैं कि कीर्तन करने से उनका उद्धार हो जायगा अथवा गति हो जायगी लेकिन ऐसा नहीं है । वस्तुत: चौरासी के चक्र को

---

१ सार बचन (छंद बंद) - बचन दसवां, शब्द पहला ।

समाप्त करने के लिए तो 'सार शब्द' को ही जानना पड़ेगा । इसी सार शब्द को 'सत्त शब्द' अथवा सत्तनाम भी कहते हैं । यह सत्तनाम 'नि:अक्षर' होता है[1]। इन पदों में उपर्युक्त सभी बातों की ताईद कर दी गयी है और प्रकारान्तर और भाषान्तर से बता दिया गया है कि वर्ण वाला नाम सामान्य प्रयोजन के लिए है । आदिनाम जिसे सत्तनाम अथवा सारशब्द कहते हैं वह वर्णात्मक नहीं है बल्कि नि:अक्षर (वर्णरहित) है ।

विदेह शब्द

वर्णात्मक शब्द रूपात्मक होता है अत: वह रूप का ही कथन कर सकता है, इसकी हद है लेकिन 'विदेह शब्द' अरूपात्मक है और उसकी ही शक्ति है कि वह विदेह-भाव की प्राप्ति करा सकता है[2]। वर्ण वाले शब्द के द्वारा जगत का व्यवहार चलता है अत: इसका त्याग करना ही उचित होता है । इसके द्वारा संसार की जानकारी मिलती है । तत्त्व के ज्ञान के लिए सार शब्द, सत्तनाम का ही सहारा लेना पड़ता है[3]। साखी ग्रन्थ में भी सामान्य शब्द और विशेष अर्थात् सारशब्द को अनेकधा स्पष्ट करने का प्रयत्न कबीर साहब ने किया है लेकिन रहस्य भाषा तो इतनी सरलता से स्पष्ट हो नहीं पाती है । यहां भी जो कुछ कहा है उससे उपर्युक्त कथन कुछ अधिक स्पष्ट हो रहा है । यहां बार-बार 'शब्द शब्द बहु अन्तरा' की पुनरावृत्ति करके यह बताने की चेष्टा है कि सामान्य और विशेष शब्द में कोई ताल-मेल नहीं है । सामान्य शब्द जगत-व्यापार चलाने के लिए है लेकिन सारशब्द शरीर के भीतर निरन्तर ध्वनित होने वाली वस्तु है, इसे जानने के लिए अन्त:करण में चित देना पड़ता है । यही शब्द सिरमौर है

---

१ अखरावती - कबीर, पृ० ५-६

२ वही - १०
शब्द शब्द सब कोई कहै, वो तो शब्द विदेह
जिभ्या पर आवै नहीं, निरखि परखि कर लेह । बीजक- ६१

३ वही, १२ ।

और इसका सामान्य भाषा में वर्णन भी असम्भव है इसे जो पाता है वही समझता है[१]। अनुराग सागर में संत कबीर ने जिस नाम को 'काया नाम' की संज्ञा दी उससे तात्पर्य वर्णात्मक नाम से ही है। भजन के लिए तो यही नाम प्रयोग में आता है और अधिक लोग इसी नाम का ही प्रयोग करते हैं। विदेह नाम की प्राप्ति तो किसी विरले को ही होती है। विदेह शब्द ही सारशब्द है - यह शब्द प्रकृति की पकड़ के बाहर है। जब तक साधक, शरीर भावस्थ है तब तक इसकी अनुभूति असम्भव है। जब तक पंचतत्व का प्रभाव है अर्थात् जब तक चित्त कामक्रोधादि विकारों से ग्रस्त है तब तक इस नाम का बोध असम्भव है। जो जैसा है उसको प्राप्ति के साधन भी वैसे ही होंगे। जो तत्वों की सीमा से परे है जो देह की सीमा से परे है, उसे प्राप्त करने के लिए निःतत्व और विदेहस्थिति तक उठना ही होगा[२]।

मूल अच्छर; आदि अच्छर

अब तक जिस शब्द की चर्चा आदिनाम, सारशब्द, सतनाम, सहजशब्द और विदेह शब्द आदि अभिधानों के द्वारा की गयी, वह वस्तुतः उस शब्द की चर्चा है जो 'मूल अच्छर' 'आदि अच्छर' है, जो प्रत्येक घट में समान रूप से व्याप्त है। इस अक्षर अथवा शब्द को उच्चरित करने के लिए बीज की आवश्यकता नहीं पड़ती है। यह तो सबके भीतर स्वतः ध्वनित हो रहा है। बस, आवश्यकता है, इसको पहचानने और सद्गुरु की दया से प्राप्त करने की[३]।

---

१ सद्गुरु कबीर की साखी - शब्द को अंग - १-१० तक।

२ अनुराग सागर - ५-६।

३ बारहखड़ी - पृ० ३
बिनु जिहवा जो जपै खिलाई, कोई जाणै केसा नाउ।
गउड़ी म० १-१२५-१०।

अब तक संतों के विविध उद्धरणों के आधार पर जो कुछ कहा गया उसका अर्थ यही है कि सुरति शब्द योग केवल मौखिक नामस्मरण नहीं है बल्कि यह एक आभ्यान्तरिक क्रिया है जिसमें वाणी से उच्चरित होने वाले शब्द अथवा नाम अप्रयोजनीय हैं। इस साधन में आभ्यान्तरिक ध्वनि, शब्द अथवा नाम का ही प्रयोग होता है। प्रत्येक शरीर में वह शब्द निरन्तर ध्वनित हो रहा है लेकिन इस मूल शब्द को उस सामान्य निम्न-स्तर के शब्द अथवा ध्वनि के रूप में नहीं लेना चाहिए जो शारीरिक स्पन्दन अथवा गति के कारण हो रहे हैं बल्कि यहां जिस शब्द, नाद अथवा ध्वनि की चर्चा की जा रही है उसका सम्बन्ध हमारी मूल चेतना से है। यह वह शब्द है जिससे सारे शब्दों की उत्पत्ति हुई है[१]। गुरु की सहायता और अभ्यास के सातत्य तथा अपनी तन्मयता से उसे पकड़ना है, चूंकि यह शब्द सत्नाम, आदिनाम अथवा मूल आधार है, अत: यह साधक को अपने उद्गम केन्द्र सत् स्थान तक पहुंचाने में पूर्ण समर्थ है।

संतों द्वारा गृहीत नाम :

ओंकार सोहं राधास्वामी

जैसा कि कहा गया है परमेश्वर के अनन्त नाम हैं उनमें से संतों ने अनेक नामों का प्रयोग किया है और सभी नामों को श्रद्धा के साथ ग्रहण किया है[२]। लेकिन राम नाम का एक मत से सर्वाधिक प्रयोग हुआ है, केवल संत तुलसी और स्वामी जी महाराज इसके अपवाद हैं। संत तुलसी सतनाम का प्रयोग करते हैं और स्वामी जी महाराज राधास्वामी का नाम का[३]। राधा-

---

१ Radha Soami Mat Prakash - Huzur Maharaj, page - 40.

२ बलिहारी आऊं जैते तेरे नाव हैं। बसंत म० १, ११६-१४

३ राधास्वामी सम्प्रदाय और सिद्धान्त - सरल कुमारी - १३
हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाउ - २१६।

स्वामी दो शब्दों का योग है । राधा आदि सुरत है और स्वामी आदि शब्द है किन्तु सत्य की उच्चतम भूमिका पर दोनों एक हैं[१]। ओंकार और सोहं के स्मरण की भी चर्चा संत साहित्य में मिलती है लेकिन संत कबीर इन दोनों नामों के पक्ष में प्रतीत नहीं होते । यद्यपि ओंकार का प्रयोग पुराकाल से होता आया है लेकिन यह नाम भी कर्ता सुरुष का मूल नाम नहीं है । सत्य-नाम तो गुप्त है, ओंकार की भांति प्रकट नहीं है । बहुत से साधकों ने सोहं का भी जप किया है लेकिन संत कबीर के मत में उन्होंने भी अपना श्रम व्यर्थ किया[२]। स्वामी जी महाराज ने भी ओमकार और सोहं को मूल अथवा आदि नाम नहीं माना है । आज्ञा चक्र के बाद उन्होंने सहसदल कंवल, त्रिकुटी, शून्य, महाशून्य, भंवरगुफा, सतलोक अलख, अगम और राधास्वामी धाम माना है । उनका कहना है कि 'ओं' की गति त्रिकुटी तक है और 'सोहं' की भंवर गुफा तक[३] इसलिए आखरी मंजिल तक चढने के लिए ये दोनों नाम अशक्य हैं।

राम

परमेश्वर के अनेक नामों में 'राम' नाम संतों को इतना प्रिय रहा है कि उन्होंने साधुओं से निवेदन किया है, सुझाव दिया है और जोर देकर कहा कि वे राम नाम ही कहें[४]। निरन्तर कहें और उसमें लवलीन रहें[५]। नामों में रामनाम सर्वश्रेष्ठ है[६]। यदि एक बार भी जप लिया जाए तो उसकी

---

१ सार बचन - छंद बंद - ८
२ सद्गुरु कबीर की साखी - सुमिरन को अंग - २०, २१
३ सार बचन - छंद बंद - १७३-१७५
४ साधो जन राम नाम भजिए, एक सिवा और सब तजिए - गुलाल साहब की बानी, पृ० २३
दादू दयाल की बानी - चेतावनी - ४७-५२
सद्गुरु कबीर की साखी - सुमिरन को अंग - १७-१८
५ मीरा साहब की शब्दावली - पृ० ६
गुलाल बानी पृ० २५ । दूलनदासजी की बानी, शब्द- ६
६ साखी - सुमिरन को अंग - ३४

तुलना में और नहीं आ सकता[१]।

लेकिन संतों का यह राम निर्गुण राम है जो तीनों लोकों का स्वामी अर्थात् सर्वव्यापी है। इतना ही नहीं इससे इतर किसी अन्य राम के प्रति विश्वास महान पातक है[२]।

रां

सम्पूर्ण पद राम को और सूक्ष्म किया गया और यह काम किया स्वामी रामानन्द जी ने रां को राम का बीज मानकर और संतों ने इसे और लघुरूप दे दिया 'रं' बनाकर[३]। ऐसा किया गया अथवा हो गया - कुछ कहा नहीं जा सकता लेकिन 'रं' में ध्वनि अधिक है और यह नाद पूर्ण है, सुमिरन सुकर भी है। सम्भवत: यही कारण भी हो सकता है कि निरन्तर सुमिरन में लीन रहने वाले संत, स्मरण-सुकरता को दृष्टि में रखकर इसके प्रति सर्वाधिक आकृष्ट हुए हों और इसका प्रयोग भी अधिकाधिक किया हो। नाद और अनुगूंज की दृष्टि से भी यह ध्वनि ऊं के अधिक निकट ठहरती है - राम के निकट तो है ही, इसलिए एक अपरिचित के ग्रहण से एक परिचित और नादपूर्ण लघुतम ध्वनि की आवश्यकता संतों को स्मरण-साधना के लिए अधिक अर्थपूर्ण और सहज लगी और उसका ग्रहण पूर्ण भावभक्ति के साथ हुआ।

नाम साधना

नाम अथवा शब्द का मुख्य प्रयोजन स्मरण के लिए है जिसे संतों ने 'सुमिरन' कहा है। नामस्मरण की यह साधना नामजप अथवा शब्द योग की ही साधना है। संत दादू दयाल ने सुमिरन की कई स्थितियों पर प्रकाश

---

१ सुखमनी साहब - गउड़ी म० ५, २६५-१०।

२ राम सर्व में रमि रहो, और करत विश्वास
कहे गुलाल उहै प्रानी, घोर नर्क को बास।
संत महात्माओं की बानी - साखी - ८७२, चौपाई ८६६

३ गरीबदास की बानी - सुमिरन का अंग - ६६।

ढाला है - पहली स्थिति तो वह है जहां साधक सुनकर शब्द अथवा नाम को ग्रहण करता है । दूसरी स्थिति वह है जहां वह स्वयं अपनी रसना के द्वारा नामोच्चार अथवा नाम जप करता है । तीसरी स्थिति है जब जिह्वा (वैखरी) जप समाप्त हो जाता है और वह अपने अन्तःकरण में नाम जप करता है । चौथी स्थिति वह है जब नाम जप साधक के अस्तित्व का अंग हो जाता है और वह शब्दमय हो जाता है[१]। संत दादू ने वैसे चार स्थितियों की गणना पूरी कर दी है लेकिन नामस्मरण की वस्तुतः तीन स्थितियां इस दोहे के अनुसार बनती हैं । सुनना अथवा नाम ग्रहण तो नामसाधना की भूमिका है साधना अथवा प्रक्रिया नहीं । अतः यह कह सकते हैं कि संत दादू दयाल ने इस दोहे में तीन प्रकार की सुमिरन विधि बताई है ।

संत कबीर के भी एक दोहे से इस विधि को समर्थन मिलता है, यद्यपि इस दोहे में उतनी साफबयानी नहीं है जितनी संत दादू के दोहे में है लेकिन इस दोहे के अनुसार भी उपर्युक्त तीन स्थितियों के होने पर ही प्रकाश पड़ता है ।

ये तीन स्थितियां इस प्रकार हैं, जिसमें पहली स्थिति बाह्य जप की है, जिसका सम्बन्ध बाह्य क्रिया अथवा मुख से नाम-जप की है। दूसरी स्थिति वह है जहां साधक बाहरी क्रिया का परित्याग करके आन्तरिक साधना में प्रवेश करता है - इस ध्यान की अवस्था भी कह सकते हैं । तीसरी स्थिति वह है जहां साधक अपने अस्तित्व के सूक्ष्मतम प्रदेश में नाद का सहारा लेकर प्रवेश कर जाता है और अन्त में इसकी परिणति शब्द और उसके चैतन्य अथवा अस्तित्व के सामरस्य अथवा अद्वैत में होती है । यद्यपि ऊपर से देखने पर ये सारी स्थितियां अलग-अलग दीखती हैं लेकिन वस्तुतः ये एक में दूसरे के विकास

---

१ दादू दयाल की बानी - भाग १, पृ० १

पहली श्रवन सुती रसन, दुतिये हिरवै गाइ
चतुर्दसी चिन्तन भया, तब रोम रोम ल्यौलाइं ।

की स्थिति है और क्रमश: एक का दूसरे में अन्तर्भुक्त होने की प्रक्रिया है[१]।

सुरति शब्द योग के सोपान

कुल मिलाकर यदि देखा जाए तो संत दादू के दोहे में भी चार स्थितियों का वर्णन है और संत कबीर के दोहे में भी चार स्थितियों पर प्रकाश पड़ता है लेकिन संत दादू की पहली स्थिति सुमिरन की पहली आवश्यकता है यानी पहले नाम सुने तो उसका स्मरण करे और संत कबीर के दोहे के अन्त में सुरत शब्द का एक दूसरे में एकमेक हो जाना - तीसरी अवस्था की ही चरण परिणति है उससे अलग नहीं। इसलिए कह सकते हैं कि संत दादू ने इस साधना का जो स्वरूप दिया है उसकी भूमिका बता दी है और संत कबीर ने भूमिका छोड़ दी है उपसंहार बता दिया है। अत: अब यह कहने की स्थिति आ गई कि यदि दोनों दोहों को एकत्र मिला दिया जाय तो 'सुरत शब्द योग' की सम्पूर्ण रूपरेखा मय भूमिका और उपसंहार के प्रस्तुत हो जाती है और यदि भूमिका और उपसंहार को निकाल दें इस योग की तीन विधियां शेष रह जाती हैं। अत: सम्पूर्ण का निष्कर्ष यह रहा कि सुरत शब्द योग अभ्यास को जिन तीन सोपानों से गुजरना होता है, वे हैं - सुमिरन, ध्यान और शब्द अथवा नाद में अन्तर्लीनता।

सन्त कबीर और संत दादू द्वारा बताई गयी विधि मात्र शब्द भेद से संत गुरु अर्जुन देव द्वारा भी प्रस्तुत की गयी है। वे कहते हैं - अन्त: करण में गुरु की आराधना, जिह्वा द्वारा उसके नाम का स्मरण, नेत्र द्वारा उसके दिव्यरूप का दर्शन कानों द्वारा उसके दिव्य नाम का श्रवण और उसमें लीनता और रमण की स्थिति जिसने प्राप्त कर ली उसे ही दरगाह में

---

१ जाप मरै अजपा मरै, अनहद हू मरि जाइ
सुरत समानी सबद में, ताहि काल नहि खाइ।
साखी ग्रंथ - सुमिरन को अंग - १२५।

सम्मान प्राप्त होता है अर्थात् वही पूर्ण योग साधकों की पंक्ति में स्थान प्राप्त करता है । स्मरण रहे यहां गुरु से तात्पर्य परमेश्वर से है क्योंकि परमेश्वर ही आन्तर-गुरु हैं[१] । इस पद में संत अर्जुनदेव जी ने भी उपर्युक्त साधन विधि पर ही प्रकाश डाला है - मात्र बताने का ढंग अथवा कहने की विधि भिन्न है । इस पद को गौर से देखने और विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि गुरु जी द्वारा बताए मार्ग की भी तीन ही विधियां हैं - सुमिरन, ध्यान और नाम अथवा शब्द का श्रवण ।

उपर्युक्त संतों की भांति गुरु जी ने चार बातें यथा अन्त:करण में नामाराधना, नामस्मरण, छवि दर्शन और नाम श्रवण की ही बात की है । अन्त:करण में नामाराधन और छवि दर्शन दोनों बातें ऊपर से देखने पर ही अलग-थलग दिखती हैं वस्तुत: हैं दोनों एक यानी दोनों को मिलाकर जो बात बनती है - वह है ध्यान ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सुरति-शब्दयोग-साधना की तीन स्थितियां बनती हैं । पहली स्थिति अधिकांशत: यांत्रिक शारीरिक अथवा बाह्य है । दूसरी स्थिति में अन्त:करण में प्रवेश होता है और तीसरी स्थिति में अन्त:करण की निगूढ़तम भूमिका में अवस्थिति हो जाती है ।

इस प्रसंग में जिसे नाद अथवा शब्द श्रवण की अभिधा दी गयी है उसे संतों की भाषा में 'कीर्तन' अथवा 'धुन' कहा गया । संतों का कीर्तन उस कीर्तन अथवा नाम संकीर्तन से भिन्न है जिसका प्रयोग सामान्यत: होता है।

---

१ अंतरि गुर आराधना जिव्हा जपि गुर नाउ
नेत्री सतिगुर पेखणा स्रवणी सुनणा गुर नाउ
सतिगुर सेती रतिआ दरगह पाईऐ ठाउ
नानक किरपा करे जिसनो एह वसतु देइ
गूजरी म० ५-५१७-१४ ।

इस कीर्तन से तात्पर्य है - उस अखण्ड कीर्तन से जो निरन्तर प्रत्येक व्यक्ति की सत्ता के निगूढ़ प्रदेश में स्वत: हो रहा है[१]। इस ध्वनि को उत्पन्न करने के लिए किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ता यह सहज भाव से ध्वनित होने वाली 'धुनि' है[२]।

संत कबीर, दादू और गुरु अर्जुनदेव के वचनों के आधार पर जिस निष्कर्ष पर पहुंचा गया है और 'सुरति शब्द योग' की जो रूप रेखा बनाई गयी है उसको अन्य संतों से भी समर्थन प्राप्त होता है । 'गुरमत सिद्धान्त' में भी एक स्थान पर इस सम्बन्ध में चर्चा है, यद्यपि इसे मूलवचन तो नहीं माना जा सकता लेकिन मूलवचनों के आधार पर जो निष्कर्ष निकले हैं जो रूपरेखा बनी है उसे प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए प्रणाम के रूप में उपयोग तो किया ही जा सकता है तो 'गुरमत सिद्धान्त' का कथन है - 'सुमिरन तब सम्पूर्ण होता है जब कि ध्यान स्थिर हो जाए और ध्यान के परिपक्व होने पर धुन अपने आप जाग उठती है । इसको संतों की भाषा में भजन कहा जाता है । भजन कुछ नहीं केवल शब्द ध्वनि को सुनना ही है; अधिकांश संतों के अनुसार भजन केवल शब्द योग का अभ्यास ही है । यह सुरत या तवज्जह द्वारा किया जाता है । सुरत के द्वारा आन्तरिक शब्द-ध्वनि को सुना जाता है । इससे जन्मों जन्मों की सोई सुरत जाग उठती है और आनन्द प्राप्त होता है । इस अभ्यास में किसी प्रकार की थकावट अथवा परिश्रम नहीं होता, यह सुख और आनन्द का मार्ग है । इसे 'सुरत शब्द योग' का मार्ग कहा जाता है । यह सुमिरन योग और ध्यान योग से ऊपर है । - संतों का मार्ग शब्द योग का है । - इसमें कोई बाहरी साधन नहीं करना पड़ता, केवल आत्मा के कानों से शब्द

---

१ अखंड कीर्तन तिनि भोजन चूरा
कहु नानक जिसु सतिगुरु पूरा । गउड़ी म० ५, २३६-१३

२ तेरे दुआरै धुनि सहज की माथै मेरै वधाई । रामकली कबीर, ९७० -

की धुन को सुनना है । यह धुन वास्तव में परिपूर्ण हरि की आवाज है, जो धुर लोक अधर से आ रही है । आत्मा का शब्द धुन के साथ स्वाभाविक संबंध है । सुरत और शब्द मालिक के अंश हैं, परमात्मा स्वयं ही शब्द और सुरत है । तीनों का अंशा-अंशी भाव है । शब्द धुन भी स्वयं हरि ही है । वह अपना प्रसार आप ही करके विकस रहा है, वह आप ही अपवासा है और आप ही जप रहा है"[1] ।

तीन बन्ध

सुरति शब्द योग को वैज्ञानिक और पूर्ण योग की संज्ञा दी जा सकती है इसलिए कि इस योग के द्वारा बिना किसी कठिन शरीर-श्रम के वृत्तियों पर पूरी तरह नियंत्रण किया जा सकता है विधिवत् मनोवैज्ञानिक रूप में । इच्छा, ज्ञान और क्रिया की वृत्तियों का बोलने, देखने और सुनने से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है । हमारे अन्तःकरण को बहिर्मुख करने में बोलने, सुनने और देखने का बहुत बड़ा योग है और यदि इन पर सहज रोक लगा दी जाए तो सहज एकाग्रता अपने आप सध जाती है । संतों का कहना है कि इन पर रोक तीन बन्दों के द्वारा लगाई जा सकती है और पूर्णरूपेण अन्तर्मुख होकर अनहद टंकोर सुना जा सकता है, सुन्न समाधि की प्राप्ति की जा सकती है[2]। यहां पर यह स्पष्ट कर देना समीचीन होगा कि संतों के तीन बन्द से तात्पर्य हठ-योगियों के तीन बन्ध-उड्डियान, मूल और जालन्धर से नहीं हैं[3]। संतों के

---

१ गुरुमत सिद्धान्त, पृ० १८७-१८८ ।

२ तीनों बन्द लगाइकर सुण अनहद टंकोर
नानक सुन्न समाधि में नहि सांझ नहिं भोर -
प्राण संगली

३ हठ योग प्रदीपिका - पृ० ६६, १०२, ६७ ।

बन्ध अथवा बन्द सहज हैं । संत जिस बन्ध के पक्षपाती हैं वह दूसरा बन्ध है जिसे संत कबीर ने बताया है कि आंख, कान और मुंह को बंद करो तब जाकर अन्तर्मुखता सधेगी और अन्त:करण के राज्य में प्रवेश मिलेगा[१]। वस्तुत: सुनने, देखने और बोलने की जो इन्द्रियां हैं वे हमारी सुनने, देखने और बोलने की मूल आन्तरिक शक्ति अथवा चेतना की बहिरंग अभिव्यक्ति हैं जिनके माध्यम से हमारा बहिरंग जगत से सम्पर्क है, इनके माध्यम से ही बहिरंग के मायिक संस्कार भीतर आते हैं । यदि इनकी बहिरंगगामी वृत्ति रोक दी जाए तो ये अपने मूल में लौट जायेंगे और इनका मूल में लौटना ही कबीरोक्त तीनों बन्द हैं । इन तीन बन्दों को लगाने की क्रिया भी सुरति, शब्द योग के द्वारा ही सम्पन्न होती है जिसका संकेत गुरू नानकदेव जी की वाणी में इसके पूर्व मिल चुका है यानी सुमिरन के द्वारा बोलने की क्रिया पर बन्द लगेगा, ध्यान के द्वारा देखने की क्रिया पर बन्द लगेगा और नाद श्रवण के द्वारा सुनने की क्रिया पर बन्द लगेगा - वृत्तियां उलट जायेंगी और तब जगत का स्मरण, ध्यान और वादन त्यागकर आन्तरिक स्मरण ध्यान और श्रवण में लीन हो जायेंगी तब पूर्ण योग साधित हो जायगा ।

सुमिरन : आन्तरिक

उपर्युक्त योग के रूप-निर्धारण के पश्चात् आवश्यक हो जाता है कि इसके घटकों पर क्रमश: अलग-अलग विचार किया जाए । सुरतिशब्द-योग का पहला घटक है - स्मरण । संतों की भाषा में सुमिरन कहा जाता है और जिसे गीता ने श्रेष्ठतम यज्ञ माना है[२]। संतों ने भी सुमिरन को अध्यात्म-साधना के प्रमुख साधनों में माना है । सुमिरन से परमेश्वर का दर्शन प्राप्त हो

---

१ आंख कान मुंह बन्द करावो
अनहद होगा सबद सुनावो - कबीर शब्दावली, भाग २, भेद बानी, शब्द २२।१० ।

२ गीता - १०।२५ ।

जाता है - ऐसा साधन है[१]। लेकिन अब प्रश्न यह उठता है किस प्रकार के सुमिरन से? सुमिरन तो सभी करते हैं और दर्शन किसी भाग्यवान को ही मिलता है, तो संतों का उत्तर है - सभी प्रकार के सुमिरन कारगर नहीं हैं। उनके सुमिरन कारगर नहीं हैं, जिन्होंने इसे यंत्रवत् किया है। वह सुमिरन व्यर्थ है, अथवा स्मरण है ही नहीं, जिसमें मन का सहयोग नहीं है यानी मन की एकाग्रता नहीं सध पायी है क्योंकि स्मरण की पहली शर्त मन की एक लक्ष्य पर स्थिरता है। ऐसा झूठा प्रदर्शन करने वाले हाथ में तो माला फेरते हैं, जीभ को मुंह में फिराते हैं और उनका मन संसार में घूमता रहता है। अत: उनका श्रम व्यर्थ है, ऐसा स्मरण मात्र ढोंग है[२]। स्मरण आन्तरिक क्रिया है।

मंत्र

संत कबीर ने तंत्र-मन्त्र वाद की इस धारणा को भी नितान्त असत्य बताया है जहां यह विश्वास है कि बीज मन्त्रों में स्वयं की शक्ति होती है और मंत्र की शब्दात्मिका अथवा नादात्मिका शक्ति से साधक के चैतन्य का जागरण हो जाता है। इसलिए ही उन्हें ऐसे पण्डितों को असत्यवादी तक कहना पड़ा जो शब्द में शक्ति मानते हैं, यदि ऐसा सचमुच में होता तो प्रत्येक राम कहने वाले को सद्गति मिल जाती[३]। शक्कर का नाम ले लेने से मुंह मीठा हो जाता। आग शब्द का उच्चारण जला देता। पानी का नाम लेने से प्यास बुझ जाती और भोजन कह देने से भूख मिट जाती। जब तक शब्द के साथ अन्त:करण का सम्बन्ध नहीं होता, तब तक स्मरण तो केवल तोता-रटंत ही है[४]। इसी पद में संत कबीर ने एक अन्य पहलू पर भी बल दिया है

---

१ हरि जैसन कउ सिमरन मन मोरा - गउड़ी म० ५, २०४-१४

२ साखी ग्रन्थ - सुमिरन को अंग - ११८

३ तंत्र मंत्र सबझूठ है - वही, शब्द को अंग - ४६

४ पंडित वाद वदन्ते झूठा - 'कबीर साहब की शब्दावली' - मिश्रित २१।

और वह है - जीवन की निर्मलता । अत: सब मिला कर जो कुछ कहा गया है उसका तात्पर्य है कि निर्मल जीवन और एकाग्रता - स्मरण साधना के लिए आवश्यक उपादान हैं दोनों का अन्योन्याश्रय है। इसी लिए तो गीता में कहा गया है कि प्रपंचात्मिका बुद्धि में एकाग्रता नहीं सधती है ।

गणना

संत नाम स्मरण में नाम की गणना को बिल्कुल महत्व देते नहीं दिखायी देते हैं इसलिए ही स्मरणार्थ प्रयोग किए जाने वाले साधन अथवा माला का सदा विरोध करते हैं । उनका कहना है माला नहीं मन फिरना चाहिए[1]। यहां माला अथवा गणना का निषेध है और मन के फेरने की आज्ञा है । संतों के अनुसार मन के फेरने के सदा दो अर्थ रहे हैं । एक अर्थ तो है 'मनका मनका' फेरने से अथवा मन में एकाग्र भाव से स्मरण से । दूसरा अर्थ है - मन को संसार और विषयों से फेर लेने से । दोनों का अन्योन्याश्रय भी है, जब तक मन में संसार है तब तक मन की माला फिरेगी भी नहीं । जब मन निर्विकार होकर स्मरण करेगा तभी स्मरण सार्थक होगा[2]।

एकाग्रता, उसके बाधक तत्व तथा निवारण मार्ग

मन की एकाग्रता स्मरण के लिए आवश्यक है लेकिन एकाग्रता इसलिए नहीं सध पाती है कि मन या तो अपने आश्रय शरीर में स्थित रहता है या संसार में उलझा रहता है । संतों ने मन को इन दोनों स्थलों से निकालकर परमेश्वर के साथ जोड़ देने की राय दी है[3]।

---

१ साखी ग्रन्थ - सुमिरन को अंग - १२०,१२१

२ दरिया साहब (मारवाड़) की बानी - सुमिरन- ३५

दूलन दास की बानी, पृ० १

३ साखी ग्रन्थ - सुमिरन को अंग - ४४

संसार में मन दो रूपों में व्याप्त रहता है - एक तो विषयानन्द के लिए । यह भाव अत्यन्त हीन है लेकिन बाह्याडम्बर और कर्मकाण्डार्थ भी मन संसार से सम्पृक्त रहता है । कबीर का कहना है कि ये दोनों स्थितियां भयावह हैं, भटकाने वाली हैं, सत्य से दूर रखने वाली हैं[१]

दया बाई ने तो जगत का टंटा ही काट दिया है और बता दिया है कि जिस जगत को मन सुख का आश्रय समझ रहा है, वह वस्तुत: दुख का स्थल है, परम कष्टकारी और विनाशकारी है । अत: इस सत्य-दृष्टि को ग्रहण करके जगत से दूर रहना चाहिए और नाम के समीप रहना चाहिए[२]।

बाहर की आसक्ति तो छूट भी जाती है लेकिन देहासक्ति तो अत्यन्त प्रबल होती है । इसका छूटना बहुत कठिन होता है । यह आसक्ति तब छूटती है जब पंचतत्व की नश्वरता का बोध हो जाए अथवा निरन्तर स्मरण के द्वारा शरीर के श्वासास अथवा अस्तित्व से ही बेखबर हो जाया जाए[३]।

एक तीसरी स्थिति भी है कि मन और जगत के बीच स्मरण को रख दिया जाए तो इस स्थिति में यह एक कपाट का काम करने लगेगा और जैसे दरवाजा बन्द कर लेने पर बाहर की वस्तु बाहर रह जाती है और भीतर की भीतर, वैसे ही जगत बाहर रह जाएगा और मन भीतर रह जाएगा । जब दोनों का सम्बन्ध टूट जाएगा तो मन आत्मलीन हो जाएगा[४]। इसी बात को भक्त कवि तुलसीदास ने "जीभ की देहरी पर दीपक रखने के समान बताया है जिससे अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकाशित हो जाता है । उपर्युक्त दोनों विधियां प्रकारान्तर से एक ही हैं - केवल कथन का भेद है ।

---

१ साखी ग्रंथ - सुमिरन को अंग - ४३

२ दया बाई की बानी - सुमिरन का अंग २

३ वही, १३,१४; चरनदास की बानी- भाग १, पृ० ३२

४ साखी ग्रन्थ - ८३, ८४ (सुमिरन) ।

संतों ने संसार और आत्मासक्ति दोनों को सुमिरन का बाधक बताया है लेकिन मन पर बलात् शमन का विरोध भी किया है । उन्हें मालूम था कि दमन का मार्ग सही नहीं होता है क्योंकि जितना अधिक दमन होता है उसी मात्रा में प्रतिक्रिया भी होती है । अत: एक मार्ग तो यह है कि इनकी स्वाभाविक तृप्ति उचित मात्रा में होती रहे और सुमिरन भी चलता रहे जिससे ये बाधक न बनने पाएं[१]।

दूसरा मार्ग है यह है कि लोभ, मोह, ममता एवं तृष्णा आदि वृत्तियों को ही परमेश्वर को स्मरण के माध्यम से समर्पित कर दिया जाए तो इनका मार्गान्तरीकरण और रूपान्तरीकरण हो जाएगा । इस बात को कबीर ने उदाहरण के रूप में लिखा है कि जैसे गाय की ममता बछड़े के लिए है, कुरंग की नाद के लिए, कंगाल की धन के लिए, प्रेमी की प्रेमिका के लिए (पतंग की दीपक के लिए अथवा मछली की पानी के लिए) उसी प्रकार साधक की आसक्ति सुमिरन में होनी चाहिए[२]।

संत कितने दूरदर्शी थे यह उनकी स्मरण-साधना विधि देखने से पता लग जाता है । उपर्युक्त पद्धतियों में पहली पद्धति को खुले आम स्वीकृति देने का अर्थ है कि वे जीवन को जीवन की तरह ग्रहण करते हैं । दूसरी बात यह है कि जब सभी विराग की बात कर रहे हों तो धार से उल्टी बात करना कितने बड़े साहस का परिचायक है । इस संदर्भ में जो दूसरी बात कही गयी है वह कितनी मनोवैज्ञानिक है इसे आज का मनोविज्ञान का विद्यार्थी समझ सकता है । कुल मिलाकर यह पद्धति सरल, स्वाभाविक और झंझटरहित है ।

---

१ साखी ग्रंथ - सुमिरन-अंग, ६६ ।

२ वही - ७५, ८० ।

समय

सुमिरन तो परम सन्तों का स्वभाव होता है जिसे वे खाते, पीते, सोते जगते निरन्तर करते रहते हैं । इसके तार को टूटने नहीं देते हैं[१] लेकिन कहीं कहीं वे एक निश्चित समय की भी चर्चा करते हैं जिसे जपुजी में 'अमृत वेला' की संज्ञा दी गयी है[२]। सम्भवत: इस वेला का सुझाव कामकाजी अभ्यासियों के लिए ही है क्योंकि इस वेला में सर्वाधिक शान्ति रहती है और थकान भी नहीं रहती है । यह समय रात के पिछले प्रहर का होता है जिसे 'ब्रह्मवेला' कहते हैं[३]।

स्थान

समय का महत्व सबके लिए तो नहीं दिखता लेकिन स्थान का महत्व सबके लिए है । यहां स्थान से तात्पर्य है शरीरस्थ शक्ति केन्द्र से । जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि यह अभ्यास आन्तरिक साधन है अत: साधक अपनी चेतना को भीतर समेट कर एक स्थान अथवा केन्द्र पर एकत्र करके नाम स्मरण करता है । इस स्थान को त्रिकुटी कहते हैं[४]। संतों ने इस स्थान की संज्ञा 'तिल' भी दी है । इस स्थान को विशेष महत्व दिया गया है इसलिए कि इस स्थान से आध्यात्मिक-केन्द्रों की शुरुआत होती है । एक तरह से यह बिन्दु निम्नस्थ चक्रों और अध्यात्मिक-चक्रों की खिड़की है[५]। तो विचार करने पर लगता है कि इस खिड़की (द्वार) से होकर ही आगे बढ़ने का रास्ता होगा । जब स्मरण के दबाव से यह द्वार खुल जाता होगा तो उच्चतर केन्द्रों में बढ़ने का मार्ग प्रशस्त हो जाता होगा ।

---

१ सहजो बाई की बानी - नाम का अंग, १७-२० ।

२ अमृतवेला सचु नाउ वडिआई वीचारु । जपुजी २-६ ।

३ उठ फरीदा उजू साजि सुबह निवाज गुजारि । सलोक फरीद १३८१-१३
Dhyan - M.P. Pandit, page 22.

४ कबीर साहब की शब्दावली - भाग ३, पृ० २२
त्रिकुटी में जप राम कं - चरनदास की बानी १, पृ० ३१

५ इक महल दो बारियां शिव शक्ति सुलतान
खिड़की खोल दीदार देख बहुत बड़ा इ मान - जनम साखी -

अजपाजप

जब साधक त्रिकुटी का सहारा ले लेता है तो उसकी अन्तर्यात्रा प्रारम्भ हो जाती है । उसका व्यक्त स्मरण, अव्यक्त स्मरण की कोटि में आ जाता है । जब तक सुमिरन के लिए सुमाला आदि किसी बाह्य-साधन की आवश्यकता रहती है तब तक वह बाह्य-सुमिरन की कोटि में है लेकिन जहां इन साधनों की आवश्यकता समाप्त हो जाती है और स्मरण स्वत: अन्त:करण में होने लगता है वहीं, अजपाजप की अवस्था का प्रारम्भ हो जाता है[१]। इस स्मरण को सुरत के द्वारा सम्पन्न होना माना जाता है[२]।

'सुमिरण' के अन्यान्य मार्ग स्वाभाविक नहीं हैं, सर्वाधिक स्वाभाविक विधि श्वास-प्रश्वास के द्वारा स्मरण की ही है । इसका प्रयोग माला की भांति किया जाता है अर्थात् जब सांस भीतर जाए तब स्मरण-बाहर जाए तब स्मरण । यह माला बिना गांठ की है अत: कहीं रुकने सोचने बदलने में न समय नष्ट होगा, न बाधा होगी और न मन को चंचल होने का अवसर मिलेगा[३]।

यद्यपि संत रज्जब ने शरीर, शब्द और सांस इन तीनों से जो एकत्र जाप होता है उसे अजपाजप माना है[४] लेकिन यहां निश्चित रूप से संत का तात्पर्य सांस के साधन के साथ नाम के चिन्तन से है जिसे वे स्वत: एक स्थान पर स्पष्ट कर देते हैं - 'वाक्य बैन बानी रहित होय सु अजपाजप' ।

---

१ अजपा जपे बिना मुख माला, यों सुमिरे हरि पावै
पानप कहै मरम में सुमरे, राम हाथ नहिं आवै ।
पानप बोध- सुमिरन-७

२ वही, पृ० ८०

३ साखी ग्रंथ - सुमिरन- ७९, ११६, १२२
दादू बानी - नाम महिमा ५,६

४ रज्जब बानी - अजपाजाप का अंग - साखी १ ।

हंस-मंत्र अथवा अजपागायत्री

जिस अजपाजाप की चर्चा चल रही है उसे कतिपय संतों ने हंस-मंत्र के साथ संयुक्त करने का उपदेश दिया है । इसे ही शास्त्रों में अजपा-गायत्री की संज्ञा दी गयी है[१]। संतचरणदास और उनकी शिष्याओं ने इस पर प्रकाश डाला है । संत चरणदास ने जप के साथ परमतत्व विचार आवश्यक माना है[२]। सहजो और दया ने यह ज्ञान अपने पूज्य गुरुदेव से प्राप्त किया है जिसे 'अजपाजाप' भी कहते हैं और 'सोहं सुमिरन' भी कहते हैं । 'हकार' के साथ सांस उठनी चाहिए और सकार के साथ लीन होनी चाहिए, वृत्ति अन्तः करण की ओर चाहिए और बीज का प्रयोग नहीं होना चाहिए । इनके अतिरिक्त भी कतिपय संतों ने इस विधि को बताया है[३]। पद्मासन, नासाग्र दृष्टि, नाभिदृष्टि और 'सून्न' में दृष्टि को स्थिर करने का भी विधान दिया गया है ।[४]

आसन

उपर्युक्त विधि स्वानुभव पर तो आधारित है ही, शास्त्राधारित भी है । पद्मासन बाह्य आसन है, जिसका सम्बन्ध हठ योग से है । संत बाहरी आसनों की चिन्ता कम करते दीख पड़ते हैं, उनका अधिक बल आन्तर-आसनों पर है । आन्तर आसन की जब चर्चा होती है तो उसका तात्पर्य सुरति को स्थिर करने के स्थान अथवा केन्द्र से होता है । खैर जो कुछ भी हो; अजपाजाप की पद्धति का यह स्वरूप भी संत-साहित्य में प्राप्त होता है।

---

१ योगमार्तण्ड - ३०, ३१, ३२, २३

२ चरनदास - पृ० २६२-२६३

३ निबाढ़ के संत कवि सिंगाजी - संग्रह खण्ड - पृ० ३४,४२,६६
निरंजनी सम्प्रदाय और संत गुरसीदास निरंजनी, पृ० १७६
सुखाई-सुखबानी - पृ० ३७

४ दया बाई - अजपा का अंग - १,१०,११,१२,१३
सहजो बाई - अजपा गायत्री का अंग - १-६ ।

आत्मसुमिरन

अजपाजप आत्मसुमिरन है जो सबके भीतर अपने आप होता रहता है[१]। इसे कहीं सोजना नहीं पड़ता है केवल अन्तर्मुख होना पड़ता है[२]। जप जैसे जैसे हृदय के भीतर प्रवेश पाता जाता है वैसे वैसे आत्मविस्मृति होती जाती है[३] तथा साधक 'हरिरस' को छक कर आनन्द मग्न होता जाता है[४]।

आत्मसुमिरन की प्रगाढ़ता आत्मविस्मृति में परिणत हो जाती है । इस स्थिति को प्राप्त करने पर संसार के आकर्षण समाप्त होने लगते हैं, धीरे धीरे संसार का विस्मरण होने लगता है, विषयानन्द फीका लगने लगता है[५]। यह आत्मदृष्टि, चर्मदृष्टि की विरोधी है । चर्मदृष्टि में अनेकत्व है, प्रपंच है और आत्मदृष्टि में एकत्व है लेकिन साधना का प्रारम्भ होता है शरीर से । धीरे धीरे शरीर भाव का तिरोधान होता है और आत्मभाव का उदय होता है यह क्रिया समय और धैर्य की अपेक्षा रखती है । एक तो स्थिति है तिरोधान की दूसरी स्थिति है रूपान्तरण की जिसमें देहदृष्टि आत्मदृष्टि में क्रमशः रूपान्तरित होते होते ब्रह्मदृष्टि हो जाती है- जहां पहुंचकर ध्याता और ध्यान, ध्येय में रूप में परिवर्तित हो जाते हैं[६]।

सहज जप

अजपाजप एक स्थिति तक तो सायास रहता है फिर जीवन बन जाता है इस स्थिति में जैसे सांस का चलना अभ्यास हीन - सहज होता है उसका ही सुमिरन हो जाता है[७]। इसे संत कबीर ने दूसरी भाषा में कहा है

---

१ अजपा जाप सकल घट बर तै, जो जाने सोइ पेला । महात्माओं की बानी, पृ० १

२ हुल्ला - शब्दसार, पृ० ५

३ गुलाब साहब की बानी - पृ० २८

४ पलटू बानी - भाग ३, पृ० २५

५ दादू बानी - आतम सुमिरण - १५४-१५६

६ वही, आत्मदृष्टि - १५७-१५९

७ दादू बानी - भाग १ - ५८ ।

कि एक अवस्था तक तो जप करने का कार्य साधक का होता है लेकिन एक अवस्था वह आती है जब साधक जप बन्द कर देता है और भगवान ही सुमिरन करने लगते हैं । कबीर के इस कथन का तात्पर्य दादू के उपर्युक्त कथन के तुल्य ही है जिसका तात्पर्य स्मरण की सहजता से है अर्थात् स्मरण साधक की चेतना का अंग बन जाता है । उसका जीवन बन जाता है, उसकी धड़कन बन जाता है[१]।

पूर्ण समर्पण

इस स्थिति को पूर्ण समर्पण की स्थिति की संज्ञा दी जा सकती है यानी इस स्थिति तक आने पर व्यक्ति अहं तिरोहित हो जाता है और वह परमेश्वरमयता की अनुभूति करने लगता है । अपने और परमेश्वर में एकतानता का भाव व्याप्त हो जाता है[२]। इस स्थिति को हरिदेवदास जी ने आत्मत्याग की स्थिति कहा है अर्थात् आत्मविसर्जन[३]। दया बायी इसे तन-मन की प्रीति कहती हैं । संत कबीर इस दशा की दो स्थितियों में अनुभूति करते हैं एक में तो वे अपने भीतर ब्रह्मानुभूति करते हैं और दूसरे में सम्पूर्ण चराचर जगत उन्हें ब्रह्ममय दीखने लगता है ।

उन्मनि

संत रज्जब ने कहा है कि अजपाजप मन को उन्मन-दशा में पहुंचा देता है[४]। उन्मन दशा पर विद्वानों ने बहुत विचार किया है और इसका उत्स संस्कृति साहित्य, सिद्ध और नाथ साहित्य में खोजा है लेकिन वे बार बार

---

१ माला जपूं न कर जपूं जिभ्या जपूं न राम
सुमिरन मेरा हरि करें मैं पाया विश्राम । साखी ग्रंथ - सुमिरन - ११६

२ सब कुछ तेरा तू है मेरा - । संत बानी संग्रह - ६१

३ श्री हरिदेव दास जी महाराज की वाणी - पृ० ४८ ।

४ वाक्य बैन बाईं रहित, होइ सु अजपाजाप
रज्जब मन उनमनि लगै, प्रगटै आप आप (उद्धृत) पृ० २८४
संतकवि रज्जब संप्रदाय और साहित्य - ब्रजलाल वर्मा ।

भूल गये हैं कि संत, सिद्ध और नाथों की भांति न मुक्त आचारी थे न कठिन साधना में विश्वास रखने वाले अत: उनके मूल्य नितान्तरूप से अपने थे ।

वस्तुत: संतों का उनमुनी भाव उपनिषद् का अमनी भाव है । इसी अमनी शब्द की यात्रा अनमनी से उनमुनी तक हुई है । 'माण्डूक्य' के अद्वैत-प्रकरण में मन के द्वैत-रहित अथवा संकल्प-रहित स्थिति को अमनीभाव कहा गया है[१]। जब मन अजपाजपी होगा तो निश्चितरूप से वह द्वैत रहित और संकल्प रहित बनेगा । मन को मोक्ष का कारण भी कहा गया है, वह भी इसलिए ही कि जब उसकी गति बहिर्मुख है तब तक वह बन्धनकारी है और जब अन्तर्मुख होता है तो बन्धन काटने वाला हो जाता है । एक प्रकार से यह अवस्था मन के प्रत्याहार की अवस्था है । संत कबीर ने बार बार कहा है कि मन अन्तर्मुख होकर 'उन्मनि' भाव की प्राप्ति कर लेता है[२]। इसका सीधा अर्थ यही है कि उसकी दो तरफा गतियां है, या तो बहिर्गामी होता है या अन्तर्मुख । जब बहिर्मुख होगा तो जगत में होगा - जगत्मय होगा और जब भीतर की ओर मुंह करेगा तो जगत् से परे होगा । वस्तुत: मन तो तभी मन है जब बहिर्मुख है, अन्तर्मुख होते ही वह मन नहीं रह जाता है, अमन हो जाता है[३] और अमनका जो भाव है, जो स्थिति अथवा दशा है वही 'अमनी' अथवा 'उन्मनि' है । अन्यत्र भी संत ने कहा है कि मन जब तक चंचल है तब तक मन है जब अन्तर्मुख हो गया तो चंचलता समाप्त हो गई और उन्मन हो गया । इस बात को सीधे न कहकर हंस और गुरु के प्रतीकों के माध्यम से कहा

---

१ मनोदृश्य मिदं द्वैतं यत्किंचित्सचराचरम्
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नै वो पलभ्यते ।
आत्मसत्यानुबोधेन न संकल्प्यते यदा
अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहम् ।
माण्डूक्योपनिषद - अद्वैत प्रकरण - ३१-३२

२ (क) बाहर खोजत जनम गवाया
उन्मन ध्यान घट भीतर पाया । क०ग्र० पृ० ६४
(ख) वहीं, पृ० ८६
स्वामी दादू दयालजी की अनभै वाणी - पृ० १६४-६५ सो० २-८
(उद्धृत, संतों का सहित योग) ।

३

गया है[१]। फिर जब कबीर ने कहा है कि जिसकी लगन परमेश्वर से लग गई उसके लक्षण हैं - क्षीण शरीर, उन्मन दशा और संसार से हटना[२]। कहने का अर्थ है कि संसार से उदासीन होने पर ही मन उन्मन होगा - यह सत्य है[३]।

संत कबीर के बहुचर्चित पद 'संतो सहज समाधि भली' वाले संपूर्ण पद का अर्थ यही है कि सुनने, बोलने, खाने हंसने आदि सभी जागतिक कर्मों के मूल्य उन्मनि दशा में बदल जाते हैं। बहिर्मुख दशा के मूल्य भिन्न हैं और अंतर्मुख के भिन्न, अन्तर्मुख मन उन्मन हो जाता है उसने अपनी दिशा बदल देता है[४]।

एक अन्य पद में संत कबीर ने 'उनमनि' की चर्चा करते हुए कहा है कि इस स्थिति को प्राप्त करते ही द्विधा मग गई[५]। ठीक यही बात माण्डूक्य के 'अमनी' भाव के लिए कही गयी है।

संत दादू मन की मैल मन से धोते हैं और निर्मल होने पर उसकी संज्ञा 'उनमनि' से देते हैं[६]। अब यहां भी विचार करना है कि मन के दो रूप हुए मलसहित मन और निर्मल मन। मन का मल, विषय है यानी जगत, और निर्मलता है, विषयराहित्य यानी जगत-भाव का राहित्य। मन विषयासक्ति तभी तक है जब तक विषयों के बीच है, जब भीतर चला गया तो निर्मल हो गया।

अब तक जो चर्चा रही वह मन को संसार से अलग करके अमनी दशा प्राप्त करने की रही लेकिन जगत में रहकर उससे परे रहने की भी एक दशा है।

---

१ कहै कबीर भीतर भिदा, सतगुरु के हथियार
कबी० (पा०ना० तिवारी) साखी २२, पृ० १३

२ वही, पृ० १५६।२६

३ क० शब्दावली - भाग ३ - भिक्षा - ८

४ कबीर - ह० प्र० द्विवेदी, पृ० २६२

५ संत कबीर - डा० रा० कु० वर्मा - राग गउड़ी - ४६

६ स्वामी दादू दयालजी की अमृत वाणी, पृ० ६६७।

कभी कभी वैराग्य अतिपरिचय से भी होता है यानी भोग की उस अवस्था तक चले जाने पर जब भोग रस हीन हो जाता है तब भी उसके प्रति वैराग्य हो जाता है । संत कबीर ने उस अवस्था की भी चर्चा की है जहां जगत का पूर्ण परिचय प्राप्त करने के बाद, उसका रहस्य समझ में आता है तब एक वैराग्य होता है, यह सच्चा होता है क्योंकि असलियत जान लेने पर फिर धोखा नहीं खाया जाता है । इसे यदि संत के शब्दों में कहें तो - 'उन्मनि है जो सब रस चाखा'[१]।

सब कुछ कहने का तात्पर्य इतना ही है कि शब्द को पकड़ कर खींचतान तो पंडितों का काम है लेकिन सीधी सादी भाषा के अभ्यासी संत जब उलटवांसी नहीं कहते हैं तो बिना लाग लपेट के साफ बात कह देते हैं और उन्होंने बार बार उन्मुनी को 'उमनी' भाव के अर्थ में ही साफ साफ कहा है - जब कभी इस निश्चित अर्थ के रूप में कहा है[२]।

ध्यान

अब तक अजपाजप और उससे उद्भूत उन्मनी दशा पर चर्चा होती रही है लेकिन अब विचार करना है कि अजपा (सुमिरन) के पश्चात् दूसरा कौन सा सोपान आता है? संतों के अनुसार दूसरा सोपान ध्यान का है । संत नानक जी का कथन है कि यदि निरन्तर स्मरण होता रहे तो सहज ही ध्यान की अवस्था प्राप्त हो जाती है[३]। संत कबीर ने भी सुमिरन के बाद ध्यान को ही रखा है[४]। संत गरीबदास भी अविचल-अविनाशी पर अपने को कुर्बान करते हुए अजपा जपने और उसके उपरान्त ध्यान की एकतानता में निमग्न हो जाने की चर्चा करते हैं[५]।

---

१ अखरावती, पृ० २१
२ साखी ग्रन्थ - परिचय को अंग, २१,२२,२४
३ हरि हरि जपिए दिन राती लागै सहजि धियाना । सूही म० ५-७८१-२
४ साखी ग्रन्थ - सुमिरन-अंग - ६५
५ गरीबदास की बानी - पृ० २२ ।

महर्षि पतंजलि ने जहां ध्यान लगाया जाए वहां पर वृत्ति की एकतानता को ध्यान कहा है[१]। महर्षि का यह संक्षिप्त सारगर्भित कथन ध्यान के स्वरूप को स्पष्ट कर देता है। महर्षि घेरण्ड ने ध्यान के प्रकार पर प्रकाश डाला है और उसे स्थूल, ज्योति तथा सूक्ष्मध्यान के रूप में अलग अलग वर्णित किया है। स्थूल ध्यान तो रूप-ध्यान है। मूलाधार में ज्योतिस्वरूप कुण्डलिनी का ध्यान ज्योति ध्यान है और शाम्भवी मुद्रा में ध्यान सूक्ष्म ध्यान है[२]। इन तीनों ध्यानों में सूक्ष्म ध्यान ही संतों के ध्यान के निकट है, इसकी पुष्टि योगरसायनकार ने इस प्रकार के ध्यान को 'निर्गुण ध्यान' की संज्ञा देकर कर दी है[३]। संत भी चेतना को एक केन्द्र अथवा स्थान पर समेट लेने को ही ध्यान कहते हैं। इस प्रक्रिया को गुरुवाणी में संक्षिप्त ही सही लेकिन बड़ी सफाई से बताया गया है कि विचार अन्तःकरण में चलता रहता है और दृष्टि बाहर चलती रहती है। इन दोनों चलायमानों को ध्यान में समेट लेने से सही ध्यान बनता है। अर्थात मन को समेटना और मन को दृश्य से जोड़ने वाली कड़ी को समेटना इस प्रकार पूरा ध्यान बनाता है[४]।

निर्गुण-ध्यान

निर्गुण-ध्यान उच्च कोटि का ध्यान है लेकिन इसे साधना कठिन है, इस समस्या की ओर संत यारी साहब ने संकेत किया है और उसका समाधान भी प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि वह सत् तत्व पिण्ड-ब्रह्माण्ड से परे, दूर से दूर, निकट से अति निकट है। आदि अन्त रहित अगम्य, अपार है। समस्या गंभीर है जो समझा नहीं है, रूप रहित है तो

---

१ योगसूत्र विभूतिपाद - २

२ घेरण्ड संहिता - पृ० १६०-१६७

३ योग रसायन - पृ० ५१

४ सतगिआन, लाई ध्यान, दृष्टि समेटिया
गूजरीवार म० ५ - ७८१-२।

उसका ध्यान कैसे किया जाए? इसे संत ने ध्यान के तीन रूपकों की तुलना में रखकर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है जिसमें पहला कच्छप ध्यान है, दूसरा चकोर का चन्द्रमा के प्रति ध्यान है और तीसरा चातक का स्वातिजल के प्रति ध्यान है। इन तीनों ध्यानों में जो मुख्यतत्व है, वह है अपने अस्तित्व के प्रति बेखबरी और तन्मयता[१]। कहने का तात्पर्य कि निर्गुणध्यान में निरावलम्बता तो है लेकिन साध्य है - परमसाध्य है। इसमें पहले तो अपने अस्तित्व को भूलना पड़ता है यानी अपने को भी निर्गुण करना पड़ता है फिर उस बड़े व्यापक निर्गुण से जोड़ देना पड़ता है।

ध्यान के चार प्रकार

संत चरनदास जी ने चार प्रकार के ध्यान की व्यवस्था दी है। ये हैं - पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत[२]। इस प्रकार इनके प्रकार के ध्यान बताने से स्पष्ट है कि संत के मन में सामान्य से लेकर असामान्य तक सभी साधकों के कल्याण और सामर्थ्य की चिन्ता रही होगी क्योंकि ये ध्यान क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते चले गये हैं।

---

१ सतगुरु है सत्पुरुष अकेला, पिण्ड ब्रह्माण्ड के बाहर मेला
दूर ते दूर ऊंच से ऊंचा, बाट न घाट गली न कूंचा
आदि न अन्त मध्य नहीं तीरा, अगम अपार अति गहिर गंभीरा
कच्छ दृष्टि तंह ध्यान लगावे, पल मंह कीट भृंग होइ जावे
जैसे चकोर चंद के पासा, जैसे धरती बसे आकासा
कह यारी ऐसे मन लावे, तब चातक स्वाती जल पावे

यारी-रत्नावली पृ० ८ (उद्धृत- बावरी पंथ के हिन्दी कवि- भगवती प्रसाद शुक्ल)

२ चरणदास अब ध्यान सुनु, कहूं तोहि समुझाय,
कहि शुकदेव सो सुनि समुझि, करो ताहि चित्तलाय।
ध्यानु जो चारि प्रकार के, कहूं जो उनकी रीति
पदस्थ, पिण्ड, रूपस्थ है, चौथा रूपातीत।

चरनदास - डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पृ० २८८ उद्धृत।

पदस्थ-ध्यान

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है प्रथम प्रकार का ध्यान, सर्वशक्तिमान के काल्पनिक पदों के ध्यान से सम्बद्ध है । प्रारम्भ पद से करना है फिर शक्तिमान के सारे शरीर को नख से शिख तक देखना है फिर अन्त में पद पर ध्यान को केन्द्रित कर देना है और कुम्भक-क्रिया तथा प्रणव-जप को इस ध्यान के साथ जोड़ देना है । इस प्रकार इसका स्वरूप ध्यान, प्राणायाम और स्मरण तीनों का एकत्र अभ्यास हो जाता है । इस ध्यान की उपलब्धि मन संयमन है और तीनों प्रकार के कष्टों का नाश है[१]। इस प्रकार यह ध्यान साधक के साधन को अग्रसर करने की भूमिका बनाता है ।

पिण्डस्थ-ध्यान

दूसरी प्रकार का ध्यान, पिण्डस्थ है । इसमें शरीर के भीतर के षट्-चक्रों का क्रमशः नीचे से ऊपर ध्यान करते हुए भंवरगुफा तक पहुंचना है वहां त्रिवेणी-संगम पर ज्योति का दर्शन होता है । इसके आगे सहस्रदल-कमल है, जहां सद्गुरु का ध्यान होता है । फिर कुछ और आगे बढ़ने पर शून्य शिखर है, जहां करोड़ों सूर्य का प्रकाश है[२]।

रूपस्थ-ध्यान

महात्मा चरणदास जी ने तीसरे प्रकार के ध्यान को 'रूपस्थ' कहा है यद्यपि इसमें कहीं किसी रूप की कल्पना नहीं है, जैसी 'पदस्थ' में है लेकिन निर्गुण-निराकारवादी की रूप कल्पना भी तो आकार रहित होगी।

---

१ हिय पद पंकज ध्यानकरि, फिरि करि सारी देह
नखशिख लौं छवि निरखि के, चरणन में चितदेह ।
के कुंभक ही कीजिए, लां प्रणव का जाप
मन निश्चल हो सहज में, भाजै त्रैविध ताप ।
पदस्थ ध्यान याको कहै, करे सो जाने भेव ।
चरनदास - डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पृ० २३१

२ वही

यहां ध्यान त्रिकुटी में नियोजित करना है जहां क्रमश: दीपक, दामिनी और चन्द्र-सूर्य के प्रकाश का दर्शन होता है[१]। वस्तुत: यही स्थान है जिसे सन्त ध्यान के प्रारम्भिक केन्द्र के रूप में प्रयोग करते हैं और क्रमश: आगे बढ़ते हैं ।

रूपातीत-ध्यान

अन्तिम प्रकार 'रूपातीत' का है । यह ध्यान त्रिकुटी के आगे स्थित 'शून्य-स्थान' का है । यह स्थान परब्रह्म का है । जिसकी गति इस स्थान तक हो जाती है उसे निर्वाण-पद की प्राप्ति हो जाती है । जो इस स्थिति तक पहुंच जाता है वह आठों प्रहर इसमें लीन रहता है । इस कोटि के ध्यानी की दशा विदेह हो जाती है जिसकी तुलना उस पक्षी से की गयी है जो अनन्त में उड़ता है और इतनी दूर चला जाता है कि उसमें विलीन हो जाता है लेकिन यदा-कदा दिखायी पड़ जाता है[२]। इस स्थिति में पहुंच कर ध्यानी-प्रपंच से नितान्त परे अगम्य हो जाता है और कभी कभी तटस्थ भाव से संसार को देख लेता है । जैसा कि सम्पूर्ण पद को देखने से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह सर्वोच्च कोटि का ध्यान है और इस स्थिति तक पहुंचा हुआ साधक परमहंस स्थिति की प्राप्ति कर लेता है ।

संत सुन्दरदास की भी पद्धति वही है जो संत बरनदास की है - केवल दोनों के छन्दों में ही अन्तर है, प्रकार और पद्धति में नहीं । संत सुन्दर दास ने शिष्यों के लिए ही इसका उपदेश किया है, जैसा कि सम्बोधन से स्पष्ट है[३], अत: उन्होंने भी सभी प्रकार के शिष्य साधकों की शक्ति-सीमा को ध्यान रखा है । डा० रामेश्वर प्रसाद सिंह का विचार है कि इन दोनों

---

१ बरनदास - डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पृ० २३२

२ वही, पृ० २३३

३ सुनहु शिष्य कहुं ध्यान - । सुन्दर विलास - ज्ञान समुद्र, १७४
शेष ध्यान संबंधी वर्णन भी पृ० १७४-१७५ ।

संतों ने नाम तो जैनों से लिया है और स्वरूप-निर्वचन में नाथ-सिद्ध साधकों और स्वानुभूति को प्रमाण माना है[१]।

त्रिकुटी-ध्यान

संत मत में त्रिकुटी का विशेष महत्व है और यह वही स्थान है जहां से संतगण ध्यान प्रारम्भ करने के पक्ष में हैं। उपर्युक्त चर्चित संत चरन दास और संत सुन्दरदास ने यद्यपि चार प्रकार के ध्यानों का वर्णन तो किया है लेकिन उनकी दृष्टि में भी यह स्थान अत्यन्त महत्व का है और यदि यह कहें तो गलत नहीं होगा कि उनका भी मूल ध्यान अथवा निर्गुण ध्यान इस स्थान से ही प्रारम्भ होता है। हरिदास जी निरंजनी ने ध्यान को परमेश्वर की कृपा माना है क्योंकि इसका नियोजन हृदय प्रदेश में वही कराता है[२]। वस्तुत: संतों का हृदय त्रिकुटी प्रदेश ही है। संतों का हृदय देश यह स्थान ही है इसका प्रमाण संत शिवनारायणजी ने अपने ग्रन्थ गुरु अन्यास में दिया है। उनके मत से भी ध्यान का प्रारम्भ नव द्वारों को बन्द करके दसवें द्वार से प्रारम्भ करना चाहिए। इस दशम् द्वार को उन्होंने हृदय कहा है लेकिन सामान्य भाषा में जिसे हृदय कहते हैं उससे दशम् द्वार काफी ऊपर है और यह दशम् द्वार वही स्थान है जिसे संत, त्रिवेणी या त्रिकुटी मानते हैं[३]। संत कबीर ने भी इस दशम् द्वार के महत्व को स्वीकार किया है और यहीं ध्यान लगाने को कहा है और यह भी बताया है यह स्थान प्रकाश से परिपूर्ण है[४]। संत गरीबदास ने भी इस "त्रिवेणी" संलेखा में ध्यान-स्नान की विधि बताई है जिसके उपरांत ही आगे का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। आगे का मार्ग सूक्ष्म है, जो राई के

---

१ संत काव्य में योग का स्वरूप - डा० रामेश्वरप्रसाद सिंह, पृ० ३१६।
२ महाराज हरिदासजी की बानी - पृ० ३५५
३ नवद्वारे का बन्धन करई, इन एक ध्यान हिए में धरई - गुरु अन्यास, पृ० १४
४ कबीर साहब की शब्दावली - भैदबानी - शब्द १६।

बीज के माप दण्ड के समान संकरा है । उसके बाद मुख्य मार्ग मिलता है और घाट तक पहुंचा देता है[१]।

समस्या रहस्य की है, अत: भाषा भी रहस्यपूर्ण है । चूंकी सभी संतों ने एक सत्य को अलग अलग अनुभव किया अत: उनका वक्तव्य एक है - भाषा में भेद अवश्य है । अनेकविध अनेक प्रकार से कही गयी बात एक है और सभी सर्वसम्मति से एक हैं कि त्रिकुटी प्रदेश ध्यान का मूल स्थान है जहां से ध्यान का प्रारम्भ होना चाहिए । इसे जब कबीर साहब को कहना होता है तो वे कहीं दशम द्वार कह देते हैं तो कहीं प्रकाश का स्थान कह देते हैं[२]। इस स्थान पर प्रकाश है इसका सभी अनुमोदन करते हैं तभी तो संत दुल्ला साहब जब 'त्रिकुटी' को ध्यान का स्थान बताते हैं तो उस स्थान का संकेत भी यह कहकर दे देते हैं कि यह स्थान झिलमिल प्रकाशमय है[३]।

संत धरनीदास जी इस स्थान का संकेत अनेक प्रकार से देते हैं लेकिन उनका अभिप्रेत स्थान एक ही है । वे कहते हैं - 'दृष्टि उलटने पर जो स्थान मिले वहां ध्यान धरो, जहां किवाड़ खुलता है वहां ध्यान करो, जहां पर प्रकट रूप में प्रकाश है - वहां ध्यान लगाओ, त्रिकुटी के मध्य में ध्यान स्थिर करो और अधर में ध्यान धरो[४]। ककहरा वाले पदों में उन्होंने इसी स्थान के लिए 'गगन' शब्द का प्रयोग किया है[५]। उपर्युक्त ये सारे संकेत-शब्द त्रिकुटी के लिए हैं । इस स्थान को 'अधर' भी कहते हैं, 'गगन' भी कहते हैं, यही निम्न और ऊर्ध्व केन्द्रों का संधि (किवाड़) स्थान है, यहीं पर प्रकटरूप में प्रकाश विराजमान रहता है और आंख उलटने के बाद इस स्थान पर ही दृष्टि जाती है ।

---

१ गरीबदास की बानी - राग बिलावल - १७
२ अखरावती - चौपाई ४ ।
३ दुल्ला साहब का शब्दसार - भिक्षा - शब्द ८
४ धरनीदास की बानी - साखी - ध्यान ३६-४०
५ वही, ककहरा - ग,म ।

संत शिवनारायण, संत तुलसी और स्वामी जी महाराज के मत में भी ध्यान जमाने का स्थान एक ही है लेकिन अभिव्यक्ति भिन्न भिन्न प्रकार की है । संत शिवनारायण उस स्थान की पहचान नासिका - नैन के सन्मुख वाले स्थान पर बताते हैं, तो संत तुलसी साहब कहते हैं कि दोनों नेत्रों के बीच में जहां तारा झलक रहा है - वह स्थान है । स्वामी जी महाराज कहते हैं कि 'श्याम-सेत में सूरत धरो'। संत साहित्य के सुधी पाठकों को ज्ञात ही है कि भिन्न भिन्न प्रकार से एक ही स्थान की चर्चा की जा रही है । स्वामी जी महाराज ने नेत्रों के श्याम-श्वेत में ध्यान की जो बात बताते हैं वही बात संत तुलसी 'स्फटिक श्वेत शिला और श्याम के बीच' कह कर कह देते हैं । इन लोगों ने इस स्थान को 'तिल' भी कहा है । संत कबीर ने भी इस नाम का प्रयोग किया है[१]।

संत दरिया, मारवाड़ वाले, ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि 'त्रिकुटी' ध्यान का स्थान है, यहां स्थिरता पूर्वक ध्यान करना चाहिए और यहां ध्यान स्थिर करने में आनन्द प्राप्त होता है[२]। यारी साहब ने इस स्थान को 'त्रिकुटी-संगम' कहा है इसलिए कि यहां इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना तीनों का मिलन-विन्दु है और यह स्थान आसमान है, यह भेद भी वे बता देते हैं[३]। संत पानपदास इसे ज्योति का स्थान बताकर यहां ध्यान करने को कहते हैं[४]। संतों का ध्यान केन्द्रित करने का स्थान त्रिकुटी है, यह प्रकाशपूर्ण है, तीनों नाड़ियों का संगमस्थल है और निम्नस्थ तथा उच्चस्थ

---

१ संग्रह ग्रंथ - संत शिवनारायण, पृ० २५
तुलसी साहब की शब्दावली - रेखता, २०
सार वचन - छंद बंद - सुरत संवाद चौथा प्रश्न - उत्तर १५६
कबीर साहब की शब्दावली भाग २- भेद- शब्द १७, भाग १, भेदबानी शब्द २० ।

२ दरिया साहब (मारवाड़) की बानी - नाद का परिचय - १४,१५

३ यारी साहब की रत्नावली - कूदना - १४

४ पानप बोध - योग - आसावरी - ४ ।

केन्द्रों का मध्य स्थल अथवा कपाट द्वार है जिसके खुलने के उपरान्त ऊपर के केन्द्रों का मार्ग प्रशस्त हो जाता है ।

ध्यान-विधि

इस प्रश्न के बाद कि ध्यान कहां अथवा किस बिन्दु से प्रारम्भ होना चाहिए के तुरन्त बाद दूसरा प्रश्न उठता है कि ध्यान किस प्रकार करना चाहिए । इस सम्बन्ध में संत कबीर ने तीन मूलभूत बातों पर बल दिया है । ये बातें हैं - सातत्य, गोपनीयता और तन्मयता ।[1]

सातत्य तथा गोपनीयता

सातत्य तो किसी भी प्रकार के अभ्यास के लिए आवश्यक है लेकिन ध्यान-साधना गुप्तभाव से की जानी चाहिए प्रकट रूप में नहीं, इसके पीछे दो प्रकार के विचार हो सकते हैं - एक तो यह कि साधक प्रदर्शन से दूर रहे क्योंकि प्रदर्शन अहंकार का जनक है । दूसरी बात यह है कि ऐसा विश्वास है कि प्रकट कर देने से साधना की शक्ति क्षीण हो जाती है ।

तन्मयता

तन्मयता के स्वरूप और मात्रा का निर्वचन अत्यन्त कठिन कार्य है अत: इस तत्व को स्पष्ट करने के लिए संतों ने उदाहरणों का सहारा लिया है । संत पलटू ने कमठ, पनिहारिन, सांप, कामिनी और कृपण के उदाहरणों के द्वारा तन्मयता के स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है[2] तो संत कबीर ने घूर्म, चातक, मधुकर और चकोर का उदाहरण दिया है।

---

१ कबीर साहब की शब्दावली - भाग ३, विरह और प्रेम, शब्द २

२ पलटू साहब की बानी - खुंडलिया - ध्यान ६१, ६२ ।

कमठ, कूर्म अथवा कछुए का उदाहरण दोनों संतों ने दिया है। कछुवा सूखे स्थल पर अण्डे देता है, स्वयं जल में रहता है लेकिन उसे अण्डों की स्मृति निरन्तर बनी रहती है।

पनिहारिन कलश में पानी भरकर माथे पर रख लेती है, दोनों हाथ छोड़ देती है, बातें करती रहती है लेकिन उसका चित्त कलश में रहता है।

सांप अपनी मणि उतारकर रख देता है, फिर आहार के लिए निकल जाता है लेकिन एक क्षण के लिए भी मणि से गाफिल नहीं होता है।

कामिनी का कामी के प्रति पूर्ण-समर्पण होता है। उसके चित्त में कामी रहता है। उसके बिना वह व्यग्र रहती है। उसी प्रकार लोभी व्यक्ति भी धन के प्रति आसक्ति-युक्त रहता है।

चातक स्वाति-जल पीता है और वह भी भूमि पर गिरा हुआ नहीं, सीधे आसमान से मुंह में गिरा हुआ और उसकी लगन से उसे इसकी प्राप्ति होती है।

भौंरा कमल की गन्ध में इतना तन्मय हो जाता है कि बेसबरी में सन्ध्याकाल कमल सम्पुट में बन्द हो जाता है।

चकोर की दृष्टि एकटक चन्द्रमा पर होती है और इस स्थिति में वह अपने अस्तित्व को भुला देता है।

इन कतिपय उदाहरणों का प्रयोग संतों ने खूब किया है। अब यदि इन पदों को एक साथ रखकर विचार किया जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि ध्यान के लिए आवश्यकता है - कमठवत अखण्ड स्मृति, पनिहारिन की एकतानता, मणिधर की बेसबरी, कामिनी की अखण्ड व्यग्रता, लोभी का अविस्मरण, चातकीय-लगन, मधुकर की आत्मविस्मृति और चकोर की विदेह-स्थिति। ध्यान की विधि और ध्यान के लिए आवश्यक तत्व क्या हैं इसका इससे अच्छा खाका मिलना दुर्लभ है।

वह ध्यान जो उपर्युक्त गुणों से संवलित है - कोटि पूजा के समान है[१]। वह जो सत्य है, स्थूल उपासना का विषय हो ही नहीं सकता है । जो अकाल है, वह स्थूल साधनों की पकड़ में आ ही नहीं सकता है उसे तो सूक्ष्म साधनों के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है । अत: इस सत्य तत्व अकाल पुरुष की प्राप्ति का एक मात्र साधन ध्यान है[२]।

लय

ध्यान की प्रगाढ़ावस्था लय है[३]। संत सुन्दरदास ने इसे 'योग निद्रा' कहा है[४]। निद्रा तो लय की अवस्था है ही लेकिन जहां निद्रा में आत्म-विस्मृति रहती है वहां योग निद्रा में आत्म-जागृति रहती है । संतों द्वारा वर्णित लयावस्था और तांत्रिकों का लययोग'[५] नितान्त दो भिन्न बातें हैं ।

लय क्या है, इस सम्बन्ध में संत कबीर और संत दादू का मत एकदम समान है और इतना समान है कि दोनों के दोहे भी लगभग समान हैं। इन संतों का कथन है कि लय ध्यान के सातत्य अथवा नैरन्तर्य की स्थिति है। उसमें व्यवधान की गुंजाइश नहीं है । जब तक साधक के शरीर में प्राण है तब तक तो वह उस भाव में लीन रहता ही है जिसका ध्यान कर रहा है, इससे अतिरिक्त मृत्यु के पश्चात् भी वह उसी तत्व में विलीन हो जाता है । संत गरीबदासजी ने भी इसे परिभाषित करते हुए संक्षेप में कहा है कि साधक के ध्यान में सदा परमेश्वर का रहना ही लय है[६]। तीनों संतों की दृष्टि में सततता का भाव ही लय का प्रधान तत्व है ।

---

१ कोटि पूजा जाके है ध्यान - गउड़ी म० ५, २३८-१३

२ सति पुरुख अकाल मूरति रिदै धारहु चितारु । केदारा म-५-११२१-१०

३ आठ पहर वहं चित लगावो । याको कीन्हे सो लय पावो । उद्धृत चरनदास २३३

४ सुन्दर विलास - रूपातीत ध्यान - ८

५ The Serpent Power, page 222-223.

६ कबीर साखी संग्रह - लय का अंग - १
दादू दयाल की बानी - लय को अंग -२
गरीबदासजी की बानी - ले का अंग - २४, २१ ।

लक्षण

लय को परिभाषित करने के उपरान्त दादू ने लयभावापन्न साधक का लक्षण भी बता दिया है कि ऐसा व्यक्ति संसार के क्रियाकलापों के प्रति एकदम बेखबर हो जाता है और उसकी बेखबरी उस सीमा तक रहती है जिस तक एक प्राणहीन व्यक्ति रहता है यानी ऐसा व्यक्ति जगत के व्यवहारों के प्रति एक प्रकार से मृतस्वरूप ही हो जाता है[१]।

संत कबीर का कहना है कि यह साधन, ज्ञान का विषय नहीं है बल्कि क्रियात्मक अनुभव का विषय है अत: लय-स्थिति की प्राप्ति के लिए चेतना के भीतरी तहों में प्रवेश करना पड़ता है । चेतना के भीतर प्रवेश करने के लिए मन के आधार को बदलना पड़ता है अर्थात् जो मन जड़ जगत में व्याप्त है, उसे उलटकर चैतन्य के स्रोत में डालना पड़ता है[२]। यह स्रोत निर्मल है अत: उसमें अवगाहन करने से मन निर्मल हो जाता है तब उसमें आत्मस्थ होने की योग्यता आ जाती है और आत्मस्थ होने पर वह परमात्म तत्व की समीपता प्राप्त करता है[३]। यह जगत हमारे भीतर आंखों के माध्यम से, स्मृति के माध्यम से और अन्य इन्द्रियों के माध्यम से आता है अत: इन सबकी मूल शक्ति को अन्तर्मुख करना पड़ता है[४]। संत गरीबदास कहते हैं कि इस अन्तर्मुखता की प्राप्ति के लिए जगत से उदासीन तो होना पड़ता ही है इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण जीवनी-शक्ति को परमात्मचिन्तन में नियोजित कर देना पड़ता है[५]। लेकिन यह नियोजन केवल ज्ञान का विषय नहीं है, मात्र चिन्तन से यह सधने वाला नहीं है, इसके लिए तो परमा-प्रीति का सहारा लेना पड़ता है[६]। यह प्रीति-

---

१ दादू दयाल की बानी - ३

२ कबीर साखी संग्रह - लय का अंग - २,४

३ दादू दयाल की बानी, भाग १, लय का अंग - ५

४ वही, १६, २१, २२, २३, २४, २५, २६

५ गरीबदासजी की बानी - ते का अंग - १,२

६ वही, दादू - ७

भाव ही है जो जगत के प्रति अभिमुख होकर जगत में आसक्त करता है, अत: इस भाव की दिशा को बदलना पड़ता है ।

विदेहभाव

तब, देहभाव से ऊपर उठने पर साधना है और साधक को यह स्थिति प्राप्त हो जाती है तो वह भीतर के रहस्यों से परिचित हो जाता है और तब इस योग्यता को प्राप्त कर लेता है कि अध्यात्म के क्षेत्र में दूसरों को भी सही मार्ग बता सके[१]।

देह भाव की परिसमाप्ति तीन सोपानों में होती है । प्रारंभ में उसे आत्मानुभव होता है फिर यह अनुभूति उसके अस्तित्व को अपने में समाहित करती है और तीसरे में वह पूर्णतया अनुभूति-मय हो जाता है । इन तीनों स्थितियों को घायल की दशा की तुलना में रखकर संत कबीर ने स्पष्ट किया है, जिस प्रकार पहले बाण बेधता है फिर पीड़ा का प्रभाव बढ़ने लगता है और अन्त में घायल उस पीड़ा से बेचैन हो जाता है[२]।

अब देह भाव समाप्त हो जाता है तो केवल चैतन्यानुभूति ही शेष रह जाती है यानी मैं जड़ नहीं चैतन्य हूं, देह नहीं आत्मा हूं - इस अनुभूति का उदय हो जाता है[३]।

आत्मानुभूति उसके मार्ग को परमात्मानुभूति की ओर प्रशस्त करती है । आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध बूंद और जल की भांति है अत: आत्मानुभूति ही परमात्मानुभूति में परिणत हो जाती है अर्थात् उसकी अनुभूति के क्षेत्र का विस्तार हो जाता है[४]। गरीबदासजी का तो यहां तक कहना है कि

---

१ कबीर, वही, ८, ६

२ वही, १०, ११, १२

३ दादू, वही, ३५

४ वही, ३६-४१ ।

अनाहत शब्द

सन्त चरनदासजी ने विस्तार और स्पष्टता से ध्यान, लय और अनहद शब्द पर प्रकाश डाला है । उनका कथन है कि ध्यान प्रगाढ़ हो कर लीनता की स्थिति में रूपान्तरित हो जाता है अर्थात् लय-अवस्था को प्राप्त हो जाता है और इस अवस्था के बाद अनाहत नाद का प्राकट्य है[५]। इस प्रकार निष्कर्ष निकला कि ध्यान की लयात्मक स्थिति के बाद अनाहत का

---

१ गरीबदास - वही, ७

२ वही, दादू - ४३

३ वही, ४३

४ कबीर - १६ ! दादू - ४४, ४५ ।

५ चरनदास की बानी - अनहद शब्द की महिमा - अष्टपदी - ७ ।

आत्मानुभूति तक की स्थिति भी अधूरी स्थिति है क्योंकि इस दशा में भी अहं का भाव शेष रह जाता है जिसकी संज्ञा उन्होंने बोझ से दी है । यह बोझ तब समाप्त होता है जब इसे भी पटक दिया जाता है और परमात्म भाव की प्राप्ति कर ली जाती है[१]। संत दादू भी महज आत्मानुभूति की ही स्थिति तक संतुष्ट नहीं है क्योंकि जब तक किसी प्रकार का अहंकार (स्थूल अथवा सूक्ष्म) है तब तक की अवस्था को वे सुषुप्ति की अवस्था मानते हैं, जबसे परमात्मभाव की अवस्था प्रारम्भ हो जाती है तब से वे जागरण की अथवा आत्म-जागरण की अवस्था मानते हैं[२]।

इस आत्मजागरण के बाद भी दो स्थितियां आती हैं । पहली स्थिति में, 'केवल उसका ही अस्तित्व है' की अनुभूति होती है जिसकी तुलना इस्लाम के एकेश्वरानुभूति से की जा सकती है[३]। दूसरी स्थिति वह है जहां पहुंचकर अद्वैतानुभूति हो जाती है[४]। इस प्रकार इस अवस्था तक की यात्रा लय-भाव के द्वारा होती है और इस स्थिति की प्राप्ति को ही परिपूर्ण-लय की स्थिति की संज्ञा दी जा सकती है ।

क्रम है । लय स्वतत्व और अद्वैतानुभव की अवस्था है लेकिन नाद-श्रवण उस भाव में स्थित हो जाने की अवस्था है[१]। संत कबीर ने भी कहा है कि लय दशा की प्राप्ति के बाद ही 'फनकार' की अवस्था आती है जो 'अलख' को लखाने में सहायक होती है[२]। कहीं कहीं तो इन्होंने सीधे ही कह दिया है कि ध्यान के बाद 'अनहद' या 'फनकार' श्रवण का क्रम आता है[३]। इस प्रकार ध्यान और लय दोनों शब्दों के प्रयोग से यह स्पष्ट हो जाता है कि ध्यान के बाद अनाहत का प्राकट्य होता है । दूसरी एक बात और स्पष्ट हो जाती है कि लय कोई अलग-थलग वस्तु नहीं है बल्कि ध्यान की ही सघन-अवस्था है । संत पानपदासजी ने सीधे ध्यान शब्द का प्रयोग न करके यह कहा है कि 'जब मन से मन को खोजा तब 'धुनि' उत्पन्न हुई'[४]। मन से मन खोजने का तात्पर्य ध्यान से ही है क्योंकि मन जब बाहर होता है तो जगत को खोजता है अर्थात् अस्थिर रहता है और जब खुद में भीतर सिमट जाता है तो स्थिर हो जाता है और स्थिरता का यही भाव तो ध्यान कहलाता है ।

स्वरूप

यह नाद अथवा 'धुनि' जो सबके भीतर निरन्तर ध्वनित हो रही है, प्रभु की दया है और वह इसलिए है कि इसे प्राप्त करके मनुष्य अपना आत्म-कल्याण करे[५] । संसार में जितने भी प्रकार के बाजे हैं, वे सभी इस आन्तरिक नाद में मूलरूप से अवस्थित हैं - उन्हें सुना जा सकता है[६]। इसका

---

१ चरनदास की बानी - २,३,६

२ कबीर साहब की शब्दावली, भाग २, मंगल-५

३ वही, भाग४, राग कहरा - २ । भाग १, भेदबानी - १६ ।

४ पानप बोध - कायासोध - ४

५ आसा - म० ४, ४४२-८ । मारू - म० ३, १०४१-१८
अनहद की जंतर तहकं बाजे, जम जालिम पचि मारा
सोवत जागत उठत बैठत, टूट कबहु नहि तारा ।
सन्त कवि दरिया - डा० ब्रजचारी - ११०

६ जहं लग जग में बाजे होई । अनहद मांहि सुने सब कोई - अखरावती- चौ० १३ ।

अर्थ यह हुआ कि जिस संगीत को हम बाहर सुन रहे हैं, वह मात्र अनुकरण है लेकिन दोनों में अन्तर है । एक दिव्यनाद है तो दूसरा लौकिक, एक अनश्वर है तो दूसरा नश्वर । इस तथ्य की ओर संतों ने यह कह कर संकेत दे दिया है कि यह धुनि मन को मगन करने वाली है । लेकिन यह मगनता साधारण कोटि की नहीं है जिसे एक बार सुनकर मन मगन हुआ और फिर प्रपंच जगत में भूल गया । यह तो ऐसी मगनता है जो अन्तकाल तक चलती है, सारे दुखों (त्रय ताप) का विनाश कर देती है और अगम-पंथ को गम्य बना देती है[1]। यही कारण है कि यह साधारण ध्वनि नहीं है, अलौकिक ध्वनि है और जो अलौकिक है, वह परमानन्द दायिनी भी है । गुरु नानकदेवजी कहते हैं कि 'धुनि' रूप में स्वयं हरि ध्वनित हो रहे हैं[2]।

स्थान

यह ध्वनि अथवा 'धुनि' मानव शरीर में कहां पर ध्वनित हो रही है इसके लिए लगभग पूर्ण बहुमत है । सभी एक स्थान का निर्देश करते प्रतीत होते हैं लेकिन जहां एकाध संतों ने दूसरे नाम का ग्रहण कर लिया है वहां भी तात्पर्य उसी स्थान से ही है, केवल कविकर्म सौकर्य के लिए उन्हें दूसरे अपेक्षाकृत कम गृहीत नाम का ग्रहण करना पड़ा है । लगभग सर्वसम्मति द्वारा गृहीत नाम और निर्देशित स्थान है - 'गगन'[3]। संत चरनदास ने भी 'गगन' की ओर ही

---

१ अखरावती - महिमा शब्द - ६
अमीघूंट - केशवदास - रेखता-१४ ।

२ हरि आपे सबदु सुरति धुनि आपे । गउडी म० ४, १६५-६

३ संत तुलसीदास - शब्दावली - चितावनी, ३७
संत सिंगाजी - निमाड़ के संत कवि, संग्रहखण्ड- ३४,३७,४१,६६
संत तुरसीदास निरंजनी - निरंजनी सम्प्रदाय - १७४
तुल्लासाहब - शब्दसार, पृ० ३,८,२४
गुलाल साहब की बानी, पृ० १२२
दरिया साहब (मारवाड़)-बानी, पृ० १३, १४
केशवदास - अमीघूंट - पृ० ६ ।

निर्देश किया है लेकिन उसके साथ कंवल जोड़कर 'गगन मध्य जो कंवल' कर दिया है[१]। कंवल शब्द बढ़ा देने से स्थान में तो अन्तर पड़ता नहीं है, हां अभिज्ञताएं ही बढ़ जाती हैं, कि वह स्थान गगन के मध्य में है। संत गरीबदासजी ने 'धुर' शब्द का प्रयोग किया है लेकिन इसके पूर्व उन्होंने 'शून्य' का इस स्थान के लिए प्रयोग किया है[२] जिसका प्रयोग कबीरदास जी ने भी किया है[३]। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यह 'धुर' भी 'शून्य' ही है और शून्य तो गगन का पर्यायवाची है ही। इसके अतिरिक्त भी इस स्थान का संकेत '[redacted]' 'मस्तक' जैसे शब्दों के द्वारा भी किया गया है[४]। मस्तक तो काफी अस्पष्ट संकेत है लेकिन इसके द्वारा उस प्रदेश का संकेत तो हो ही जाता है। 'दशम द्वार' संतसाहित्य के सुपरिचित शब्दों में है और यह 'गगन' के पर्याय रूप में ही इस स्थान पर प्रयुक्त है।

विधि

शब्द अथवा नाद हमारे भीतर निरन्तर ध्वनित हो रहा है और इसके बावजूद भी इसे कोई बिरले ही सुन पाते हैं इसलिए कि वे इसके रहस्य को जानते हैं। इसके रहस्य को जानना उतना सरल नहीं है क्योंकि इसका एक विज्ञान है लेकिन समस्या यह है कि यह सम्पूर्ण विज्ञान रहस्य-भाषा में लिखा गया है अथवा परम्परा से मौखिक रूप में प्राप्त होता रहा है। फिर भी जो कुछ लिखा गया है, वह स्पष्ट नहीं है, बिखरा हुआ है और उसको जोड़ना कठिन है इसलिए कि जो इन संकेतों से वाकिफ़ नहीं हैं वे जोड़ने में बिलकुल असमर्थ हैं। उदाहरण के लिए संत कबीर ने एक पद में इस सम्बन्ध में चर्चा की है, उनकी दृष्टि से चर्चा पूरी है और सम्पूर्ण शब्द-योग का विज्ञान

---

१ चरनदास की बानी - पृ० ३७

२ गरीबदास की बानी, पृ० ८७

३ अखरावती - १५

४ आसा- म० ३, ४४०-१६ - रामकली कबीर - ६६६-१६।

इसमें खोल दिया गया है लेकिन उन्हें भी मालूम है कि इसको समझना सबके बूते की बात नहीं है तो अन्त में कह दिया है, 'जो या पद को परचा पावै, ताको नाम विज्ञानी'[१]।

संत कबीर ने यद्यपि एक पद में ही सही लेकिन सम्पूर्ण विधि समझा दी है -

उनका कहना है कि शब्द हमारे भीतर निरन्तर ध्वनित हो रहा है, उस शब्द को पकड़ना है और सुनना है। हमारे भीतर अन्तर्निहित शक्ति जब जगती है तब उसके प्रकाश से हमारा अस्तित्व प्रकाशित हो जाता है, उसकी शक्ति से हमारा अस्तित्व शक्तिमान हो जाता है लेकिन उस प्रकाश को हम स्थिर नहीं कर पाते हैं जिसके सहयोग से आगे का मार्ग प्रशस्त होता है। वह प्रकाश, वह शक्ति बाहर निकल कर बिखर जाती है; व्यर्थ हो जाती है। वह शक्ति बिखरे नहीं इसके लिए मन को 'सुरति' के द्वारा अन्तर्मुख करके नाम के साथ जोड़ देना है। नाम के साथ जुड़ने के बाद भी मन बहिर्मुख होता है अतः उसे सावधानी के साथ (योग-शक्ति पूर्वक) बाहर नहीं जाने देना है। इस प्रकार जब यह साधना कुछ दिन चलती है तब उसमें परिपक्वता आ जाती है और परिपक्वता की पहचान यह होती है कि इन्द्रियां विषय-रस के प्रति उदासीन हो जाती हैं - कामना रहित हो जाती हैं। ऐसे साधक के श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया बदल कर सुषुम्णा मार्गी हो जाती है - चित्त उपराम हो जाता है - आत्मस्थ हो जाता है और उस परमनाद को पकड़ने में समर्थ हो जाता है जो हमारे भीतर निरन्तर

---

१ कबीर - शब्दावली, भाग १, पैदवानी १४।

ध्वनित हो रहा है[१]। संत कबीर ने सम्पूर्ण युक्ति (विज्ञान) को इस पद में संक्षेप में संकेत-भाषा में रख दिया है लेकिन फिर भी कहा जा सकता है कि अभी बात स्पष्ट नहीं हुई । इसे स्पष्ट करने के लिए अभी और विस्तारपूर्वक और सफाई से कुछ कहने की आवश्यकता है लेकिन वह तो संतों से होने से रहा क्योंकि न वे जो कुछ कह रहे हैं सामान्य लोगों के लिए कह रहे हैं और न मनुष्य में उसे ठीक ठीक जिस रूप में अनुभव करता है उस रूप में कहने की शक्ति है । ये सारी बातें अतिमानसी धरातल की हैं और मनुष्य की अभिव्यक्ति की शक्ति मानसी धरातल तक है, भले ही अती-न्द्रिय जगत की अनुभूति की शक्ति रखता है ।

संत मीरा साहब ने इसे और संक्षेप में लिखा है । उनका कथन है कि हमारे भीतर गगन प्रदेश में एक मधुर ध्वनि हो रही है । वह ध्वनि अनेकरूपों में अभिव्यक्त हो रही है, अत: साधक को चाहिए यह कि वह जिस जिस रूप में प्रकट हो रही हो मात्र उसका श्रवण करता रहे । यह ध्वनि अत्यन्त रसयुक्त है अत: जीव को उसके श्रवण में आनन्द आता है । श्रवण की यह निरन्तरता जीव को शब्द के अधीन कर देती है और साधक को प्रभु के अत्यन्त निकट ला देती है[२]। इस पद में मीरा साहब ने शब्द प्रकट होने के

---

१ गगन घटा घहरानी साधो, गगन घटा घहरानी ।
पूरब दिसि से उठी बदरिया, रिमझिम बरसत पानी ।
आपन आपन मेंढ़ सम्हारी, बहुयो जात यह पानी ।।
मन के बैल सुरति हरवाहा, जोत खेत निर्बानी ।
दुविधा दूब छोलकरु बाहर, बोवो नाम की धानी ।।
जोग-जुक्ति करि करु रखवारी, चर न जाय मृग धानी ।
बाली फार कूटि घर लावै, सोई कुसल किसानी ।।
पांच सखी मिलि कीन्ह रसोइयां, एक से एक सयानी ।
दूनो थार बराबर परसै, अैवें सुनि अरु जानी ।।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, यह पद है निर्बानी ।
जो या पद को परचा पावै, ताको नाम बिज्ञानी ।।
कबीर साहब की शब्दावली - भाग १, पेपबानी-१४ ।

२ मीरा बानी - गुरु और नाम महिमा - शब्द २, ४ ।

वाद वाली स्थिति पर ही प्रकाश डाला है और सहज-निरन्तर श्रवण को साधनविधि के रूप में स्वीकार किया है ।

संत चरनदास द्वारा बतायी गयी प्रक्रिया यद्यपि शास्त्रीय है किंतु कबीर के अर्थ में वैज्ञानिक नहीं है । चरनदासजी की विधि, आसन, प्राणायाम, बन्ध और ध्यान पर आधारित है ।

संत चरनदासजी आसन सिद्धि को भी आवश्यक मानते हैं, सम्भवत: इसलिए कि इसका अधिक समय तक स्थिरतापूर्वक अभ्यास किया जा सके । इसके उपरान्त मूलबन्ध का शोधन, शंखिनी का संकोचन भी आवश्यक बताते हैं । इन दो क्रियाओं के पश्चात् प्राण और अपान को मिलाना पड़ता है । अपान को खींचकर इसकी अधोमुखी गति को उर्ध्वमुखी करना पड़ता है और कुंभक के द्वारा दोनों को मिलाकर तीनों बन्ध लगाकर उन्हें स्थिर करना पड़ता है जिससे नवनाड़ियों से खिंचकर वायु की गति उर प्रदेश में स्थित हो जाती है और शरीर के नव द्वारों पर वज्र-ताले लग जाते हैं । इसके उपरान्त प्राण दशम द्वार में संचरित होकर, शून्य शिखर में पहुंचकर, नाद को जागृत कर देते हैं और गगन प्रदेश में घोर गर्जन प्रारम्भ हो जाता है[१]। संत चरनदासजी की विधि में कबीर साहब और भीखा साहब की सरलता और सहजता नहीं है लेकिन इतना तो पता चलता ही है कि अन्य विधि भी कारगर रूप में प्रयोग्य है ।

प्रकार

जैसा कि अखरावती में संत कबीर ने बताया है कि संसार में जितने भी प्रकार के वाद्य हैं, उन सबका संगीत अनहद के माध्यम से सुना जा सकता है लेकिन इसके बावजूद भी संतों ने सुर की गिनती भी कर दी है ।

---

१ चरनदास की बानी, भाग २, पृ० ६, १२
वही, भाग १, पृ० ३६

२ अखरावती - चौ० १३ ।

संत मीसा साहब ने बीना, भेरी, ढोल, शंख, सहनाई, तालमृदंग, सातोराग, जल-तरंग, किंकिन, नूपुर तथा अन्य तंत्री-वाद्यों की गणना की है[१]। चरनदास जी ने घंटा किंकिनि, मुरली, शंख, भेरी, मृदंग, सिन्धु गर्जन, पखावज और दमामा के नाद को सुना है[२]। संत तुलसीदास ने किंगरी, शंख, मृदंग, मुरली, वीणा, सुरबंग और धधक का वर्णन किया है[३]। संत सिंगा जी ने ताल पखावज, झांझी और वंशी की ध्वनि का होना बताया है[४]। लेकिन संत तुरसीदास निरंजनी ने ध्वनियों के गुण-धर्म पर भी प्रकाश डाला है और कि ये मधुर नहीं देवदुर्लभ हैं तथा परमानन्ददायिनी हैं[५]। उपर्युक्त वाद्यों में कुछ का वर्णन तो सभी ने किया है। कतिपय ऐसे हैं जिनको अलग अलग संतों ने सुना है लेकिन संत कबीर के अनुसार जब सभी वाद्य सुने जा सकते हैं तो गणना का महत्व कुछ कम हो जाता है, फिर भी प्रमाणस्वरूप संतों ने कुछ की गणना करा दी है। कुल मिला कर जो महत्वपूर्ण तथ्य है, वह यह है कि ये ध्वनियां दिव्य हैं, अलौकिक हैं और सभी ध्वनियों का मूल उत्स अथवा मंडार, यह अनहद है।

नाद-योग एक प्रभावी क्रिया है जो सम्पूर्ण व्यक्तित्व में परिवर्तन लाने में सक्षम है। नादश्रवण की स्थिति प्राप्त करने के पश्चात् मन के साथ सभी इन्द्रियों की बहिर्मुखता समाप्त हो जाती है, सहज ही वृत्तियां निष्काम हो जाती हैं। जिन नेत्रों का विषय रूप रहता है, उनका विषय सुरति बन जाता है। रोमरोम आनन्द से पुलकित हो जाता है। शरीर निरालस हो

---

१ मीसा-बानी, पृ० १३

२ बानी भाग २, भेदबानी २, ६

३ शब्दावली, भाग १, पृ० १३७। भाग २, १७७, १६२

४ निमाड़ के संत कवि सिंगा जी - संग्रह खण्ड, ३४, ३७, ४१, ६६

५ संत तुरसीदास और निरंजनी सम्प्रदाय, पृ० १७४।

जाता है । शब्द-ध्वनि में साधक के व्यक्तित्व का एक एक कण पागल रहता है और वह दिव्य-आनन्द-रस में पागल बना रहता है । उसके कर्म के बन्धन कट जाते हैं, मन की द्विधाएं समाप्त हो जाती हैं । उसकी देहासक्ति समाप्ति हो जाती है और विदेहभाव की प्राप्ति हो जाती है[१]। यह तो चरनदास जी का निज का अनुभव है लेकिन उनका कथन है कि अन्य मुक्तों का भी कहना है कि यह साधन आवागमन को नष्ट करने वाला है और त्रिगुणातीत स्थिति को सम्प्राप्ति कराकर चौथे पद तक पहुंचाने वाला है । पुन: चरनदासजी कहते हैं कि इस साधन से ब्राह्मीभाव की प्राप्ति हो जाती है[२]।

संत मीसा साहब का कथन है कि यह सर्वोत्तम साधन है इसलिए कि जीवात्मा को नाम अथवा शब्द से मिला देता है जिससे वह बिछुड़ गया है[३] और नाम अथवा शब्द से सुरति अथवा चैतन्य-तत्व के मिलने के बाद, उस स्थिति की प्राप्ति हो जाती है जो कालातीत है[४]। इस प्रकार कुल मिलाकर देखने से सम्पूर्ण सुरति शब्द की साधना इन तीन सोपानों में विभक्त है और शब्द रूप ब्रह्म में सुरति का विलय हो जाना इस योग की चरम परिणति है ।

शब्द ब्रह्म है अथवा ब्रह्म का प्रतिनिधि है - ऐसा रहस्य-द्रष्टाओं का मत है । इसकी स्वीकृति हिन्दू-धर्म तथा अन्य धर्मों के द्वारा दी गयी है[५]। कहने का तात्पर्य कि यदि उस मूल तत्व, शब्द को ग्रहण कर लिया

---

१ चरनदास-बानी - भेदबानी- शब्द ११

२ वही, भाग १, पृ० ३७-६,७,८ ।

३ नाम प्रताप सबन के ऊपर बिछुरो ताहि मिलावे -
मीसा शब्दावली - गुरु-नाम महिमा-२

४ जाप मरै अजपा मरै, अनहद हूं मरि जाए
सुरति समानी शब्द में ताहि काल नहिं खाए ।

५ शब्द ब्रह्मातिवर्तते - गीता ६।४४ ।
In the beginning was the word, and word was with God, and the word was God - Bible, St. John 1,1.

जाए तो ब्रह्म का अधिग्रहण सहज ही हो जाता है । इस शब्द को अधिग्रहण करने की दिशा में प्रयत्नशील योग, सुरति शब्द योग है और उसकी चरम परिणीति सुरति का शब्द में विलीनीकरण है ।

जीवन-मृतक

स्मरण और ध्यान की साधना से साधक का अन्तःकरण प्रभावित होता है, इसमें कोई संदेह नहीं लेकिन यह प्रभाव धीरे धीरे उसके बाहरी व्यक्तित्व को भी प्रभावित कर देता है और क्रमशः उसके बाह्यकरणों को पूर्णतया आच्छादित कर देता है । आच्छादन की यह क्रिया जब पूर्ण हो जाती है तो साधक का रूपान्तरण हो जाता है और इस रूपान्तरित व्यक्तित्व को संतों ने 'मरजीवा' अथवा 'जीवत-मृतक' की संज्ञा दी है[१]।

मरण, शरीर का धर्म है और एक अनिवार्यता है[२]। सभी को मरना है लेकिन मरण के दो प्रकार हैं - एक मरण में शरीर का पतन होता है, उसे ही सामान्य रूप में मृत्यु की संज्ञा दी जाती है । यह मरण अपार दुख का विषय है[३]। मरण का एक दूसरा प्रकार भी है जिसमें बिना शरीर-पात के ही मृत्यु हो जाती है किन्तु यह मरण परमानन्द का विषय है[४]। संतों ने दोनों प्रकार के मरणों को अपना विषय बनाया है । पहले प्रकार का मरण तो चेतावनी का विषय है जिसके द्वारा संतों ने जगत की नश्वरता पर प्रकाश डालकर लोगों को सावधान रहने, भजन करने और जीवन को व्यर्थ नहीं खोने का उपदेश दिया है किन्तु दूसरे प्रकार का मरण तो जीवन से भी अधिक

---

१ गुर परसादी जीवित मरै मरिजीवै सबदु कमाइ
मुकुति दुआरा सोइ पाएगि विचहु आपु गवाइ । मलार म ३, १२७६-८
आठ पहर प्रभु अपना धिआइऐ गुरु प्रसादि भव तरिऐ
आपु तिआगै होइऐ सम रेणा जीवतिआइउ मरिऐ । सूही म ५,७५०-६
राणा राउ न को रहै, रंकु उठि फकीर- रामकली, म १-९३६-६
२ चार बने मिलि खाट उठाइन, रोवत ले चले डगर डगरिया, क०शु० ३
चितावनी ६
३ जा मरना सो जग डरै, मेरे मन आनन्द - साखीग्रन्थ, पृ० ५४२ ।
४

मूल्यवान और महनीय जीवन है । यह मरण जीवन से कहीं अधिक उच्चतर जीवन है । यह जीवन, चेतनामय जागरण का जीवन है ।

जीवन के बावजूद मृतक भाव की प्राप्ति किस प्रकार सम्भाव्य है? यह प्रश्न संत धर्मदास ने अपने परम गुरुदेव संत कबीर के समक्ष इन शब्दों में रखा - 'कैहि विध होई मृतक जीवन तन - कहु हु विलोय नाथ अमृत घन ?' इसके उत्तर में संत कबीर ने बताया कि इस भाव की सम्प्राप्ति के लिए गुरु-शरणागति, नामग्रहण और तल्लीनता की सर्वप्रथम आवश्यकता होती है । इस क्रिया के अभ्यास से उसे देहातीत अवस्था की प्राप्ति होती है, फिर मृतकभावापन्न पुरुष, द्वन्द्वातीत होकर लोकहित के सम्पादन में रत हो जाता है । इस बात को संत कबीर ने कीट और भृंग के रूपक के द्वारा प्रस्तुत किया है । कीट भृंग के शब्द को ग्रहण करता है और भृंग उसे तदाकार कर लेता है । ऐसा ही पुरुष मृतकभावापन्न होता है । मृतक भावापन्नता को संत कबीर ने पृथ्वी और गन्ने के उदहारण से स्पष्ट किया है । पृथ्वी की द्वन्द्वातीत अवस्था और गन्ने को मिश्री बनने तक की कष्टसहन-शीलता को संत ने ऐसे पुरुष का स्वभाव बताया है[१]।

संत दादू ने अपने एक दोहे में सूत्र रूप में जीवन-मृतक कौन है, समझा दिया है । शरीर में जीवन हो, इन्द्रियां क्रियाशील हों, सामान्य रूप में यह जीवन की अवस्था है । मृत अवस्था में शरीर प्राणहीन हो जाता है लेकिन एक तीसरी अवस्था भी है जिसमें शरीर तो प्राणवान रहता है लेकिन इन्द्रियों का गुण-धर्म समाप्त हो जाता है और मन से कर्तापन का भाव विलुप्त हो जाता है[२]। यह तीसरी अवस्था ही संतों की 'मिरतक' अवस्था है । संत कबीर ने जीवन के लिए तीन घटकों का होना आवश्यक बताया

---

१ अनुराग सागर, पृ० ३-४ ।

२ दादू दयाल की बानी - जीवन-मृतक को अंग-२४ ।

है, वे तीन हैं - व्यक्ति का प्राणवान शरीर, जो भोक्ता है, माया जो भोगने की वासना को जन्म देती है और मन जिसकी सहायता से इन्द्रियां भोगासक्त होती हैं । जीवन मुक्त में तीनों के स्वरूप का रूपान्तरण हो जाता है । शरीर में जीवन तो रहता है लेकिन वह भोक्ता न रहकर यंत्र हो जाता है । मन भी रहता है लेकिन निरासक्त हो जाता है । माया तो मन के साथ ही चलती है । उसकी गति तभी तक है जब तक मन, जगत के साथ विषयासक्त है । मन के अन्तर्मुख होते ही वह समाप्त हो जाती है । अत: वह पुरुष जिसकी इन्द्रियां केवल यंत्रवत व्यवहार करती हैं, मन वासक्ति रहित है - जीवित-मृतक है[१] ।

मरजीवा होना कठिन कार्य है, यहां तक कि शूर-वीर और सतियों के कार्य से भी कठिन है क्योंकि इनका कार्यकाल अल्प है । लेकिन मरजीवा के कार्य की अवधि लम्बी होती है । दूसरे यह कि वह न तो जीवित होता है और न मृत । वह तो श्मशान की तरह होता है जैसे श्मशान में चितायें जलती रहती हैं, वैसे ही उसके भीतर निरन्तर विषय वासनाओं की चिता जलती रहती है[२] ।

मरजीवा में मरण और जीवन दोनों के तत्व विद्यमान हैं । मरण तत्व से संतों का क्या तात्पर्य है इस पर विचार हुआ । जीवन तत्व को वे दो अर्थों में लेते हैं - एक शाश्वत जीवन के अर्थ में, जिसमें जीव को राम का अंश मानते हैं । राम अविनाशी है, अत: जीव भी अविनाशी है[३] । जीवन का दूसरा अर्थ है - आन्तरजीवन अर्थात् चैतन्य के प्रति जागरण और जड़ के प्रति सुषुप्ति । यह आन्तरजीवन सधता है - चैतन्य को पकड़ने से, चैतन्य का

---

१ साखीग्रंथ - जीवतमृतक को अंग- १, २० ।

२ वही, ४६

३ राम मरै तो हम मरैं, नातर मरै बलाय ।
अविनाशी के बैटवा, मरै न मारा जाय ।
वही, सजीवन को अंग - १० ।

प्रतिनिधि, नाम है अत: नाम को ग्रहण करने से, यह कला सध जाती है[१]। इस कला की साधना के प्रारम्भ में जड़ प्रबल रहता है और चैतन्य दुर्बल लेकिन धीरे-धीरे चैतन्य इतना प्रबल हो जाता है कि वह स्वयं 'हरि' हो जाता है और जड़ अपने अस्तित्व के बावजूद भी नितान्त प्रभावहीन हो जाता है[२]। बान्तर-जीवन की अवस्था में देखने, सुनने, चलने, करने और बोलने आदि की सारी क्रियायें चलती रहती हैं लेकिन शरीर विस्मृति की दशा में; केवल आभ्यान्तर पक्ष ही सक्रिय होता है[३]।

आभ्यान्तर पक्ष दुर्बल न हो इसकी चौकसी करनी पड़ती है और यह निदान करना पड़ता है कि वह मूल रोग कौन सा है जो दुर्बलता उत्पन्न करता है। संत दादू ने उस मूलरोग का निदान करके बता दिया है कि यह अहं है लेकिन उन्हें यह भी मालूम है कि इसके साथ लड़ना कठिन है इसलिए उन्होंने एक सरल मार्ग बताया है कि इसे परमेश्वर को समर्पित कर देना ही ठीक होता है और इस प्रकार इससे मुक्ति मिल जाती है[४]। संत कबीर ने इस बाधा को समाप्त करने की दूसरी तदबीर बतायी है और वह यह है कि इसे क्रमश: दुर्बल करते करते अंत में इतना दुर्बल कर दिया जाए कि अन्त में यह स्वयं समाप्त हो जाए। इसके लिए उदाहरण स्वरूप क्रम भी बता दिया है कि पहले रोड़ा बना दिया जाए, फिर धूल बन्त में पानी जैसा तरल कि बहकर समाप्त हो जाए[५]। इस प्रक्रिया में उत्तरोत्तर बारीकी और दूसरे पक्ष में दुर्बलता बढ़ती गयी है। लेकिन विशेष द्रष्टव्य यही है कि संघर्ष वाले मार्ग के प्रति दोनों ने अस्वीकृति दे दी है। संघर्ष वाले पक्ष की अस्वीकृति

---

१ साखीग्रन्थ - ४

२ वही, ५

३ जसी बाफरु बैसणा, विण्डु कंना सुनणा,
पैरा बाफरु चलणा, विण्डु हथा करना,
बीमे बाफण्डु बोलणा इउ जीवत मरणा। बार माफ म० २,१३६-२

४ दादू, वही, १६, १७,१०

५ कबीर, वही, २६-३४।

का एक और भी कारण है और वह यह कि संघर्ष के लिए दूसरे पक्ष का होना भी आवश्यक है, यहां तो स्थिति यह है कि जो शत्रु है उसके विरोध में भी स्वयं उसे ही खड़ा होना है और स्वयं को ही समाप्त करना है; जिसे दादू साहब के शब्दों में इस प्रकार कहा गया है कि मैं (अहं) खुद अपना शत्रु हूं और मुझे स्वयं को मारकर ही 'मरजीवा' बनना है[१]।

जिस मरण की चर्चा संतजन करते हैं, वह एक अपनी अलग विशेषता रखता है। इसकी एक विशेषता दादू जी बताते हैं कि यह मरण के पहले ही मरने की कला है। दूसरी विशेषता संत कबीर बताते हैं कि यह मरण उस प्रकार का मरण है कि एक बार मरने के बाद पुनः मरना नहीं पड़ता है[२]। एक तरफ तो इसे जीवन कह सकते हैं जहां मरण के पूर्व मर जाने से शाश्वत जीवन की प्राप्ति हो जाती है[३]। दूसरी तरफ इसे मृत्यु भी कह सकते हैं जहां एक ऐसी मृत्यु की प्राप्ति हो जाती है जो काल को भी निकट नहीं आने देती है क्योंकि काल तो जीवितों को ही काल का ग्रास बनाता है, जो मृत हैं उनसे काल का क्या लेना देना[४]।

सहज

गुरुवाणी का कथन है कि जो मरजीवा है उसे ही सहज की प्राप्ति होती है[५] अतः सहज के सम्बन्ध में भी विचार कर लेना समीचीन ही होगा क्योंकि इसका भी सम्बन्ध इस साधना से ही है, सम्प्रति जिसकी चर्चा चल रही है।

---

१ दादू, वही, १२

२ वही - दादू - ४ । कबीर- ३

३ दादू- ११

४ दादू- ४५

५ मरि मरि जीवै ता कछु पाए । गुरुपरसादी हरि मंनि वसाए ।
सदा मुकतु हरि मंनि वसाए सहजै सहजि समावणिआ ।
मारू० म० ३, १२३-१५ ।

सहज के साथ योग अथवा साधना जोड़कर किसने विद्वान् सहज साधना अथवा सहजयोग नाम से एक भिन्न योग की परिकल्पना करते हैं और इसके पुरस्कर्ता के रूप में संत कबीर का नाम लेते हैं और सुरति शब्द योग को राधास्वामी सम्प्रदाय की साधना मानते हैं[१] किन्तु उक्त पंथ के गुरु लोग ऐसा नहीं मानते हैं। उनके विचार से कबीर द्वारा पुरस्कृत योग ही राधा-स्वामी पंथ का भी योग है जिसकी पुष्टि वे कबीर के ही एक दोहे से करते हैं, अत: सुरतिशब्द योग के पुरस्कर्ता भी संतकबीर ही हैं और यही योग अक्षुण्ण रूप से संत-धारा में प्रवाहित होते हुए राधास्वामी मत को प्राप्त हुआ ऐसा कहना ही सत्य है[२]।

फिर प्रश्न उठता है तब सहज है क्या? संत कबीर ने बड़े सहज भाव से इसका उत्तर दिया है कि यह एक पहुंचे हुए व्यक्ति की जीवन-स्थिति है जहां इन्द्रियां जड़ोन्मुख न रह कर चिन्मुख हो जाती हैं। इस भाव को कबीर ने अपने दो दोहों के द्वारा स्पष्ट किया है[३]। इसी बात की पुष्टि प्रसिद्ध कबीर पंथी संत पं० महाराज राधवदास की टीका से भी हो जाती है कि सहज एक अवस्था है और इस अवस्था में इन्द्रियां ही आत्मप्राप्ति के साधन रूप में कार्य करने लग जाती हैं[४]।

यहां पर इससे सम्बद्ध एक अन्य प्रश्न उठ खड़ा होता है कि तब मरीजीवा और सहज इन दोनों अवस्थाओं का सम्बन्ध क्या है और अन्तर क्या है? पहले प्रश्न का उत्तर तो प्रारम्भ में 'गुरुवाणी' के द्वारा ही दिया

---

१ राधास्वामी मत - अगमप्रसाद माथुर, पृ० १८।

२ (क) Discourses on Radha Soami faith - page 127-128

(ख) कबिरा धारा अगम की सतगुरु दई लखाय
उलटि ताहि सुमिरन करो स्वामी संग लगाय। वही से उद्धृत।

३ सहज सहज सब कोय कहै, सहज न चीन्है कोय
जो सहजै साहब मिलें सहज कहावै सोय। - साखी संग्रह - सहज को अंग-१
पांचो राखे पखरती सहज कहावै सोय। वही - २

४ वही, टीका, पृ० ५०५।

जा चुका है कि मरजीवा की अगली अवस्था सहज है और दूसरे प्रश्न का उत्तर पं० महाराज राधवदास जी ने दे दिया है कि इस अवस्था में इंद्रियां विन्मुख हो जाती हैं, अर्थात् मरजीवा की स्थिति में इन्द्रियां विषयों के प्रति मृत रहती हैं लेकिन सहज स्थिति में इन्द्रियों का मार्गान्तरीकरण हो जाता है ।

कार्य

सहज भाव के पश्चात् एषणाओं की समाप्ति बिना आयास हो जाती है - यह तो इसका प्रभाव है और एषणाएं ही बन्धन की कारण हैं अत: कारण के समाप्त होते ही बन्धनरूपी कार्य की समाप्ति हो जाती है जो स्वयं सिद्ध है । बन्धनसमाप्ति न कह कर कबीर ने उसे राम में 'एकमेक मिल जाना' कहा है[१]।

स्व-भाव : सहज

एक अन्य स्थान पर कहा है कि 'स्व-भाव' जो सहज है उसमें स्थित होने पर राम की प्राप्ति होती है[२]। इसका अर्थ हुआ कि 'स्व' का भाव अर्थात् आत्म-भाव की प्राप्ति ही वस्तुत: सहजभाव की प्राप्ति है । अत: तात्पर्य यह हुआ कि जो सबसे सहज है वह 'स्व' है और 'स्व' से जो जितना परे है वह उतना ही असहज है । इसलिए कबीर ने इस 'स्व' अथवा 'आप' को समझने पर प्रकर्ष दिया है और इसे विशिष्ट साधना के रूप में स्वीकार किया है[३]।

---

१ सहजै सहजै सब गया, सुत बित काम निकाम
एकमेक ह्वै मिलि रहा, दास कबीरा राम । वही-५

२ क० ग्र० पृ० १८६

३ जोग जुगत तै परम न छूटै, जब लग आप न सूझै - क०ग्र०१, मेदबानी १

त्रिविध सहज काया शोधन

वस्तुत: यह 'स्व' क्या है, इसका रहस्य खुलता है - 'सहज काया शोधन' से । संतों का यह काया शोधन हठयोगियों के काया शोधन से नितांत भिन्न है । संतों के काया शोधन की प्रक्रिया ज्ञानाश्रित है, जब कि हठयोगियों की क्रियाश्रित । संत कबीर ने काया शोधन की एक सम्पूर्ण दृष्टि दी है जिसके अनुसार शरीर शोधन करके मूल तत्व की प्राप्ति की जाती है । संत कबीर का कहना है कि आत्म तत्व ही मूल है, उसे ही प्राप्त करना है । आत्मा और ब्रह्म में अभेद है । जिस प्रकार वट के छोटे बीज में सम्पूर्ण वट-वृक्ष है, जिस प्रकार बिन्दु में सम्पूर्ण शरीर सूक्ष्मरूप में समाया हुआ है उसी प्रकार कर्ता भी आत्म तत्व मय है । यह काया शोधन की एक दृष्टि है । दूसरी दृष्टि है कि वह पूर्णरूपेण उससे आवृत है, जिसके लिए जल और कुम्भ का उदाहरण दिया गया है । कुम्भ के भीतर जल, बाहर जल केवल बीच में एक अस्थायी व्यवधान है । उसी प्रकार शरीर के भीतर ब्रह्म (आत्मा) है और वह ब्रह्म से ही परिव्याप्त है । यह आत्म दर्शन की दूसरी दृष्टि है । इन दो प्रक्रियाओं के द्वारा संतों का सहज काया शोधन सम्पन्न होता है[१]। एक तीसरी दृष्टि भी है । इसके अनुसार केवल ब्रह्म ही सत्य है और जगत का अस्तित्व ही नहीं है । जगत की सत्ता तो केवल व्यावहारिक दृष्टि से है उसी प्रकार जिस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से नदी-जल और तरंग दो नाम होकर भी वस्तुत: एक हैं । यह दृष्टि भ्रम नाशक है[२]। कुल मिलाकर ये तीन दृष्टियां हैं जो दो पदों में रखी गयी हैं । एक ही पद में कबीर ने काया शोधन का नाम लिया है दूसरे में नहीं लेकिन दोनों पास पास हैं और एक

---

१ साधो सहजै काया सोधो
करता आप आप में करता---- कबीर श० भाग १, भेदबानी ४
क० ग० - परिशिष्ट - १५

२ साधो एक आपु जग मांही --- वही- १
निकट निरंजन देखि हौं ---- दा० द० बानी - पद, २०६ ।

ही विचार को स्पष्ट करती हैं और उनका भराव करती हैं । यद्यपि उपर्युक्त विचार परम्परागत हैं लेकिन एक निश्चित संदर्भ में एक प्रक्रियारूप में स्वीकार करना संत कबीर की अपनी मौलिक दृष्टि है ।

बाधा और निराकरण

इस 'स्व' की प्राप्ति में जो बाधक है उसका निराकरण 'सहज पहचान' के द्वारा होता है[१]। सामान्यरूप में मनुष्य मात्र अपनी पहचान शरीर, मन और अहं के भाव से करता है लेकिन संत दादू ने मैं मेरा से सम्बद्ध आसक्ति से उठकर शुद्ध 'स्व' को ही मूल स्वरूप मानने को बतलाया है[२]।

सहजमार्ग

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया कि 'सहज' का सम्बन्ध आत्म तत्त्व से है अत: जो साधना जड़ से सम्बद्ध न होकर चिन्मुखी है - वह सहज है । इसे पलटू साहब ने 'सहज मार्ग' कहा है और यह भी कहा है कि इसके आविष्कर्ता संत हैं[३]। कबीर साहब ने इसे 'सहज योग' कहा है[४] और दोनों संतों ने इस संदर्भ में कर्मकाण्ड तथा काया-साधना की व्यर्थता को समझाते हुए शुद्ध-चैतन्याश्रित होने का उपदेश दिया है[५]। प्रीति पूर्वक चिन्मुखता आनन्दप्रद हो जाती है और जड़ासक्ति शनै: शनै: समाप्त हो जाती है और अन्त में केवल चैतन्य शेष रह जाता है[६]। इसे सहज भजन (स्मरण) कहते हैं[७]। इस 'सहज स्मरण' के लिए

---

१ दादू द० की बानी, भाग १, जीवन मृतक को अंग - १६

२ वही - १७, ४३ । क० ग्रं० २८।२

३ ---सहज की राह इक संत काढ़ी ।
पलटू सा० की बानी, भाग २, रेखता, ६१

४ अखरावटी, पृ० ८

५ उपर्युक्त पद

६ दा० द० की बा०, भाग २, राग रामकली २०७

७ जगजीवन सा० की बानी , उपदेश का अंग, शब्द ५८ ।

एक भूमिका बनानी पड़ती है और वह भूमिका निर्मल होती है । इसके लिए माया-ममता, कपट-कुटिलता, काम-क्रोधादि मलों का सहज निष्काशन करना पड़ता है[१]। पुन: किसी भूमिका में 'आदि शब्द' अथवा 'निजनाम' की स्थापना करनी पड़ती है जो सहज मुक्ति प्रद है[२]।

शब्द अभ्यास से आध्यात्म का मार्ग प्रशस्त होता है, यह संत पलटू साहब का निज का अनुभव है[३]। इसके पश्चात् सहज-ध्यान की स्थिति स्वत: प्राप्त होती है[४]। फिर 'सहज-धुन' का प्राकट्य हो जाता है, मन और पवन दोनों की स्थिरता प्राप्त हो जाती है, नैष्कर्म्य सिद्धि हो जाती है और विदेह-शब्द का साक्षात्कार हो जाता है[५]।

सूक्ष्म सहज मार्ग

अब तक की चर्चा 'सहज मार्ग' की थी लेकिन संत कबीर ने 'सूक्ष्म-सहज-मार्ग अथवा पंथ' की भी चर्चा 'अनुरागसागर' में की है । सहज मार्ग तक तो क्रियायें शेष रहती है[६] चले ही वे सायास न होकर सहज हो जाती हैं लेकिन 'सूक्ष्म सहज' की स्थिति में न क्रिया रह जाती है न शब्द रह जाता है । यह वह अवस्था है जहां केवल प्रभावपूर्ण अन्तर्जगत का शून्य रह जाता है । इस प्रकाशपूर्ण स्थान में ही आदि पुरुष का निवास है जहां सुरत पहुंचती है और जहां सुरत पहुंचने का कार्य हंस स्वरूप निर्मल आत्म-तत्व का है[६]। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से लगता है कि सहज-मार्ग प्रारंभिक स्थिति की संज्ञा है और सूक्ष्म-सहज उसके आगे वाली स्थिति है ।

---

१ धनी धर्मदास की शब्दावली, मिश्रित का अंग, शब्द १०
कबीर शब्दावली ३, महिमा आदिधाम - शब्द - ७

२ पलटू सा० की बानी - २, रेखता २६,७
रैदासजी की बानी, राग सोरठा, ४२

३ सबद की साच टकसार लाया । पलटू कहै खोलि परदा दिया,
पैठि के भेद हम पैखि आया । प०बा०, रेखता ६४

४ सहज का ख्याल कोई बीतरागी - वही ६५

५ अनुराग सागर, छन्द ६

६ वही, पृ० ६ ।

सहज दृष्टि : अद्वैतानुभूति

सहज के मार्ग का गामी 'सहज दृष्टि'[१] लेकर आगे बढ़ता है जो उसे अद्वैतानुभूति तक ले जाती है । यह अनुभूति दो धरातलों पर होती है - एक तो विचार के धरातल पर दूसरी भावना के धरातल पर । विचार के धरातल पर जब अनुभूति होती है तब नाम-रूप, सुख-दुख, चाह-अचाह तथा मैं-मेरा के भाव का ज्ञान के द्वारा निरोध हो जाता है और अन्त में अद्वैत शेष रह जाता है[२]।

भावना के धरातल पर यह अनुभूति 'आनन्द-पूर्ण-पावन-प्रीति' के द्वारा होती है जहां जीव और ब्रह्म प्रिय और प्रिया की भांति एकत्व दशा की प्राप्ति करते हैं[३]। भाव-मिलन की इस दशा को भी पूर्ण अद्वैत की सीमा में नहीं रखा जा सकता है, इसकी पूर्णता तो सधती है, कीट-भृंगी वत प्रेमलीन पूर्ण समर्पण के पश्चात् जहां लेशमात्र भी द्वैत भाव शेष ही नहीं रह जाता है[४]। और यह भावपूर्ण समर्पण भी सर्वस्व का समर्पण चाहता है जहां 'लोकवेद' से सम्बद्ध सत्कर्म के मोटे अहंकार तथा 'ज्ञान-ध्यान' से सम्बद्ध सभी सूक्ष्म अहंकारों से भी मुक्ति पानी होती है[५]। लेकिन इन अहंकारों से मुक्ति पाना सरल नहीं है, मनुष्य और देवता सभी इस धंधे में पड़े हैं ।इनसे मुक्ति उसे ही मिल सकती है जो अखण्ड रूप से जग रहा है[६] कबीर की यह अखण्ड जागृति की अवस्था गीतोक्त 'या निशा सर्वभूतानाम् तस्यां जागर्ति

---

१ मीरा सा० की बानी - कुण्डलिया, १२

२ चरनदास की बानी - शब्द, १२

३ ----सहजै संगि परसि जग जीवन--- धा०द० की बानी- राग रामकली २०७

४ रैदास जी की बानी - राग असवारी- ४१

५ वही, पद - २

६ ----सुर नर धंधे पाड़्या
निसुबासर जे सोवै नाहीं, ता नर कालि न खाई ।
कहै कबीर गुर परसादैं, सबदैं रहा समाई ।
क० ग्र० - पदावली २११ ।

संयमी से तुलनीय है जिसका सीधा अर्थ है बहिर्मुखता के प्रति उदासीनता और चैतन्य के प्रति निरन्तर उन्मुखता ।

सहज समाधि

यह निरन्तर जागृति ही सहज समाधि है जिसे संत कबीर ने सहजरूप में 'अबमन उलटि सनातन हूवा' के द्वारा व्यक्त कर दिया है[१]। मन जब तक नश्वर जगत में आसक्त है तब तक नश्वर है लेकिन वही मन जब अनश्वर के साथ जुड़ जाता है तो 'तत्'-मय हो जाता है यानी सनातन हो जाता है । इसलिए ही शास्त्रों में कहा गया है कि मन बन्धन और मोक्ष दोनों का कारण है ।

विषयों के प्रति आसक्ति ही सुषुप्ति है और विषय-राहित्य ही जागृति है और इसी निर्विषय स्थिति को कबीर ने सहज-समाधि के रूप में स्वीकार किया है[२]। गीता में भी कहा गया है कि व्यवसायात्मिक बुद्धि (विषयासक्त) समाधि की अवस्था को नहीं प्राप्त कर सकती है । निर्विषयता की स्थिति ही समाधि है[३]। इस प्रकार यह निश्चित हो गया कि सहज समाधि का तात्पर्य अखण्ड जागृति से है और अखण्ड जागृति का तात्पर्य चित्त की अखण्ड निर्विषय अवस्था से है । यह अवस्था भक्तों की 'अकुण्ठमति और अखण्डभक्ति'[४] की अवस्था से तुलनीय है ।

सहज समाधि आध्यात्मिक विकास की परिणति है । आध्यात्मिक विकास की यह प्रक्रिया प्रारम्भ होती है - स्थूल से सूक्ष्म की ओर संचरण से । इस पंचभौतिक शरीर में सबसे स्थूल पृथ्वी तत्व है और सबसे सूक्ष्म आकाश तत्व ।

---

१ क०ग्र० - पदावली - १५

२ सहज समाधि भिली सब छांडै । वही, २०४

३ गीता २।४४

४ रामचरितमानस (मूलगुटका), ६३० ।

इन तत्वों के गुण, स्थूल से सूक्ष्म की दिशा में जाते हैं । पृथ्वी का गुण जल में, जल का अग्नि में, अग्नि का पवन में और पवन का आकाश में विलीन हो जाते हैं और अन्तत: शब्द में मिलने पर सहज समाधि की अवस्था प्राप्त हो जाती है[१]। एक प्रकार से यह स्थिति भी निर्विषयता की ही स्थिति है क्योंकि जब तक शरीर में पंचतत्व के गुणों की प्रधानता है, तब तक उन पर आश्रित इन्द्रियां सक्रिय हैं । गुणों के क्रमश: विलीन होने पर इन्द्रियों के धर्म भी क्रमश: समाप्त होते जाते हैं और अन्त में इन्द्रियां पूर्णरूपेण अपने धर्म से रहित हो जाती हैं । जब तक इन्द्रियों के धर्म हैं, तब तक चित में चांचल्य है, जब इनके धर्म समाप्त हो जाते हैं तो चंचलता समाप्त हो जाती है और चित्त आत्मस्थ हो जाता है । यही स्थितचित्तता ही सहज समाधि है । यह दशा पूर्णरूपेण गीतोक्त स्थितप्रज्ञता की दशा से तुलनीय है जहां कामनाएं समाप्त हो जाती हैं चित्त आत्मस्थ हो जाता है[२]।

इन्द्रियों की अर्थवत्ता तो जगत के संदर्भ में तभी तक है जब तक इन्द्रियां विषय ग्रहण के योग्य हैं । जब विषय रहितता सध जाती है तब जगत के संदर्भ में उनकी अर्थवत्ता समाप्त हो जाती है और उसके बाद इन्द्रियों के अस्तित्व के बावजूद भी इनके गुण आध्यात्मिक मूल्यों के संदर्भ में अर्थवान हो जाते हैं जिसे कबीर ने चलने को परिक्रमा, कर्म को सेवा, सोने को दंडवत, बोलने को नामस्मरण, भोजन-पान को पूजा तथा देखने को ब्रह्मदर्शन कह कर व्यक्त किया है[३]।

भक्ति

सहजवादी स्थितियों से गुजरने वाली यह साधना प्राणवान बनी रहे इसके लिए भक्ति अनिवार्य है । इस संदर्भ में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

---

१ क० ग्र०, पदावली, १५०

२ गीता २।५५

३ साधो सहज समाधि भली- क०सा० की शब्दावली, विरह और प्रेम, शब्द ३० ।

ने सत्य ही कहा है कि 'अगर निर्भय निशंक भाव से उस आयासलभ्य और साधनागम्य परम प्राप्तव्य को पाना है, तो सुरति को प्रेम-रूपा बनाना होगा'[१]। कहने का तात्पर्य कि ध्यान-साधना के लिए भक्ति की आवश्यकता निर्विवाद है[२]। भक्ति के द्वारा तन्मयता और सरसता की वृद्धि होती है। तन्मयता अथवा एकाग्रता तो किसी भी साधना को उसकी गहराई तक ले जाने के लिए आवश्यक है तथा सरसता से साधना में लगन की वृद्धि होती है यानी साधक सरलतावश उस साधना से जुटा रहा है और उसे ऊब नहीं हो पाती है[३]।

कहने का तात्पर्य यह है कि भक्ति की महत्ता सभी संतों ने सर्व सम्मति से स्वीकार की है तथा भक्ति को परम साधन के रूप में व्यवहार में उतारा है और जिन्होंने इसका आश्रय ग्रहण नहीं किया है उन्हें पश्चाताप करना पड़ता है[४]। संत कबीर ने इसी सन्दर्भ में अगले दोहे में दो बातों को बल देकर स्पष्ट कर दिया है। एक तो यह कि मुक्ति के जितने भी साधन हैं यदि वे भक्ति रहित हैं तो तारने की शक्ति से भी रहित हैं और दूसरी बात यह कि संतों की भक्ति निर्गुण भक्ति है यानी शुद्ध की भक्ति है[५]। आत्मा और परमात्मा प्रेमस्वरूप हैं अर्थात् आत्मा प्रेम के द्वारा ही परमात्म तत्व को आकृष्ट कर सकती है और इस आकर्षण क्रिया को नाम की भक्ति द्वारा सम्पादित किया जाता है[६]। इस स्थान पर यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि सन्तों ने भक्ति, इश्क और प्रेम को समानार्थी-रूप में प्रयुक्त किया है[७]।

---

१ सहज साधना - आचार्य ह० प्र० द्विवेदी, पृ० ७६-७७

२ Japa - M.P. Pandit, page 26.

३ गुरुमत सिद्धान्त - दूसरा भाग, खंड २, भूमिका, पृ० १

४ कबीर साखी संग्रह - भक्ति का अंग, ८

५ वही, पद६

६ सारबचन (छंद) बचन बारहवां- वर्णन महात्मभक्ति का, पृ० १०३

७ वही
कबीर सा० सं० - भक्ति का अंग २१

स्वरूप : सूक्ष्मभक्ति

जैसा कि स्पष्ट है कि संत स्थूल के नहीं बल्कि सूक्ष्म यानी निर्गुण-निराकार के उपासक हैं अत: उनकी भक्ति भी स्थूल न होकर सूक्ष्म है[१]। संत सावण सिंह जी महाराज ने शरीर, मन और आत्मा द्वारा सम्पादित की जाने वाली भक्ति को क्रमश: पशुभक्ति, मानसिक भक्ति और रूहानी भक्ति या आत्मिक भक्ति कहा है। पशु भक्ति तो निचले स्तर की है जो मुख्यरूप से क्रियात्मक होती है। मानसिक भक्ति का स्वरूप चिन्तन-मनन प्रधान होता है। आत्मिक भक्ति के स्वरूप को देखने से लगता है कि यह वस्तुत: सुरत शब्द योग से अभिन्न है और यही सन्तों की अभिप्रेत भक्ति है। यदि संत सावण सिंहजी के शब्दों में कहा जाए तो इस प्रकार कहा जाएगा कि "यह तवज्जह या सुरत को आत्मा के केन्द्र पर एकाग्र करके नाम के साथ जोड़ना है और उसमें मगन हो रहना है जिसमें शारीरिक और मानसिक मण्डलों से सुरत को बिल्कुल हटा लिया जाता है"[२]।

संत सावण सिंह जी के इस विचार का समर्थन संत कबीर की वाणियों से भी हो जाता है। संत कबीर का कथन है कि वस्तुत: भक्ति तो शब्द को सुरत में लीन कर देना[३] और शब्द को समझ लेना ही है[४]। भक्ति तो स्थूल तब होती है जब उसके साथ कामना और कर्मकाण्ड सम्पृक्त हो जाते हैं लेकिन निर्गुण भक्ति कामना और कर्मकाण्ड से रहित होती है और कामना रहित भक्ति ही उत्तम भक्ति होती है[५]।

---

१ क० सा० शब्दावली, पहला भाग - विरह प्रेम - शब्द २१

२ गुरुमत सिद्धान्त - भाग दूसरा, खण्ड २, पृ० २०-२२

३ क० सा० श० - भाग १, पृ० १३

४ वही, पृ० ३७

५ सं० बा० संग्रह - धरमदास, १०२ ।

चरमोत्कर्ष

अत: यह भी कह सकते हैं - संतों में भक्तिभावना अपनी चरम कोटि पर है[१]। दादू दयाल ने भी संतों की भक्तिभावना और उसकी परमोच्च स्थिति को बताने के लिए इनकी भक्ति को अविचल, अविनाशी, अगाध, अलेख, निरंजन और पूर्ण भक्ति आदि विशेषणों से सम्बोधित किया है[२]। और उपर्युक्त भक्ति को विवेचित करते हुए बताया है कि संतों की भक्ति अवतारी राम की नहीं बल्कि निरंजन राम की है जिसे विधिविधान पूर्वक नहीं सहज-भाव से आत्मस्थ होकर किया जाता है। इस भक्ति के आधार स्वरूप राम, सीमा से परे और 'अविगत' है अत: यह भक्ति भी अगाध (असीम) और अलेख है। इसे निरंजन भी कहते हैं इसलिए कि यह निर्गुण से सम्बद्ध है, अंजनता तो तब आती है जब यह गुण की भावना से सम्बद्ध हो जाती है और अन्तत: इस प्रकार की भक्ति को ही पूर्णभक्ति की संज्ञा दे सकते हैं। इनका भगवान् देश-काल-रूप की सीमा से बद्ध न होकर पूर्ण होता है अत: सन्तों की भक्ति अनुत्तर है[३]।

यह सब कुछ कहने का तात्पर्य इतना ही है कि उपर्युक्त भक्ति का कर्ता भक्त वस्तुत: नाममार्गी है और यह नाममार्ग ही आत्म-साक्षात्कार का साधन है, भिन्न मार्ग आत्मघात है[४]। यह भक्तिपूरित नाममार्ग ही जप, अजपा, अनहद, सुरति-निरति आदि सोपानों के माध्यम से उस मुकाम तक पहुंचाता है जहां जाकर पुन: आना नहीं होता है[५]।

---

१ साहित्य सन्देश - सन्त साहित्य विशेषांक (१९५८)
डा० मुरारीलाल उप्रेती - मध्यकालीन संत और भक्त कवियों की मान्यताएं, पृ० १

२ दा० सा० की बानी, परचा को अंग, पृ० ६५

३ वही, अथाहभक्ति - २४४-२४८

४ मलूक दास की बानी, भक्त महिमा- ३
क० सा० सं० - भक्ति का अंग-१३

५ गुलाल सा० बा० - रेखता २
सारी संत ग्रंथ - भक्ति को अंग-४२ ।

भक्ति : सुरतियोग

अब प्रश्न यह है कि यह नाममार्ग है क्या? अत: यहां इतना निवेदन है कि इसकी चर्चा इसके पूर्व हो चुकी है और इसे भली भांति स्पष्ट किया जा चुका है कि शब्द अथवा नाम सुरति शब्द योग का मूल तत्व है जिसको आधार बनाकर यह साधना अग्रसर होती है और जब संत भक्ति के लिए नाम-भक्ति का प्रयोग करते हैं[१] तो इससे उनके मन्तव्य पर स्पष्ट रूप से प्रकाश पड़ता है अर्थात् संतों की भक्ति साधना भी सुरति शब्द की साधना से सम्बद्ध है अथवा अन्तर्भुक्त है ।

जैसा कि पहले यह भी बताया जा चुका है कि उपर्युक्त साधना स्मरण, ध्यान तथा धुन के सोपानों से क्रमश: बढ़ती है । अब यहां यह बताना अभिप्रेत है कि ये सारे सोपान भक्ति-संवलित होकर ही आगे बढ़ते हैं ।

इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम स्मरण का नाम आता है जिसे संत सुमिरन कहते हैं । इस स्मरण प्रक्रिया की चर्चा संत कबीर ने अत्यन्त काव्यमय पद्धति से की है । वे कहते हैं - 'सतनाम' का हल है, स्मरण का बीज है लेकिन पौधा तब उगेगा जब भक्ति साथ चलेगी नहीं तो बीज सूख जाएगा'[२] । इस काकमयी पद्धति का सहारा लेकर संत कवि ने मुख्यत: इस बात पर प्रकाश डाला है कि भक्ति उपर्युक्त साधना की संजीवनी शक्ति है जो उसके प्राण तत्व की रक्षा करती है उसे शुष्क नहीं होने देती है । दूसरी ओर इस बात पर भी प्रकाश पड़ता है कि भक्ति साधना, वस्तुत: स्मरण अथवा सुरति योग से पूर्णतया सुसंपृक्त है ।

---

१ क० सा० सं० - भक्ति का अंग - १३, ३२, ३५

२ वही - ३१ ।

स्मरण से जब एकतानता सधती है तब ध्यान की स्थिति आती है और ध्यान भी बिना भक्ति के परिपक्वावस्था में नहीं पहुंचता है और जब तक ध्यान परिपक्व नहीं होता है तब तक उसमें मुक्त करने की योग्यता नहीं आती है[१]।

ध्यान की प्रगाढ़ता 'धुन' है जिसे संतों की भाषा में कीर्तन भी कहते हैं। इस ध्वनि में अन्तःकरण को भक्ति पूर्वक स्थित करने का कार्य भक्त का है और इस प्रक्रिया को ही सही अर्थों में भक्ति कहा जाता है[२]।

कुल मिला कर कहने का अर्थ यही है कि भक्ति एक आन्तर-प्रक्रिया है इसका सम्बन्ध सुरति से है और यह सुरत साधना ही श्रेष्ठ भक्ति है क्योंकि यह परमेश्वर को प्रिय है[३]।

संत पलटू साहिब ने 'भक्त के लक्षण' की चर्चा करते हुए संतों की भक्ति के स्वरूप पर विशद रूप से प्रकाश डाला है। यह वर्णन इतना स्पष्ट और समृद्ध है कि संतों की भक्ति के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट कर देता है। वे कहते हैं कि यह भक्ति सन्त-सेवा से प्रारम्भ होती है और जिसके परिणाम-स्वरूप भक्ति की भूमिका बनती है अर्थात् चित्त में वैराग्य, नैष्कर्म्य, समदर्शिता और जगत के प्रति अनासक्ति का उदय होता है। तदु-परान्त साधक-भक्त स्थिरासन पूर्वक नामस्मरण, ध्यान और नाद श्रवण का अभ्यास करता है। सुरत-निरत को शब्द से संयुक्त करता है और तुरीया स्थिति की प्राप्ति करता है[४]।

---

१ पानप बोध-भक्ति-मुक्ति - २६, ३०

२ वही, ८, ६

३ वही, ६, ७, १३, १५

४ पलटू साहिब - भक्त के लक्षण - छंद १०३।

अत: अब तक भक्ति के संदर्भ में जो कुछ कहा गया है उसको समेट लिया जाए तो यही कहा जा सकता है कि निर्गुणमार्गी संत निश्चित रूप से भक्त हैं और उनकी भक्ति का स्वरूप निर्गुण-भक्ति है । इन सन्तों की महनीय सुरतशब्द साधना भक्ति से संवलित है, क्योंकि भक्ति-भावना सुरत-साधना के स्रोत में अन्तर्भुक्त है और बिना परमाभक्ति के यह साधना सम्पन्न हो ही नहीं सकती है । इस प्रकार संतों की भक्ति अन्य प्रकार की भक्ति साधनाओं से कई अर्थों में भिन्न और मौलिक है ।

संतों की भक्ति साधना किसी कामनावश नहीं है । इसकी चर-मोपलब्धि तो आत्मस्थिरता में है जिसकी ओर भक्त रैदास ने अपने एक पद में संकेत किया है[१]। उनका कथन है कि भक्ति के द्वारा भक्त और भगवान् में परस्पर प्रीति हो जाती है और दोनों परस्पर आमने-सामने एक दूसरे को देख लेते हैं । वह परमप्रधान तो सबके भीतर है, दिखाई इसलिए नहीं पड़ता कि हमें देखने की विधि की जानकारी नहीं है और यदि उसे देखने की कोई विधि है तो वह भक्ति है । भक्ति की चरमस्थिति में देखना-दिखाना भी समाप्त हो जाता है यानी 'तोरिमोरि' का व्यवधान भी जाता रहता है और एक ही शेष रह जाता है जो सत्य है ।

बाधक तत्व

भक्ति जो साधना के सर्वाधिक प्रभावी विधि है आखिर होती क्यों नहीं है - इस पर भी संतों ने विचार किया है । उनका कहना है कि भक्ति का बाधक तत्व है, आसक्ति । यह आसक्ति मूल रूप में कामनी-कांचन के प्रति है । जब कामिनी-कांचन की प्राप्ति में बाधा पड़ती है तब क्रोध होता है अत: इन भक्ति-विरोधी स्थितियों का दूर करना पहला कर्तव्य है लेकिन

---

१ रैदास जी की बानी - पद १२
कबीर साखी संग्रह - भक्ति का अंग - ३० ।

यह कार्य सबके वश का नहीं है, यह तो कदाचित परमवीर का कार्य है फिर जब यह मुख्य बाधा समाप्त हो जाती है लेकिन इससे एक अन्य सूक्ष्म बाधा रह जाती है, वह है - अहंकार, उस परमप्रिय से अलग अपनी सत्ता का बोध। यह बाधा समाप्त होती है, पूर्ण समर्पण से अर्थात् अहंकार को क्रमशः सूक्ष्म करते करते अन्त में समाप्त कर देने से[१]।

यह जो कुछ घटित होता है, एकाध दिन का विषय नहीं होता है, यह साधना कुछ समय की अपेक्षा रखती है और जब कोई कार्य कुछ समय तक चलता है तो दो बाधाएं आती हैं - एक तो प्रयत्न में कमी तीव्रता, कमी शिथिलता और दूसरे भाव में उतार-चढ़ाव। अतः अशिथिल भाव से प्रयत्न चलता रहे और भाव में एकतानता रहे - यह भी आवश्यक है[२]।

अन्तर्दर्शन

एकतानता पूर्वक, अशिथिलभाव (दृढ़) से की गई भक्ति लक्ष्य, (निज ठाम) तक पहुंचाती है[३]। इस लक्ष्य की चर्चा पुराकाल से 'परमपद' परमधाम', 'सनातन आकाश', 'दिव्य-स्थान', 'धर्ममेघ' आदि नामों से होती आई है[४]। संत कबीरदास ने इस पद को 'परमपद', 'निजपद', 'चौथापद',

---

१ वही, २४, २६, २७

२ वही, २५

३ इस भक्ति दृढ़ावही के अंक बीरा नाम हो
दुष्ट मित्र विन्हायके पहुंचा वहीं निजठाम हो।
अनुराम सागर, पृ० ८२

३ भगवद्गीता
वाल्मीकि रामायण
महाभारत
सिद्धसिद्धान्त पद्धति
क्रमसूत्र
पातंजल योग सूत्र
} तंत्र और संत से, पृ० ३५६।

'अपैपद' आदि संज्ञाएं दी हैं[1]। संत दरिया साहब 'अमर लोक', संत शिवनारायण 'संतदेश' और संत किनाराम साहब 'सत्तलोक' कहते हैं[2]।

अभिधान जो भी हो गन्तव्य एक ही है। इस निर्वाणपद (पदनिर्वाना) तक पहुंचने के लिए तन-मन के शोधन के पश्चात् पिण्डस्थ अष्ट केन्द्रों को जागृत करना पड़ता है[3]। इन आठ चक्रों का एक संक्षिप्त वर्णन अनुराग सागर में प्राप्त होता है। इन चक्रों को कमल भी कहते हैं जिनमें पहले को 'मूलकमल' कहते हैं, यह चार दल वाला है, इसके देवता गणेश हैं जो विद्या-गुण के दाता हैं। इस चक्र को जागृत करने के लिए छः सौ अजपा-ध्यान की आवश्यकता होती है। इसके ऊपर षट-दल-कमल है, जहां ब्रह्मा-सावित्री का निवास है इसके निमित्त षट्-सहस्र अजपा अपेक्षित है। नाभि-स्थान में अष्ट-दल कमल है जहां के देवता लक्ष्मी-नारायण हैं, यहां भी जागृति के लिए षट्सहस्र अजपा की आवश्यकता है लेकिन इस केन्द्र का जागरण बिना गुरु की सहायता के नहीं हो सकता है। इसके अनन्तर द्वादश-दल का स्थान है। इसके निमित्त भी षट्-सहस्र अजपा अपेक्षित है और यह स्थान भी गुरु-ज्ञान-गम्य है। इसके ऊपर एकसहस्र अजपावाला षोड़श-पत्र कमल है जो जीव का स्थान है। भंवरगुफा नाम का केन्द्र दो दलों का है, यह मन का केन्द्र हैं और इसके जागरणार्थ एक हजार अजपा आवश्यक है। सुरतिकमल सतगुरु का केन्द्र है जहां अजपा का प्रकाश है जिसके जागरण के लिए १६७२० जप अपेक्षित हैं। यहां ईश्वर का निवास है। अन्तिम दो दलों वाला शून्य स्थान है जो निरंजन का केन्द्र है और जहां झिलमिल ज्योति जलती रहती है[4]।

---

१ कबीर ग्रन्थावली - १५०
संत बानी संग्रह - भाग १, पृ० १२३

२ किनाराम की राम गीता, १६ गुरु अभ्यास, दरिया साहब की बानी

३ ज्ञान गूदड़ी, २४-२६।

४ अनुराग सागर, पृ० ८२।

उपर्युक्त वर्णन को ध्यानपूर्वक देखने से कुछ और बातें सामने आती हैं, एक तो यह कि क्या मात्र एक निश्चित संख्या तक की अजपा गणना से ये चक्र जागृत हो जाते हैं, तो यहां द्रष्टव्य है कि संत कबीर ने जप नहीं, अजपा कहा है जिसका तात्पर्य यह है कि उतने काल की परम एकाग्रता जितने काल में उतनी गणना पूरी होती है, उन चक्रों को जाग्रत करने की शक्ति रखती है। दूसरी बात यह कि जप अथवा शब्द की व्याप्ति भंवर गुफा तक ही है। उसके अनन्तर सुरतिकमल के स्थान पर प्रकाश प्रकट होता है और शब्द के साथ चलता है लेकिन अन्तिम लक्ष्य शून्य-स्थान तक जाकर शब्द, प्रकाश में विलीन हो जाता है और यहां मात्र प्रकाश की सत्ता ही शेष रह जाती है।

संत कबीर के नाम से इस विषय से सम्बद्ध एक और पद मिलता है[१]। जिसका स्वरूप इस प्रकार बनता है -

९ - अनामी (ब्रह्माण्डपार)
८ - अगम
७ - अलख
६ - सत्यलोक
५ - भंवरगुफा - सोहम् (मुरली)
४ - महाशुन्न - नि:अक्षर
३ - शुन्न - रंकार - षट्दल
२ - त्रिकुटी - ओंकार - चतुर्दल
१ - तिल

उपर्युक्त क्रम को देखने पर पता लगता है कि शब्द की गति शून्य तक है उसके बाद 'नि:अक्षर' स्थिति है अथवा शब्द की गति नहीं है।

---

१ संत बानी संग्रह - कबीर शब्दावली, भाग २, पृ० ५५।

'नि:अक्षर' स्थिति परम तत्व की स्थिति है[१]। यह सार शब्द की स्थिति है जो सत्यपुरुष की साधक है[२]। जो भी हो लेकिन स्पष्ट है कि शब्द की गति शून्य तक है फिर 'नि:अक्षर' स्थिति है फिर सोहम् है लेकिन इस संदर्भ को देखने से लगता है कि यह सोहं शब्द के जप की नहीं, 'सोअहं' भाव के अनुभूति की स्थिति है। इसका संकेत इस बात से भी होता है कि यहां मुरली के नाद का ही जिक्र है किसी शब्द का नहीं। अगले केन्द्र शब्द और नाद से परे हैं इनके सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं गया है अत: अनिवर्चनीय है।

कबीर साहब की शब्दावली (पहला भाग) में भेद बानी के अंतर्गत एक शब्द आया है जिसे डा० बड़थ्वाल प्रक्षिप्त मानते हैं तथा यह भी कहते हैं कि यह वर्णन गरीबदास के निम्नस्तर वाले अनुभव और शिवदयाल के उच्च श्रेणी के अनुभवों का संश्लिष्ट रूप है[३]। इसमें अन्तर्दृष्टि अथवा दिव्यदृष्टि का एक व्यापक वर्णन है[४]। इस वर्णन का साम्य सारवचन राधास्वामी में वर्णित हिदायतनामे से आत्यन्तिकरूप में साम्य रखता है। इस विशद वर्णन के पूर्व वाले 'शब्द' में संत कबीर ने 'सतलोक' चलने का आदेश दिया है जहां जाकर फिर आना नहीं होता है[५]। उसके अनन्तर सतलोक तक पहुंचने के सम्पूर्ण मार्ग का पूरा खाका है। इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है अत: प्रमाणरूप में इसका उपयोग उचित नहीं लगता है।

---

१ 'मुक्तिप्रकाश'- मोहन पति साहब - भूमिका, पृ० ६

२ कबीर और उनका पंथ - पृ० २३४

३ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय - डा० बड़थ्वाल - पृ० २५५ तथा २६१

४ कबीर साहेब की शब्दावली - भेदबानी- शब्द २२

५ आगे धाम अखंड सो पद निर्वान है
पूख नींद वहं नाहिं निअच्छर नाम है।
कहें कबीर पुकारि सुनो मन भावना
हंसा चल सतलोक बहुरिनहिं आवना।

क०शा०श० - भेदबानी, २१।

संत दरिया साहब की एक रचना ब्रह्म चैतन्य है जिसमें रूहानी चढ़ाई का वर्णन है । दरिया साहब के अनुसार यह यात्रा पिण्ड से ब्रह्मांड तक की है । इस 'विहंगम योग' में सुरति नेत्र के अष्टदल कमल से अपना प्रस्थान आरम्भ करती है । इस कमल के सूचीद्वार से वह ब्रह्माण्ड में प्रवेश कर जाती है । यहां 'त्रिवेणी' में स्नान करती है । आज्ञाचक्र के बाद ही त्रिवेणी घाट आता है । यहां इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा का मेल है । आज्ञाचक्र गगन का ताला है । पिण्ड और ब्रह्माण्ड का जुटाव यहां पर है । यही दशम द्वार है । पिण्ड में नव द्वार हैं - ब्रह्माण्ड में दशम । यहां से सहस्रदल कमल में होती हुई सुरति बंकनाल द्वारा भंवर गुहा में जाती है । प्राण संगलीकार की भांति दरिया साहब भी मानते हैं कि इस (सहस्र-दल) कमल का नाम श्याम-श्वेत भी है । यह निर्मल देवस्थान नभपुर में है । तीसरा तिल (दृष्टि-शिव नेत्र) ठीक इसी के नीचे है । इसकी ज्योति नीलाभ[३५] है । जब सुरति सहस्रदल कमल में प्रविष्ट होती है तब इष्ट वस्तु आंखों में बस जाती है और तब त्रिकुटी के मण्डल में प्रवेश होता है । शून्य में पहुंची हुई सुरति के समक्ष नैर्मल्यरूप दर्पण रहता है । इसमें अलख की छाया पड़ती है । शून्य के आगे घुंधकार है । वही स्थल सूक्ष्म रचना का बीज है । इसके बाद भंवर गुफा है जो सच खण्ड की ड्योढ़ी है । इस खण्ड में 'निराकार' का वास है और उसके ऊपर 'अकह लोक', 'अपरंपार' और 'अवाच' है । अकह लोक का शब्द ऐसा जान पड़ता है - जैसे जल का शब्दायमान वेग । यह शब्द एक अकह दशा में उड़ाकर ले जाता है जहां 'अगम' नगरी है । सुरति, निरति, मन और प्राण को एकाग्र करके शून्य मण्डल में जाने पर शब्द सुनाई पड़ता है । इसका स्थान भंवर गुहा में है - जो ब्रह्माण्ड पार है । ध्वनि से शब्द प्रकट होता है फिर वहीं लय हो जाता है । शब्द गुरु है और ध्वनि सद्गुरु[१] ।

---

१ ब्रह्म चैतन्य - दरिया साहब के आधार पर, तंत्र और संत से उद्धृत, पृ० ३८९-३८३ ।

महात्मा गरीबदास जी ने मूलकमल, स्वादचक्र, नाभिकमल, हृदय कमल, कंठकमल, त्रिकुटीकमल और सहस्रकमल में सर्वत्र राम का ही प्रकाश देखा है और मात्र राम शब्द से क्रमशः सबका जागरण सम्भव माना है[१]। लेकिन 'ब्रह्मवेदी' में ये परम्परागत बीज मंत्रों के जप का विधान दिया है किंतु इन शब्दात्मक बीज मंत्रों की गति हृदय कमल तक ही है[२] जिसका तात्पर्य यह हुआ कि शब्दों की भौतिक सत्ता उन केन्द्रों तक ही है जिनका संबंध भौतिकता से है किन्तु त्रिकुटी और सहस्रकमल के केन्द्र जो अभौतिक जगत से सम्बद्ध हैं, वहां पूर्ण सद्गुरु और साहब का सूक्ष्म स्वरूप विद्यमान है। सद्गुरु और साहब की परिव्याप्ति के लिए संत गरीबदास ने फूल के गन्ध की सूक्ष्मता और व्याप्ति के उदाहरण को रखा है[३]।

संत शिवदयाल को डा० बड़थ्वाल ने कहा है कि ये संत, अतिमात्रा दल वाले हैं और ऐसे कतिपय संत और हैं। ये संत, त्रिकुटी और आज्ञाचक्र को पृथक मानते हैं और सहस्रदल को उसके नीचे रखते हैं[४]। डा० बड़थ्वाल ने गरीबदास और शिवदयाल के विवरणों की एक संयुक्त तालिका दी है[५]। इसे देखकर कतिपय निष्कर्षों पर पहुंचा जा सकता है।

प्रथम निष्कर्ष तो यह है कि ये चक्र क्रमशः ऊपर की दिशा में सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते गए हैं। दूसरी बात यह है कि चक्र १ से ५ तक के मंत्र अपने अपने स्थूल शब्दात्मक रूप में हैं। तीसरा तथ्य यह है कि ६ से ११ तक के चक्रों में मंत्रों की शब्दात्मक सत्ता का नादात्मक स्वरूप भी प्रकट होता है

---

१ गरीबदास की बानी - सुमिरन का अंग - पद १५-१६।

२ वही, ब्रह्मवेदी - पद २-७

३ वही- ८

४ हि० का० नि० स० - पृ० २५६

५ वही, पृ० २५५
ब्रह्मवेदी - पद २-७
सारवचन - बचन इक्कीसवां- हिदायतनामा।

और अन्त में १२ से १६ तक शब्द, नाद और वर्ण सबकी सत्ता विलीन होकर चक्रस्थित देवतामय हो जाती है। अन्तिम चक्र अकह लोक ही राधास्वामी का स्थान है। यही संतों का अन्तिम लक्ष्य है और वर्णन से परे है। तालिका इस प्रकार है -

क्रम संख्या	चक्र	दल	धनी (अधिदैव) व उसकी सिद्धि	शब्द	ध्वनि	वर्ण	वक्तव्य
१	मूलाधार (मूल)	४	गणेश, ऋद्धि सिद्धि	बलीं	-	लाल	
२	स्वाधिष्ठान (स्वाद)	६	ब्रह्मा व सावित्री	ऊं	-	-	
३	मणिपुर (नभि)	८	विष्णु व लक्ष्मी	हुं	-	श्वेत	
४	अनाहत (हृदय)	१२	शिव गौरी	सो हम् (प्रणव)	-	-	
५	विशुद्ध (कंठ)	२	निरंजन व अविद्या	श्रीं	-	नीली	वैतरणी का पार करना तथा त्रिवेणी के गर्भ में उतर जाना।
६	सहस्र कमल	१०००	निरंजन ज्योति	-	शंख व घंटिका स	-	शाकिनी, डाकिनी तथा काल के दूत भय दिखाते हैं। किंतु 'सतनाम' का उच्चारण उन्हें भगा देता है।
७	त्रिकुटी	४	महाकाल	ओंकार	मृदंग ध्वनि व मेघ गर्जन	लाल सूर्य-प्रकाश	यहां पर अमृत का उलटा हुवा कुंआ वर्तमान है।

८ सुन्ना	६ अष्टार ब्रह्म	रंकार	वीणा सारंगी	द्राक्षा सूर्य का प्रकाश	यहां पर उस दशम द्वार से होकर प्रवेश होता है जिसे योग में ब्रह्मरंध्र कहते हैं
९ महासुन्न	८ पारब्रह्म १२ अर्चित दक्षिण में दसदल सहज बायीं ओर	-	-	-	पांच अण्ड व पांच अष्टार ब्रह्म चार गुप्त स्थान जहां पर पुरुष की शासित आत्माएं बन्दी रूप में रहती हैं ।
१० भंवर गुफा	- सो हं पुरुष	सोहम्	मुरली	-	८८ द्वीप जहां के महलों में हीरा व बहुमूल्य पत्थर जड़े हुए हैं।
११ सत्यलोक	- सत्यपुरुष	सत्यनाम	वीणा	-	पुरुष के एक बाल की बराबरी लाखों सूर्य और चंद्र भी नहीं कर सकते । आत्मा यहां पर १६ सूर्यों का प्रकाश प्राप्त कर लेती है ।
१२ अलखलोक	- अलख पुरुष	-	-	-	उसके एक बाल की बराबरी करोड़ों सूर्य भी नहीं कर सकते
१३ अगमलोक	- अगमपुरुष	-	-	-	उसके एक बाल के सामने अरबों सूर्य भी लज्जित होते हैं
१४ अकह लोक	- अनामी पुरुष	-	-	-	केवल वही उसे जानता है जो वहां पहुंच पाता है ।

हि० का० नि० सम्प्रदाय से उद्धृत ।

दिव्यानुभूति

अन्तर्दर्शन की पूर्वोक्त स्थितियों से जो गुजरता है उसकी अन्तर्दृष्टि जग जाती है, उसकी अतिचेतना का उदय हो जाता है और उसका रूपान्तरण हो जाता है। ऐसा साधक आध्यात्मिक अनुभूति की सर्वोच्च भूमिका को प्राप्त कर लेता है। उसे कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता है, ऐसा संतों की वाणियों से पता लगता है[१]।

यह जो परमोच्चस्थिति है, क्या है; उसका स्वरूप क्या है - इस विषय में संत या तो मौन हैं[२] अथवा जो कुछ कहा है उसे भी प्रतीक अथवा संकेत की भाषा में कहा है जिसे पढ़कर भी उसका ठीक ठीक वही अनुमान लगाना सामान्य आदमी के लिए नितान्त असम्भव है जो संतों का अभिप्रेत अथवा अनुभूति है।

अनुभूति की यह परमोच्च अथवा दिव्य स्थिति 'आत्म-अनुभव' की स्थिति है जो अनिवर्चनीय है और यह अनिवर्चनीयता कई कारणों से है -

१) अनुभव कर्ताओं के पास अभिव्यक्ति के साधन नहीं हैं[३]
२) सुनने अथवा पढ़ने वालों के पास ग्रहण की क्षमता नहीं है[४]
३) समानधर्मा ही परस्पर के संकेतों की अनुभूति कर सकते हैं[५]
४) कथन का विषय ही नहीं है - मात्र अनुभव का विषय है[६]

---

१ धनी धरमदास की शब्दावली - भेद का अंग - शब्द १

२ 'उसको पाकर सभी संत चुप हो गए और मैं भी अब चुप होता हूँ'।
सार वचन- हिदायतनामा- १७७

३ कबीर साखी संग्रह- अनुभव ज्ञान का अंग - १

४ वही- २

५ वही- ३,४

६ वही- ५,६,७,८।

इतना कहा जा सकता है कि ऐसे साधक का अस्तित्व उस परमसत्ता के बोध से ओत-प्रोत हो जाता है, उसे अपने अन्तःकरण के भीतर और बाहर सर्वत्र एक ही सत्ता की प्रतीती होने लगती है, उससे भिन्न उसके लिए कुछ भी नहीं रह जाता है[१]।

लेकिन इस दिव्य-दर्शन के लिए जगत के प्रति अंधा बनना पड़ता है, उसके बाद उसके भीतर की आंख खुलती है और वह आंख ब्रह्म का दर्शन करती है[२]। उपर्युक्त अनुभव सूक्ष्म का अनुभव है अतः उसके साधन भी सूक्ष्म हैं यही कारण है कि इस दिशा में बढ़ने के लिए सभी स्थूल का परित्याग अत्यावश्यक है[३]।

ऐसा साधक एक ओर तो जगत से एकदम टूट जाता है लेकिन दूसरी ओर वह उस परम सत्ता से नितान्त क्षेपण जुट जाता है और यह जुटना एक प्रकार से उसके अस्तित्व का विलय ही होता है, सच तो यह है कि इसे जुटना भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि जुटने की क्रिया तो स्थूल जगत में होती है सूक्ष्म जगत में तो विलय की क्रिया ही सम्भव है। इस परिपूर्ण विलय को जल में जल अथवा जल में लवण के विलय की उपमा के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न संतों ने किया है[४]।

जल में जल के विलय से दो दशाओं की अभिज्ञता होती है एक तो परिपूर्ण-विलय की जहां द्वैत शेष ही नहीं रह जाता है लेकिन दूसरी ओर जल की शीतलता के द्वारा परमशान्ति की ओर भी संकेत है।

---

१ दा० सा० बा० - परचा को अंग - ७४-७७

२ वही, ३६, ४०

३ वही, ४१, ४२, ३०५

४ वही, ४६-४७, १६१-१६७

क० सा० सं० - परिचय का अंग ५ १०-१३।

जल में जल के विलीनीकरण से भी अधिक सूक्ष्म स्थिति है प्रकाश में प्रकाश के विलय की । यह विलय इस ओर भी संकेत करता है कि साधक व्यष्टिदशा को त्याग समष्टि-चैतन्य को प्राप्त कर लेता है । उसके उपरांत वह परमज्ञान की परमोच्च दशा को भी प्राप्त कर लेता है जहां पहुंचकर उसके समस्त संशयों और भ्रमों का परिपूर्ण निवारण हो जाता है[१]। लेकिन ध्यान रहना चाहिए, यह प्रकाश सामान्य नहीं अलौकिक है अत: इसकी अलौकिकता को बताने के लिए इसे तेज का दीपक, करोड़ों सूर्य का प्रकाश, अनन्त तेज और बिना सूर्य, चन्द्र तथा तारों के प्रकाश का होना आदि कहा गया है[२]। इस परम प्रकाश को परमज्ञान तो कहा ही गया है, परमानंद भी कहा गया है[३]। अत: इसका अर्थ यह हुआ कि यह अलौकिक अनुभूति सत् चित आनन्द की त्रिपुटी की एकत्र अनुभूति है ।

व्यष्टि दशा से समष्टि दशा में संक्रमण और उसकी प्राप्ति वस्तुत: आत्मविस्मृति की स्थिति है, जहां अंश अंशी को पाकर तन्मय हो जाता है तथा काल की सीमा से परे हो जाता है, मुक्त हो जाता है[४] । इसे दूसरे शब्दों में अद्वैतानुभूति भी कह सकते हैं[५]।

संतों ने इस स्थिति को 'सतपुरुष' का देश कहा है जो द्वन्द्वातीत और अविकारी है जहां पहुंच कर जीव का रूपान्तरण हो जाता है अर्थात् वह अपनी मूलदशा की प्राप्ति कर ब्रह्मभावापन्न हो जाता है[६]। यह परमपद है जहां पहुंचकर फिर कहीं जाना नहीं होता है और जिसे पाकर परम शान्ति की प्राप्ति हो जाती है[७]।

---

१ क० सा० सं० - परिचय का अंग - १४
२ दा० द० की बानी - परचा का अंग- ८७-९०, १०३-१०६
क०सा०सं० - परिचय का अंग - ४,३२
३ वही, १०७, ५, ६, १६, ८४, ८५, २५६
४ वही, ३४०
५ वही, ३०९-३१०
६ क०सा० सं० - परिचय का अंग - ५, ६
७ वही, ३८, ५५ ।

चतुर्थ अध्याय

रहस्याभिव्यक्ति

जिज्ञासात्मक रहस्य भावना

संत कवियों ने स्वानुभूत रहस्यतत्व को जिज्ञासा, लौकिक तथा श्रृंगारिक रूपकों एवं प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है । जानने की इच्छा ही जिज्ञासा है जो कुछ अज्ञात है उसे जानने की इच्छा से रहस्यवृत्ति का प्रारम्भ होता है, उस वृत्ति की पुष्टि के लिए जो भावात्मक-विचारात्मक अथवा साधनात्मक प्रयत्न होते हैं, उनसे रहस्यभावना अथवा वाद का उदय होता है । कहने का मतलब कि रहस्यवाद के क्षेत्र में जिज्ञासा का कम महत्त्व नहीं है क्योंकि यह वृत्ति वह उत्स है, जहां से रहस्य जन्म लेता है ।

प्रकृति की शक्तियों को केन्द्र बनाकर चलने वाली वैदिक साधना के साधकों में जब यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि हम अपना हविष्य किसे दें[१] - प्रकृति की शक्तियों को अथवा इन शक्तियों के कारण परमतत्व को ? यहीं से रहस्यभावना का लिखित रूप में प्राप्त प्रारम्भ, माना जा सकता है ।

उपनिषदों में इस सूक्ष्म-भावना का विस्तार मिलता है क्योंकि उपनिषद - विचार का प्रकाशन ही जिज्ञासा तत्व पर आधारित है । कठोपनिषद् में नचिकेता ने यम से अग्निविद्या[२], जन्ममृत्यु रहस्य[३] और नाम

---

१ कस्मै देवाय हविषा विधेम

२ कठ - १।१४

३ कठ - ७६।२०

साधना अथवा ऊं कार रहस्य[१] पर प्रश्न पूछा है । उसी प्रकार प्रश्नोपनिषद् में कबन्धी, भार्गव, अश्वलायन, सौर्यायणी, सत्यकाम और सुकेशी ने क्रमश: नानारूपात्मक जीवों के कर्ता, प्रजा को धारण करने वाले देवता, प्राण का आवागमन, क्षरीस्थ देवता, ऊं कारोपासना और पुरुष आदि विषयों पर प्रश्न पूछे हैं[२]।

कालान्तर के सिद्ध-साहित्य और नाथसाहित्य मो जिज्ञासातत्व से भरपूर दीखते हैं । कणेरी और नागार्जन के प्राणसम्बन्धी प्रश्नोत्तर[३] अथवा गोरखनाथ की मत्स्येन्द्रनाथ, गणेश, दत्त और महादेव से गोष्ठियां इस वृत्ति की उत्तम उदाहरण हैं[४]।

संत साहित्य में जिज्ञासा के जो तत्व मिलते हैं वे नाथों के अधिक निकट हैं क्योंकि इन दोनों सम्प्रदायों में मूल जिज्ञासाएं साधना सम्बन्धी हैं और उनके उत्तर भी साधना परक हैं ।

उदाहरण के लिए एक शिष्य द्वारा पूछा गया प्रश्न और संत दादू द्वारा दिया गया निम्नलिखित उत्तर पूर्ण साधना का परिचय देने वाला है।

शिष्य काया, आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रस्तुत करता है[५]।

गुरु यद्यपि संक्षिप्त उत्तर देता है लेकिन उसमें अनेक विचार एक एकत्र समाहित हैं । संत दादू का कथन है कि देहस्थ जीव इन्द्रियों और गुणों के अधीन हैं, उन पर मन का शासन है और वे अहंकारयुक्त हैं ।

---

१ कठ - ६५।१७

२ प्रश्न - १४४-३, १५४-१, १६१-१, १६८-१, १७७-१, १८२-१

३ सिद्धसाहित्य - डा० धर्मवीर भारती - ३६६

४ गोरखवाणी, पृ० २००, २२७, २३२, २३५

५ डा० द० बानी - परचा को अंग - १२७ ।

आत्मस्थ ज्ञानी जीव विश्वास पूर्वक ध्यान परायण होते हैं। उनके जीवन में शील, संतोष और तप का प्राधान्य होता है। भाव-पूर्ण-भक्ति से उनकी साधना संवलित होती है।

आत्मस्थस्थिति से ऊपर उठे हुए जीव निराकार-निरंजन ब्रह्म का ध्यान शून्य में करते हैं, जो परम प्रकाशमय है[१]।

यदि इसे और स्पष्टरूप से कहा जाए तो यही कहना होगा कि संक्षिप्त उत्तर में संत दादू ने संपूर्ण सुरत्शब्दयोग की साधना रख दी है। सुरतशब्दयोग के तीन सोपान हैं - सुमिरन, ध्यान और धुन। मनोयोग पूर्वक स्मरण, आत्मस्थ ध्यान और उससे ऊपर उठकर ब्राह्मीभाव में लीनता यही इस कथन का मूलाशय है।

इसी प्रकार संत कबीर ने भी जिज्ञासुओं की जिज्ञासाओं को रखकर उनके समाधान प्रस्तुत किए हैं और इन उत्तरों के द्वारा सरल, स्पष्ट और संक्षिप्तरूप में गूढ़ विषयों पर प्रकाश डाला है।

संत कबीर का कहना है कि तृष्णा ही आवागमन का कारण है। तृष्णा का आश्रयमन है। मन में जिस प्रकार की तृष्णा का प्राबल्य होता है मरणोपरान्त उसी प्रकार का शरीर मिलता है। जीवित दशा में इसका विशेष स्थान नेत्र होता है और शेष इन्द्रियों के माध्यम से यह कार्यशील होता है[२]।

जगत के व्यवहार में पड़कर मन मलिन हो जाता है जिसे शुद्ध करने के उपरान्त ही साधना का मार्ग प्रशस्त होता है। नामस्मरण के द्वारा ही इसे परिशुद्ध किया जा सकता है[३]।

---

१ दा० द० बानी - परचा को अंग - १२८

२ सद्गुरु कबीर की साखी - परिशिष्ट प्रश्नोत्तर को अंग - २१, २६

३ वही, १५-१७।

स्मरण के लिए नाम अथवा शब्द का आश्रय लेना पड़ता है लेकिन यह शब्द व्यवहार दशा में प्रयुक्त होने वाला शब्द नहीं है, यह तो आंतरिक शब्द है जिसे सारशब्द अथवा सकल शब्द कहते हैं । इस शब्द का स्मरण सुरति के द्वारा होता है । यह शब्द नाभि कमल से उठता है और शून्य में विलीन हो जाता है[१]।

स्मरण की प्रगाढ़ावस्था ध्यान है । ध्यान मूलत: अन्तर्चैतन्य का विषय है । निर्गुण ध्यान, गगन अथवा ब्रह्माण्ड में होता है[२]।

ध्यान के उपरान्त जो स्थिति आती है वह ब्राह्मी स्थिति है । इस स्थिति में जीव ब्रह्मभावापन्न रहता है और सुरति के द्वारा सद्रूप हो जाता है[३]।

लौकिक तथा अलौकिक प्रतीकादि माध्यमों से अभिव्यक्त रहस्यतत्व

अनुभूति और अभिव्यक्ति के दो भिन्न भिन्न धरातल हैं । सामान्य व्यवहार दशा में प्राप्त अनुभूतियों की अभिव्यक्ति तो सरल कार्य है लेकिन उसमें भी अन्तर पाया जाता है । एक व्यक्ति जिसकी अभिव्यक्ति क्षमता अधिक है वह अधिक स्पष्टरूप से किसी विचार को रख सकता है, अपेक्षाया उस व्यक्ति के जिसकी अभिव्यक्ति क्षमता कम है लेकिन सामान्य अनुभूतियों से परे असामान्य अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का कार्य अत्यन्त कठिन है । "मन वाणी से अगम अगोचर अनुभूतियां जिन्हें पाने वाला ही जानता है", जब अभिव्यक्ति मांगती हैं तो मन, बुद्धि और वाणी के पैर लड़खड़ाने लगते हैं, लेकिन इसके बावजूद भी इस प्रकार की अनुभूतियों को अभिव्यक्ति अथवा वाणी देने का कार्य किया गया है और जब कभी ऐसे प्रयत्न हुए हैं तो अभिव्यक्तिकर्ता

---

१ सद्गुरु कबीर की साखी - १०, ६

२ वही, ३५

३ वही, ५१

को प्रतीक, रूपक और उपमादि का सहारा लेना पड़ा है । संतों द्वारा प्राप्त अनुभूतियां भी असामान्य अनुभूतियों की ही कोटि में हैं । उन्हें संत कवियों ने वाणी दी है और निश्चित रूप से इन सूक्ष्म अनुभूतियों को वाणी देने के प्रयास में उन्हें प्रतीक, रूपक तथा उपमादि का सहारा लेना पड़ा है ।

अब उपर्युक्त कथन के बाद यह आवश्यक हो जाता है कि यह विचार किया जाए कि संतों ने किन किन विषयों की अनुभूति की है और किस प्रकार उन्हें अभिव्यक्ति प्रदान की है, लेकिन इसके पूर्व यदि प्रतीक रूपकादि पर भी किंचित विचार कर लिया जाए तो अनुचित नहीं होगा ।

प्रतीक वाद

साहित्य के जगत में 'प्रतीक' वाद के रूप में फ्रांस में १८८५ ई० में आया । प्रतीकवाद की स्थापना 'फिगरो' पत्रिका के माध्यम से हुई । इसके संस्थापकों में वादलेयर, रिम्बो तथा मलार्मे आदि प्रमुख थे ।

'प्रतीकवाद की परिभाषा करते हुए शिप्ले महोदय ने लिखा है कि यह एक संदर्भ के यथार्थ को उसके अनुरूप दूसरे संदर्भ के यथार्थ के रूप में प्रस्तुत करता है । इसे यदि भारतीय काव्य शास्त्र की शब्दावली के माध्यम से स्पष्ट किया जाए तो कहा जा सकता है कि यह अप्रस्तुत के माध्यम से प्रस्तुत को व्यक्त करने पर बल देता है'[१] ।

'प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य (अथवा गोचर) वस्तु के लिए किया जाता है, जो किसी अदृश्य (अगोचर या अप्रस्तुत) विषय का प्रतिविधान उसके साथ अपने सादृश्य के कारण करती है । अथवा कहा जा

---

१ हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, डा० गणपतिचन्द्र गुप्त, पृष्ठ ७६२ ।

सकता है कि किसी अन्य स्तर की समानुरूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु प्रतीक है । अमूर्त, अदृश्य, अश्रव्य, अप्रस्तुत विषय का प्रतीक प्रतिविधान मूर्त, दृश्य, श्रव्य, प्रस्तुत विषय द्वारा करता है । जैसे अदृश्य या अप्रस्तुत ईश्वर देवता अथवा व्यक्ति का प्रतिनिधित्व उसकी प्रतिमा या अन्य कोई वस्तु कर सकती है । साधारण तौर से कहा जा सकता है कि प्रतीकों के माध्यम से किसी विषय का प्रतिविधान करना प्रतीकवाद है"[१]।

विश्व कोश के अनुसार, 'प्रतीक मानस प्रत्यक्ष और कल्पना के क्षेत्र में आने वाले विचारों, भावों और अनुभूतियों के गोचर संकेत या चिन्ह हैं"[२] ।

विश्व कोश (विद्वानिका) के अनुसार, 'प्रतीक वह दृश्य पदार्थ है जो कि अदृश्य पदार्थ का प्रतिनिधित्व करता है जिसकी अनुभूति तो होती है लेकिन जिसका प्रत्यक्ष नहीं होता है"[३]।

प्रो० दौम ने प्रतीक शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए प्रतीक को एक पदार्थ माना है जो अपने मूल पदार्थ में पहुंच सके, अथवा एक मुख्य चिन्ह माना है जो मूल का परिचायक है[४]।

पं० बालगंगाधर तिलक ने वेदान्त के आधार पर प्रतीक की परिभाषा देते हुए निष्कर्ष दिया है कि, 'प्रतीक (प्रति + इक) का धात्वर्थ यह है - प्रति अपनी ओर, इक = झुका हुआ, अब किसी वस्तु का कोई एक भाग

---

१ हिन्दी साहित्य कोश - ४७१

२ Encyclopaedia Religion and Ethics - Vol.XII, page 139
हिन्दी संतकाव्य में प्रतीक विधान - देवेन्द्र आर्य से उद्धृत, पृ० १८

३ Encyclopaedia Britunica, Vol. V, XXVI, page 284.

४ छायावाद के गौरव चिन्ह - प्रो० दौम, पृ० २२७ ।

पहले गोचर हो और फिर आगे उस वस्तु का ज्ञान हो, तब उस भाग को प्रतीक कहते हैं[१]।

सन्त साहित्य के मूर्धन्य आचार्य पं० परशुराम चतुर्वेदी ने प्रतीक को काफी स्पष्टरूप से परिभाषित किया है। उनका विचार है कि, प्रतीक से अभिप्राय किसी वस्तु की ओर इंगित करने वाला न तो संकेतमात्र है और न उसका स्मरण दिलाने वाला कोई चिह्न या प्रतिरूप ही है। यह उसका जीता जागता स्वयं पूर्ण क्रियाशील प्रतिनिधि है जिस कारण इसे प्रयोग में लाने वाले को उसके व्याज से उसके उपयुक्त सभी प्रकार के भावों को सरलतापूर्वक करने का पूरा अवसर मिल जाया करता है। ऐसे प्रतीकों का प्रयोग अपनी भाषा में केवल किन्हीं चमत्कारों द्वारा अधिक क्षमता लाने के उद्देश्य से भी नहीं किया जाता और न इससे उसमें उचित वैचित्र्य का ही समावेश कराया जाता है। सादृश्यमूलक दीख पड़ने के कारण इसे कभी कभी उपमानों का स्थान दे दिया जाता है जो उचित नहीं है, यह उससे कहीं अधिक व्यापक है[२]।

कुल कहने का तात्पर्य यही है कि प्रतीक किसी पदार्थ भाव अथवा विचार का प्रतिनिधि है। यह प्रतिनिधि उस भाव, विचार अथवा पदार्थ से अधिक परिचित होता है लेकिन इस प्रतिनिधि का साम्य अथवा निकटता उस भाव-विचार-पदार्थ से होती है जिसका प्रतिनिधित्व ये प्रतीक करते हैं।

प्रतीक और उपमा

प्रतीक, उपमा और रूपक के अधिक निकट होने के बावजूद भी इनसे भिन्न होते हैं। रूप-गुण को आधार बनाकर जो तुलना की जाती है,

---

१ गीता रहस्य - तेरहवां प्रकरण, भक्ति-मार्ग- ४१५।

२ कबीर साहित्य की परख, पृ० १४२।

वह उपमा है[१]। उपमा तथा उपमेय में सौन्दर्यमूलक समानता होती है[२]। इनमें कार्यकारणादि की समानधर्मिता नहीं होती है बल्कि उपमान उपमेय की समानधर्मिता होती है[३] तथा उपमान कल्पित नहीं होता है[४]। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपमा और प्रतीक में अप्रस्तुत के प्रयोग का अन्तर है यानी एक में तुलना पर बल है तो दूसरे में प्रतिनिधित्व पर ।

प्रतीक और रूपक

उपमा के पश्चात् रूपक प्रतीक के अधिक निकट ठहरते हैं । आचार्य वामन, रूपक को उपमा का ही प्रपंच मानते हुए कहते हैं कि उपमेय में उपमान के अभेद का आरोप ही रूपक है[५] जिसमें दोनों के भेद समाप्त हो जाते हैं[६] । कतिपय विद्वान् रूपक और प्रतीक में अधिक अन्तर नहीं देख पाते हैं लेकिन यह ठीक नहीं है इसलिए कि प्रतीक में प्रतिनिधित्वधर्मिता के कारण जो व्यापकता होती है, वह रूपक में नहीं होती है । प्रतीक किसी विचार अथवा भाव को व्यापक भूमिका पर रखकर उसे स्पष्ट कर देते हैं जब कि रूपक की एक सीमा होती है, अत: अधिक निकट होने के बावजूद भी प्रतीक और रूपक में अंतर है ।

कुल कहने का निचोड़ यही है कि रहस्य को व्यक्त करने की दिशा में प्रयत्न अवश्य हुए हैं और जिन्हें विज्ञानुभूतियां हुई हैं उन्होंने अभिव्यक्ति के लौकिक साधनों का प्रयोग किया है लेकिन जो 'अनिर्वचनीय' है, वह अवर्णनीय ही रह गया है, स्पष्ट नहीं हो पाया है[७], किन्तु प्रयत्न हुए हैं

---

१ नाट्यशास्त्र, भरत, १७।४४
२ चन्द्रालोक, जयदेव, ५।११
३ काव्यप्रकाश, मम्मट, उल्लास १०, वृत्ति १२५
४ 'नहिं कुलपित उपमान जंह' - रस रहस्य - कुलपति
५ काव्यालंकार सूत्र वृत्ति - वामन - ४।३।६
६ काव्यादर्श - दण्डी -
७ अबरन को का बरनिए, मोपै लखा न जाई ।
अपना बाना वाहिया, कहि कहि थाके माई ।
क० ग्र० सम्प्रदाई को अंग, ६२ ।

और खुब हुए हैं, उससे इन्कार भी नहीं किया जा सकता है ।

सम्प्रति इस अध्ययन में उन्हीं तत्वों को लिया गया है जिनका सम्बन्ध 'सुरति शब्द योग' के सन्दर्भ में है और उन्हीं को समक्ष रखकर यह देखने का प्रयत्न किया गया है कि संतों ने किन किन रूपों से किस प्रकार उन्हें स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है ।

यह तो सत्य है कि रहस्य के वर्णन के लिए संत कवियों ने प्रतीक-मयी भाषा का प्रयोग किया है जिसे उन्होंने ढक्कन कहा है[१] और ढक्कन का प्रयोग इस लिए ही किया है कि उसे अधिकारी लोग ही देख पायें । यह 'ढक्कनदार भाषा' उनकी आवश्यकता थी, कथ्य के लिए, शृंगार के लिए नहीं ।

संत कवियों ने अपनी अनुभूति-कथन के लिए दो प्रकार के प्रतीकों को चुना है, एक तो वे हैं जो शृंगारप्रधान हैं - दूसरे वे हैं जो शृंगारिक नहीं हैं । चुंकि प्रेमानुभूति का क्षेत्र व्यापक है इसलिए शृंगारिक प्रतीक अधिक व्यापकता और गहराई से समर्पण, तन्मयता एकत्वानुभूति आदि भावों को सम्प्रेषणीय बना सकते हैं, अत: यही कारण है, संत कवियों ने इनका भरपूर प्रयोग किया है, किसी शृंगारिक भावना की अनुभूति कराने के लिए नहीं । कहने का तात्पर्य कि इन कवियों ने चाहे जिस प्रकार के प्रतीकों का उपयोग किया है उनका उपयोग केवल अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों के सम्प्रेषण और अभिव्यक्ति के लिए किया है अत: उस धरातल पर जाकर ये प्रतीक अपनी लौकिकता समाप्त कर देते हैं और आध्यात्मिक अनुभूतियों के संवाहक बन जाते हैं, अत: यही कारण है कि इस अध्ययन में शृंगारिक तथा अशृंगारिक दोनों प्रकार के प्रतीकों को एकत्र रखकर विचार किया गया है ।

---

१ आदि अन्त अरु मध्य नहिं, रंगरूप नहिरेख
गुप्त बात गुप्ती रही, पलटू तोपा देख । पo बा० भाग ३, पृ० ५५ ।

नाम अथवा शब्द

संतसाधना का मूलाधार नाम अथवा शब्द है । यह नाम अथवा शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि नाम-स्मरण से ही संत साधना प्रारंभ होती है । लोग नाम को ग्रहण करें और साधना का प्रारम्भ करें इसके लिए आवश्यक है इसके प्रभाव अथवा माहात्म्य को जानें ।

औषधि

नाम माहात्म्य की अभिज्ञता संत कवियों ने इसे दारू अथवा दवा कहकर कराई है[1]। नैरुज्य से बड़ी कोई चीज़ नहीं है । यह नैरुज्य लौकिक और पारलौकिक दोनों धरातलों पर है । लौकिक धरातल पर तापत्रयों से मुक्ति और अभौतिक धरातल पर भवबन्धन से मुक्ति - ये दोनों काम्य हैं और नामस्मरण से दोनों सधते हैं । अतः नाम माहात्म्य अपार है ।

दारू

नाम, भवरुज का दारू है और साधकों के लिए दारू भी है जिसकी मस्ती में ये जगत से बेखबर हो जाते हैं[2] लेकिन बेखबरी कुछ घण्टों की नहीं होती है । यह मस्ती तो ऐसी होती है कि यदि एक बार चढ़ गयी तो चढ़ गयी और दिन रात चढ़ी रहती है[3]। लेकिन यह शराब केवल संत लोगों को ही उपलब्ध है क्योंकि इसके बनाने की विधि उन्हें ही ज्ञात है । यह

---

१ सारीग्रंथ - शब्द को अंग - १६

२ दा० द० बानी, शब्द का अंग - २३

३ गांजा भांग शराब का उतरै नशा प्रभात
नाम खुमारी नानका चढ़ी रहै दिन रात ।

शराब 'उनमुनि' की भट्ठी पर बनाई जाती है जिसमें कामक्रोधादि षट रसों को जलाया जाता है। लय की वायु का प्रयोग किया जाता है। शून्य शिखर में एक एक बूंद करके यह शराब एकत्र होती है और धीरे धीरे पूरा घट भर जाता है जिसे सुरत के द्वारा उतार कर प्रयोग में लाया जाता है[१]। उपर्युक्त रूपक के द्वारा गुलाल साहेब ने नामस्मरण, ध्यान और धुन की प्रक्रिया को संक्षेप में रखने का प्रयत्न किया है।

कबीरदास जी का कथन है कि नाम के अमल का आनन्द अवर्णनीय है। इसे जो पीता है वही इसके स्वाद को जानता है। इसका नशा न केवल निरन्तर बढ़ा रहता है बल्कि दिन दिन बढ़ता जाता है तथा सुरत के साथ सम्बद्ध कर देने पर तो एकदम बेसुध कर देता है और अन्त में बेखबरी की उस स्थिति तक पहुंचा देता है जहां द्वैत शेष नहीं रह जाता है[२]।

रस

पलटू साहब का कहना है कि सतनाम पीने में तो मीठा है लेकिन जानलेवा भी है अर्थात् नामस्मरण से मरजीवा स्थिति की प्राप्ति हो जाती है[३]। यह नामरस इतना प्रभावकारी है कि सूंघते ही पागल कर देता है और पीते ही मार देता है। इसके प्रभाव से अहंकार नाश हो जाता है, अन्तःचक्षु खुल जाते हैं और ज्ञान का प्रकाश हो जाता है[४]।

रसायन

नाम रसायन की भांति भी प्रभावकारी है। यह मृत को अमर कर देता है, अर्थात् नामस्मरण अखण्ड चैतन्य से जुड़ने की सहज प्रक्रिया है। यह सारवस्तु है और पार उतारने वाला है[५]।

---

१ गुलाल साहेब की बानी - करमभरम, शब्द ६
२ क०सा०श० भाग-२, प्रेम-शब्द, ३६
   बुल्ला साहब का शब्द सागर, ब्रह्मज्ञान-३
३ पलटू सा० की बानी, पृ० ६।१३
४ धनीधरमदासजी की शब्दावली - नाम महिमा, शब्द १
५ दा० द० बा०, भाग २, राग गौरी-६१।

चिन्तामणि

दादू दयाल ने नाम को चिन्तामणि कहकर इसके महत्व पर प्रकाश डाला है[१]। साधना के लिए निश्चिन्तता नितान्त आवश्यक है, अत: नाम साधना की भूमिका प्रस्तुत करता है ।

कल्पतरु

कल्पतरु कहकर संत कबीर ने नाम माहात्म्य के सम्बन्ध में सब कुछ कह दिया है[२]। कल्पतरु सब कुछ देने वाला है लेकिन कबीर का काम्य भौतिक सुख हो - ऐसा नहीं है । कल्पतरु से उनका तात्पर्य साधन से लेकर सिद्धि तक की प्राप्ति ही है, जो उनका काम्य है ।

धन

उपर्युक्त कथन की पुष्टि संत कबीर और दादू के इस कथन से हो जाती है कि यदि कोई धन है तो केवल एक धन है - नामधन । सांसारिक धनैश्वर्यादि को कबीर ने निर्धनता की संज्ञा दी है । दादू ने इसे सर्वोत्तमधन माना है इसलिए कि इससे आवागमन समाप्त हो जाता है[३]।

धन के साथ तीन समस्याएं हैं - एक तो प्राप्ति की, दूसरी रक्षा की और तीसरी दान की । इसके उत्तर में कबीर का कथन है कि नाम के धनी संत हैं और उनके पास यह सम्पदा अपार है । इस धन को सन्त जन मुक्त में लुटाते हैं लेकिन इनके सामने समस्या यह है कि इसे लेने वाले कठिनाई से मिलते हैं और संयोगवशात् यदि कोई लेने वाला मिल जाता है तो ले लेता है और

---

१ दा० द० बा०, सुमिरन, १०८

२ सा० ग्रंथ - शब्द को अंग - १७

३ वही, सुमिरन को अंग - २८

दा० द० बा० - सबद को अंग - २७ ।

अत्यन्त सम्भाल पूर्वक इसे रखता है[१]। कुल मिलाकर कहने का अर्थ यही है कि नाम साधना सरल है - इस अर्थ में कि असाध्य नहीं है, कठिन है, इस अर्थ में कि इसके लिए सातत्य और एकाग्रता अपेक्षित है। अत: कह सकते हैं कि उपर्युक्त दोहों के माध्यम से कबीर ने अधिकार-अनधिकार की समस्या पर भी प्रकाश डाल दिया है।

चुम्बक

जो अधिकारी हैं वे स्वत: नाम के आकर्षण से प्रभावित होकर खिंचे हुए चले आते हैं और अनधिकारी दूर रह जाते हैं। जो साधक खिंचकर चले आते हैं नाम उन्हें माया से खींच लेता है और उद्धार कर देता है यानी नाम की आकर्षण क्रिया दुहरी है[२]।

बाण

जो खिंचकर चला आता है उस पर शब्द बाण से प्रहार होता है लेकिन नाम-शर और कमान, अप्रकट हैं और इस अप्रकट की चोट भी अप्रकट है, अर्थात् अन्त:करण में है जिससे साधक का सम्पूर्ण अस्तित्व प्रभावित हो जाता है, तथा जब यह चोट लगती है तो निरन्तर लगती ही रहती है, और तब तक लगती ही रहती है जब तक साधक का अन्त:करण निर्मल नहीं हो जाता है। जब अन्त:करण निर्मल हो जाता है तब उसमें स्थिरता आ जाती है यानी साधन की योग्यता आ जाती है और वह जगत के प्रति उपराम और अपने प्रति अहंकार रहित हो जाता है[३]।

मौती

बाण का काम बेधना है और मौती का काम अपने को बिधवाना और जब माले में एक मौती से साथ दूसरे मौती को जोड़ते हैं तो क्रमश: एक दूसरे

---

१ सा० ग्र० - सु० की अंग - १, २

२ वही - २१

३ वही, २८, २७, २६, २४।

को बेधकर ही जोड़ते हैं । उसी प्रकार नाम मोती को भी जब साधक के अस्तित्व से जोड़ते हैं तो अस्तित्व को बिंधना पड़ता है और केवल एक स्थान पर नहीं सम्पूर्ण रूप में बिंधना पड़ता है[१]।

बल

उपर्युक्त सम्बन्ध तो एक दूसरे को जोड़ने पर बनता है लेकिन एक ऐसा भी सम्बन्ध है जिसमें जोड़ने की आवश्यकता नहीं होती है बल्कि एक दूसरे से उनका नैसर्गिक सम्बन्ध होता है जैसे जल का मछली से । इसी प्रकार नाम-जल साधकरूपी मछली से सम्पृक्त हो जाता है और स्थिति यह हो जाती है कि साधक नाम के बिना जीवित नहीं रह पाता है ।

पकवान

जल से अस्तित्व रक्षा होती है लेकिन भोजन से भी होती है और यदि 'पकवान' मिल जाए तो क्या कहना और यदि नाम पकवान मिल जाए तब तो और भी उत्तम है । संत कबीर ने नाम को पकवान के रूप में देखा है लेकिन यह पकवान अन्य पकवानों से भिन्न है जिसे मन का हलवाई बनाता है । इसको बनाने के लिए ज्ञान की कड़ाही चाहिए, प्रेम का घी चाहिए तथा चित्त का मैदा चाहिए तथा सब कुछ को ब्रह्म-अग्नि में पकना चाहिए । तब जाकर यह नाम पकवान पकता है । सुरत-निरत की तराजू पर इसे तौलकर त्रिकुटी की दुकान पर सजाते हैं । उन्मुनि इसकी बिक्री करती है[२]। अपनी रूपक-माला में कबीर ने नाम साधनविधि पर प्रकाश डाला है । उनके कहने का अर्थ है कि विचारपूर्वक नाम ग्रहण करके प्रेमभक्ति पूर्वक, स्मरण होना चाहिए । भक्ति के प्रभाव से चित्त की वृत्तियां शान्त हो जाती हैं और अहंभिमुख चित्त, ब्रह्माभिमुख हो जाता है । इसके उपरान्त नाम को 'सुरत-निरत' के द्वारा त्रिकुटी में स्थिर करते हैं और तब जाकर उन्मुनिदशा की प्राप्ति होती है ।

---

१ सा० ग्र० - १६

२ क० सा० ग्र० - भाग २, मेद शब्द ८

प्रकाश

उन्मुनि दशा प्राप्त हो जाने पर साधक का अन्तःकरण प्रकाशमय हो जाता है फिर प्रकाश और शब्द उच्चतर भूमिका पर पहुंचकर एकमेक हो जाते हैं और अन्त में आवागमन समाप्त हो जाता है[१]। सन्त पानप दास जी ने भी बिना तेल और बाती के इस प्रकाश की अनुभूति की है[२]।

ताला-कुंजी, ओढ़ना, बिछौना, चुनरी, परमतत्व

श्रृंगारिक प्रतीकों के द्वारा सन्तों ने अधिकांशतः जीव और ब्रह्म के वियोग और मिलन की स्थिति को चित्रित करने का प्रयत्न किया है। इस पद में संत दूलनदास ने शब्द तत्व पर विशद रूप से प्रकाश डाला है और उसे ताला, कुंजी, जंजीर, ओढ़ना, बिछौना, चुनरी और यहां तक कि उसे स्वयं परमतत्व तक माना है।

दूलन दास जी का कथन है कि "मैंने साईं की सेज को देखा है जहां गुरुमार्ग से होकर आया जाता है। वहां शब्द का ताला, लगा है। उसे खोलने के लिए शब्द की ही कुंजी है, शब्द की ही जंजीर है। वहां शब्द का ही ओढ़ना है, शब्द का ही बिछौना है। शब्द की ही चटक-चुनरी है। स्वामी भी शब्द स्वरूपी है[३]।

शब्द तत्व को इतने बड़े फलक में रखकर संत ने यही कहा कि गुरुपविष्ट शब्द के द्वारा ही परमतत्व का साक्षात्कार सम्भव है। साधनावस्था में शब्द आदि से अन्त तक सहायक है तथा परमतत्व भी शब्दमय ही है।

---

१ सन्त बानी संग्रह - पलटू - शब्द २

२ पानप बोध, पृ० ५६

३ दूलन दास जी की बानी, भेद का अंग, शब्द २।

शब्द ब्रह्म

पलटूदास ने शब्द को स्वयं परमेश्वर की वाणी बताया है जो मधुर है जिसमें आत्मा को आकृष्ट करने की शक्ति है । शब्द साधना के द्वारा साधक भंवरगुफा तक पहुंच जाता है, जहां सोहं शब्द की ध्वनि हो रही है । यहां पहुंच जाने पर परमतत्व से साक्षात्कार हो जाता है । एक बार साक्षात्कार हो जाने पर विलगाव नहीं होता है । शब्द में मायारूपी घूंघट को हटाने और जीव-ब्रह्म के मिलन कराने की शक्ति है[१]।

उपर्युक्त प्रतीकों के द्वारा शब्द माहात्म्य, अधिकारी, कार्य और प्रभाव पर विचार किया गया है ।

सुमिरन-ध्यान

सुमिरन-ध्यान

साधक, नाम अथवा शब्द का ही स्मरण अथवा सुमिरन करते हैं । सुमिरन की प्रगाढ़ावस्था ही ध्यान है, जैसे राधा, माधव-माधव स्मरण करती करती यह भूल जाती हैं कि वे राधा हैं, वे कृष्ण मय हो जाती हैं[२]। कहने का तात्पर्य यह कि सुमिरन अथवा स्मरण करते करते एक ऐसी स्थिति आजाती है जहां ध्येय के प्रति एकाग्रता सधने लगती है ।

पदी-गति

स्मरण करते करते फिर ध्यान की अवस्था आती है । इस स्थिति को संत सुन्दरदास ने पदी की उड़ान के माध्यम से अत्यन्त स्पष्टतापूर्वक चित्रित किया है । जब एक पदी उड़ता है तो स्पष्ट दीखता है फिर जैसे जैसे वह आकाश

---

१ पलटू सा० की बानी १, प्रेम-५६

२ राधामाधव माधवराधा द्वइ मिलि एकै भेल - विद्यापति ।

में ऊपर की ओर जाता है, क्रमशः अस्पष्ट होते होते, अन्त में आकाश में विलीन हो जाता है। वैसे ही स्मरण का प्रारम्भ वैखरी अवस्था से होता है फिर मध्यमा और पश्यन्ती अवस्था से गुजरते हुए परावस्था में उसका विलय हो जाता है[१]। सुन्दरदासजी का यह प्रतीक इतना सटीक है कि इससे स्मरण से लेकर ध्यान तक की स्थिति पाठक के समक्ष दर्पण की भांति स्पष्ट हो जाती है।

उपर्युक्त पद में स्मरण, स्मरण दशा से क्रमशः ध्यान दशा में प्रवेश की स्थिति तथा ध्यान दशा की प्राप्ति को चित्रित किया गया है।

अब निम्नलिखित पद में सायास ध्यान और सहज-ध्यान की दो भिन्न स्थितियों को चित्रित किया गया है। इन दोनों स्थितियों को स्पष्ट करने के लिए संतकबीर ने पनिहारिन द्वारा गागर सम्भालने के उदाहरण को लिया है। पनिहारिन द्वारा क्रमशः तीन क्रियाओं का सम्पादन होता है। पहली क्रिया है, पानी का भरना, दूसरी क्रिया है घड़े को सर पर रखकर संतुलन बनाना और तीसरी क्रिया है, सहजरूप से उसका संचालन।

पहली क्रिया स्मरण दशा की प्रतीक है। दूसरी क्रिया सायास ध्यान की प्रतीक है और तीसरी दशा सहज-ध्यान का प्रतिनिधित्व करती है।

जैसे जैसे माला फेरते हैं, वैसे वैसे ही पानी भरते हैं। जब पनिहारिन घड़े को रखकर चलती है तो कुछ दिन उसे संतुलन बनाने के लिए प्रयास करना पड़ता है और अभ्यास करते करते, एक समय ऐसा आता है जब यह क्रिया उसके लिए स्वाभाविक हो जाती है[२]।

---

१ सुन्दर विलास (लक्ष्मी वेंकटेश्वर), पृ० १७५

२ सा० गु० - सुमिरन को अंग - ७४

अत: उपर्युक्त प्रतीक क्रमश: स्मरण, सायास ध्यान और सहज ध्यान को बखूबी और बारीकी के साथ स्पष्ट कर देता है ।

सुरभि

अब जिन प्रतीकों पर विचार हो रहा है वे ऐसे प्रतीक हैं जिनके माध्यम से सहज-ध्यान को स्पष्ट करने का प्रयास है । उनमें से एक प्रतीक गाय (सुरभि) का है । जब गाय और बछड़े साथ साथ चरते हैं तो गाय चरते चरते कितनी भी दूर क्यों न चली जाए उसका ध्यान अपने बच्चे की ओर ही रहता है[१]। कहने का तात्पर्य, गाय के द्वारा दो कार्यों का सम्पादन होता है - पहला कार्य है चरना तथा दूसरा कार्य है ध्यान ।

अत: इस प्रतीक के माध्यम से संत कबीर यह कहना चाहते हैं कि जब ध्यान सहज हो जाता है, तब तन कुछ भी करता रहे, मन ध्यान की दशा में ही रहता है । शरीर यंत्रवत् होकर कार्य करता रहता है और ध्यान सहज भाव से चलता रहता है ।

कुरंग

कुरंग के द्वारा सहज-ध्यान की उस स्थिति पर प्रकाश पड़ता है जहां ध्यान की स्थिति तो सहज है लेकिन शरीर निश्चल और जड़वत हो जाता है[२]।

नाद के प्रति मृग का आकर्षण सहज है । उसी प्रकार शब्द के प्रति साधक का आकर्षण सहज है । नाद सुनते ही मृग दौड़ पड़ता है । शब्द पाते ही साधक, सुमिरन करने लगता है । फिर स्थिर होकर नाद श्रवण करते करते, मृग नाद श्रवण में डूब जाता है । इसी प्रकार साधक भी ध्यान में डूब जाता है ।

---

१ सा० ग्र० - सुमिरन को अंग - ७७

२ वही, ७७

कंगाल

कंगाल का प्रतीक भी सहज ध्यान को ही स्पष्ट करता है लेकिन इस प्रतीक द्वारा संत कबीर यह भी कहना चाहते हैं जिस प्रकार कंगाल के लिए धन सर्वस्व होता है और संसार के अन्य पदार्थ सारहीन होते हैं । उसी प्रकार इस प्रकार का साधक, ब्रह्म को ही सत्य मानता है और जगत को मिथ्या मानता है । वह केवल परमतत्व के प्रति सहज आकृष्ट होता है[१]।

कमठ

कमठ (कछुए) का प्रतीक भी उपर्युक्त कोटि का ही है जहां शरीर यंत्रवत् कार्यरत है लेकिन चित्त ध्येय के प्रति समर्पित रहता है । कछुआ जल में निवास करता है लेकिन अंडा स्थल पर देता है । इसी प्रकार साधक संसार में रहते हुए भी चित्त परमेश्वर में रखता है[२]।

'फनि' (सर्प)

सर्प का प्रतीक भी उपर्युक्त प्रतीक की भांति ही है । सर्प, मणि को रख कर चरने को जाता है लेकिन उसका मन सदैव मणि के पास ही रहता है[३] । इस प्रतीक में भी एक-एक पग चलकर चरना, स्मरण का प्रतिनिधित्व करता है और मन का मणि के प्रति समर्पण, ध्यान का प्रतिनिधि है । यहां भी सांसारिक कार्य और स्मरण-ध्यान साथ साथ ही चल रहे हैं ।

भृंग

कीट का भृंग के प्रति आकर्षण सहज है लेकिन यह सहज ध्यान, उपर्युक्त ध्यानों से कुछ भिन्न है । यहां पर संत कवि ने ध्यान द्वारा तद्रूपता की प्राप्ति पर बल दिया है[४]।

---

१ सा० ग्र० - सुमिरन को अंग - १७७

२ पलटू सा० बानी - ध्यान - ६१

३ वही

४ साखी ग्रन्थ - सुमिरन को अंग, ७८ ।

भृंग के द्वारा उत्पन्न शब्द, उसके प्रति ध्यान और तद्रूपता, ये तीन स्थितियां हैं जो क्रमश: स्मरण, ध्यान और धुन के द्वारा ध्येय के समान हो जाना, इन दशाओं की ओर संकेत करती हैं । यहां पर मुख्य बात तद्वतता है । ध्यानाभ्यास के द्वारा सत्य की प्रतीति है । कीटरूपी जीव, कीट नहीं भृंग है - इस स्थिति की प्राप्ति है ।

पतंग

पतंग, साहित्य-जगत का अत्यन्त परिचित प्रतीक है । पतंग का दीपक के प्रति आकर्षण सहज है लेकिन यहां पर संत कवि का मूल कथ्य है - ध्यान के द्वारा अद्वैत सिद्धि[१] । इस पद में प्रयुक्त शब्द, दीप भी उपेक्षणीय नहीं है क्योंकि 'अखण्ड-दीप शिखावत ध्यान' स्वयं में एक संकेत है ।

पतंग के द्वारा तीन क्रियायें होती हैं - उड़कर दीपक तक जाना, दीपक के प्रति ध्यान और अन्त में जलकर अपने अस्तित्व की समाप्ति अर्थात् दीप के साथ अद्वैत स्थापना । यहां पर उपर्युक्त तीन स्थितियां क्रमश: स्मरण, ध्यान और अद्वैतभाव की प्राप्ति की हैं ।

मीन

मछली का जल के प्रति सहज-ध्यान है और समर्पण भी सहज है । जल ही मछली का जीवन है[२]। अत: मछली के द्वारा सहज ध्यान और सहज समर्पण दोनों पर क्रमश: पड़ता है ।

कामी

कामी भी सुपरिचित प्रतीक है । कामी व्यक्ति कामिनी का स्मरण तो करता ही रहता है ध्यान भी उसके प्रति रहता है और मिलनदशा में आनन्द

---

१ सासी ग्रंथ - सुमिरन को अंग, ७६

२ वहीं, ८० ।

की प्राप्ति और आनन्द की अनुभूति करता है[१]। यह आनन्दानुभूति ही यहां पर मुख्य कथ्य है अर्थात् स्मरण-ध्यान की क्रिया भावात्मक क्रिया है इससे परमानन्द की प्राप्ति होती है ।

कुल मिलाकर उपर्युक्त प्रतीकों के द्वारा क्रमश: स्मरण ध्यान में अन्तर, सायास ध्यान और सहज ध्यान में अन्तर तथा सहज ध्यान की विभिन्न स्थितियों पर प्रकाश डाला गया है ।

लय

दादू दयाल ने कहा है कि ध्यान करने वाला जब स्वयं को और जिसका ध्यान कर रहा है उसको भी भूलकर, चैतन्य में स्थित हो जाता है उस दशा का नाम लय दशा है[२]। लयावस्था में शरीरभाव का पूर्णरूप से विस्मरण हो जाता है और केवल चैतन्य भाव ही शेष रह जाता है जिसमें ध्याता लीन हो जाता है[३]।

वाण

जैसे वाण बेधता है और वाण-विद्ध की जो स्थिति होती है, वही लय-विद्ध की स्थिति होती है । कबीरदास जी वाण-विद्ध की तीन स्थितियों को रखकर लयभाव की अभिज्ञता कराना चाहते हैं । एक अवस्था तो वह है जिसमें वाण आरपार हो जाता है और विद्ध-व्यक्ति अचेत होकर गिर पड़ता है । एक दूसरी स्थिति वह है जिसमें वाण आरपार तो नहीं होता है लेकिन मर्म पर लगता है । एक तीसरी स्थिति है जहां न वाण आरपार होता है, न मर्म पर लगता है बल्कि लगता है और इतनी चोट कर देता है कि वाण-विद्ध अचेत हो जाता है और यदाकदा कराहता रहता है[४]। उपर्युक्त दशाओं में पहली दशा ज्ञान

---

१ पलटू बानी, ३८।६२

२ दा० द० की बानी - लय को अंग - ३,४,५, ४५, १४

३ सा० ग्र०, लगनी को अंग, ३

४ वही, ७,८,६ ।

द्वारा प्राप्त लयदशा है, दूसरी भक्ति के द्वारा प्राप्त लयदशा है और तीसरी कर्म के द्वारा प्राप्त लयदशा है । ज्ञान के द्वारा पूर्ण समाधान प्राप्त निश्चेष्टता पहली अवस्था है । हृदय में चोट के द्वारा भक्ति की ओर संकेत है क्योंकि भक्ति हृदय का विषय है । बारबार कराहना कर्म का प्रतिनिधित्व करता है अत: तीसरी दशा कर्म-योग द्वारा प्राप्त दशा है । अचेतनता अथवा लीनता का भाव तीनों दशाओं में है लेकिन अन्तर केवल माध्यम का है ।

रस्सी

ब्राह्मीदशा की प्राप्ति के लिए सुरति, लय और मुक्त मन की आवश्यकता होती है । इसे कबीर साहब ने एक रूपक में बांधकर कतिपय प्रतीकों के द्वारा समझाया है । रूपक तो ढेंकली का है । ढेंकली से पानी निकालते हैं । ढेंकली में दो चीज़ें और होती हैं - रस्सी और ढोल (चमड़े का एक थैला) । संत कबीर ने ढेंकली को सुरति का प्रतीक, रस्सी को लय का प्रतीक और मन को ढोल का प्रतीक माना है जिसमें ब्रह्म जल भरा जाता है[१]।

इस पद में लयदशा की स्थिति को बताया गया है । इस स्थल पर कबीरदास जी यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि ध्यानावस्था और पूर्णब्राह्मी भाव के बीच में जो एकाग्रता अथवा लीनता की स्थिति है - वह लय की स्थिति है ।

लय की दशा को बताने के लिए रस्सी का प्रतीक संत कबीर ने इसलिए चुना है जिस प्रकार रस्सी एक अखण्ड, ग्रंथिहीन लम्बी वस्तु है उसी प्रकार लयदशा है - जिसमें सजलता और अखण्डता है ।

नमक + जल

उपर्युक्त पद में लयदशा की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है । इस पद में लय-दशा के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है । जिस प्रकार नमक पानी में विलीन हो जाता है उसी प्रकार मन का ध्येय में लीन हो जाना लयावस्था है[२]।

---

१ सा० ग्र०, लगनी को अंग - १८

२ वही - परिचय को अंग - २४
दा० द० बानी, परिचय - ३४ ।

जल + जल

पानी में लवण का विलीन हो जाना, एक भाव का द्योतक है, जल का जल में विलीन हो जाना, दूसरे भाव का द्योतक है । पानी और लवण दो भिन्न पदार्थ हैं लेकिन पानी तथा पानी का विलय दो भिन्न पदार्थों का विलय नहीं है बल्कि उस तत्व का उसी तत्व में विलय है[१]। कहने का तात्पर्य, पहली स्थिति द्वैत से अद्वैत-सिद्धि की है और दूसरी अद्वैत से अद्वैत-सिद्धि की है। दादू जी ने आत्मभाव से परमात्मभाव अथवा सुरति के द्वारा शरीरभाव को छोड़ कर तेजपुंज में मिलने को, दूसरी कोटि में रखा है[२]। पहली कोटि तो जीवभाव से उठकर परमात्मभाव की प्राप्ति है ।

प्रिय + प्रिया

पलटू साहब ने भी द्वैत से अद्वैत-सिद्धि को प्रिय तथा प्रिया के मिलन के प्रतीक के द्वारा व्यक्त किया है ।

प्रिय - प्रिया का एक दूसरे के प्रति ध्यान, लय-भाव का उत्तम प्रतीक है और सहज बोध्य है । पलटू साहब कहते हैं कि मैं अपने प्रिय को खोजने चली कि खुद को भूलकर प्रियामय हो गयी । वे आगे कहते हैं कि ऐसा सबके साथ होता है वह प्रियरूप हो जाता है[३]।

इस पद में प्रिय तथा प्रिया क्रमशः आत्मा और परमात्मा के प्रतीक हैं तथा प्रिय - प्रिया का एक दूसरे के प्रति ध्यान लयभाव का द्योतक है ।

---

१ वही, ३६, ३६

२ वही

३ पलटू सा० बानी - कुंडलिया - ६० ।

चकोर

चकोर पक्षी भी साहित्य का मान्य प्रतीक है । चकोर की अग्नि के प्रति लगन लय-दशा को स्पष्ट करने के लिए सटीक प्रतीक है । इस प्रतीक के द्वारा यह भी स्पष्ट हो जाता है कि लयदशा में साधक शरीरभावापन्न नहीं रह जाता है बल्कि वह विदेहभाव की प्राप्ति कर लेता है उस प्रकार जिस प्रकार चकोर अंगार तो चबाता है लेकिन वह उसकी दाहकता को शरीर के स्तर पर अनुभव नहीं कर पाता है ।

जीवनमृत

जीवितावस्था में ही मृतक की भांति अनासक्त हो जाना, साधना के जगत में एक बहुत बड़ी उपलब्धि है । मन से जब अहंकार समाप्त हो जाए और इन्द्रियां विषयों के प्रति अनासक्त हो जांए - इस स्थिति को मरीजीवा स्थिति कहते हैं[1]। मरना तो सभी को है । जीवित किसी को नहीं रहना है लेकिन उसी का जीना सही अर्थों में जीना है जो जीवित दशा में मृतक के समान रहना जानता है[2]।

मृत्यु के पहले मर जाने से अमरता प्राप्त होती है और यदि मरना ही पड़ा तो फिर दूसरी बार न जन्म लेना पड़ता है न मरना पड़ता है, लेकिन यह तभी सध सकता है जब तृष्णा का निवारण हो जाए और नाम का आधार पक्का रूप से ग्रहण कर लिया जाए । जब यह स्थिति सध जाती है तब उसे परमेश्वर के पीछे नहीं चलना पड़ता है बल्कि परमेश्वर ही उसके पीछे पीछे चलने लगते हैं[3]।

---

१ दा० द० बाणी - जीवत मृतक को अंग - २४
गीता २।५८

२ वही - ११

३ सा० ग्र० - जीवत मृतक को अंग, १-५ ।

मरजीवा

समुद्र में डूबकर जो रत्न निकालने वाले हैं उन्हें 'मरजीवा' कहते हैं। संत कबीर ने तन को समुद्र माना है और मन को मरजीवा माना है लेकिन उसी मन को जो निर्विषय है और शमाशील है। ऐसा ही 'मनमरजीवा' अतल समुद्र में डुबकी लगाकर आकाश में निकलकर गगन मण्डल में घर बना सकता है और हीरा, मोती और लाल समुद्रतल से ला सकता है[1]।

यहां पर समुद्रतल से तात्पर्य आधार चक्र से है। आकाश और गगन मण्डल से अर्थ त्रिकुटी और ऊपर के ब्रह्माण्डस्थित चक्र सहस्रार से है। मोती-लाल आदि परमज्ञान अथवा दिव्यानुभूति के द्योतक हैं।

कबीरदास जी ने आगे कहा है कि एक बार मर जाने के बाद भी मन के जिन्दा होने की आशंका रहती है और कभी कभी मन जिन्दा नहीं होता है तो भूत बनकर पीड़ा करता है[2]। ऐसा देखा गया है कि कितने साधक उच्च स्थितियों को प्राप्त करने के बाद भी लौकिकता में फंस जाते हैं, इसे कबीर ने मन का पुनर्जीवित होना कहा है। मन के भूत होने का अर्थ है कि मन पूर्णरूपेण लौकिक तो नहीं हो पाता है लेकिन उसके भीतर अहंकारादि जैसी सूक्ष्मवासनाएं शेष रह जाती हैं और अप्रत्यक्ष रूप से साधक के मार्ग में बाधा उपस्थित करती रहती हैं।

पदारी

संत कबीर ने जीवनमुक्त को पदारी कहा है, लेकिन सभी पदारी इस कोटि में नहीं आ सकते। इस कोटि में वे ही पदारी हैं जो ऊंचे पेड़ पर लगे हुए उन फलों को खाते हैं जो आसमान में हैं, जो धरती पर नहीं गिरते[3]।

---

१ सा० ग्र० - जीवतमृतक को अंग, ६-११

२ वही, १३, १४

३ वही, १६।

यहां पर एक बात पहेली जैसे कह दी गयी है लेकिन संत साहित्य के अध्येताओं के लिए यह बात पहेली नहीं लगती है । सुरत अपना सम्बन्ध नाम के साथ बनाकर 'ऊंचे स्थानों' में है, इस स्थिति को कहते हैं - पदमी द्वारा ऊंचे वृक्ष पर आसमान में लगे फलों को खाना । जब यही सुरत नीचे आ जाती है तो संसारी हो जाता है । स्वामी जी महाराज के शब्दों में इसे यों कह सकते हैं - 'जीवात्मा अर्थात् सुरत को रूह कहते हैं और यह सबसे ऊंचे स्थान यानी सतनाम और राधास्वामी पद से उतर कर इस तन में आकर ठहरी हुई है और तीन गुण, पांच तत्व और दस इन्द्रिय और मन वगैरा में बंध गई है और ऐसे बन्धन उसके साथ शरीर और उसके सम्बन्धों के पड़ गए हैं कि उनसे छूटना कठिन हो गया'[१]।

बिना सिर का शरीर

संत दादू ने 'मरजीवा' की कल्पना उस शरीर से की है जिसके पास सिर नहीं है केवल धड़ है[२]। जिस शरीर के पास सिर नहीं है तो वह मृतक है और मृतक शरीर इन्द्रियों के बावजूद भी संसार को भोगने की शक्ति नहीं रखता है । अतः इस प्रतीक का सीधा अर्थ है कि जिसकी भोगैषणा समाप्त हो गयी है, वही जीवनमुक्त है यानी वह मृत नहीं है बल्कि केवल संसार के प्रति मृत है ।

पथिक

एक अन्य स्थान पर संत दादू ने जीवनमुक्त को एक यात्री माना है - लेकिन यह यात्री 'औघट घाट' का यात्री है । इस घाट का मार्ग विरह का है यानी विरहिणी की जो तन्मयता अपने परदेशी पति के प्रति होती है, वही परमतन्मयता, इस मार्ग के पथिक में अपेक्षित होती है । यह पथिक जब इस मार्ग

---

१ सार बचन (वार्तिक) पृ० १, दफ़ा ५

२ दा० द० बानी - जीवनमुक्त को अंग - २० ।

में चलता है तो सत्गुरु को अपने सर पर रखकर चलता है । निर्मल ज्ञान साथ लेकर चलता है । उसके सम्मुख परमेश्वर का प्रकाश होता है और पाथेय के रूप में उसके पास प्रेम-भक्ति होती है । उसमें 'स्व' और 'पर' का भेद नहीं होता है । वह सम्भल-सम्भल कर चलने वाला होता है । उसका मार्ग तलवार की धार पर चलने के समान कठिन होता है[१]।

इस पद में संत दादू ने स्पष्ट कर दिया है कि जीवनमुक्त वह है जिसमें परमतन्मयता है, जिसकी बुद्धि में समत्व है, जिसमें भक्ति की सरसता और ज्ञान का प्रकाश है, जो गुरूपदिष्ट मार्ग पर चलने वाला है तथा जिसका लक्ष्य परमतत्व की प्राप्ति है ।

सुरति

डोर

'सुरत' को गुलाल साहब ने डोर कहा है, इसलिए कि डोर एक ओर तो प्रतिनिधित्व करता है ध्यान की एकतानता का दूसरी ओर सहारे का जिसके द्वारा ऊपर चढ़ते हैं । गुलाल साहब का कहना है - सुरत डोर के सहारे गगन में चढ़ना है, जहां निरन्तर ओंकार हो रही है, जहां न चांद है, न सूर्य है न किसी प्रकार का धर्माचार है । वह घर अगम्य है लेकिन सुरत के सहारे सुगम बनता है[२]।

बूंद

संत कबीर ने अजस्र धारावत ध्यान की एकतानता के लिए बूंद का प्रतीक चुना है । सुरत की बूंद रिमझिम-रिमझिम बरस रही है जिससे सूखे कमलों में जान आने लगी है । मेरी नाव औघट घाट लगी है जिस पर पांचों भाई बैठ गये हैं लेकिन ये मतवाले हो गए हैं अतः कैसे उस पार पहुंचा जाए

---

१ दा० द० बानी - राग माल - १५१

२ गलाल सा० बा० - भेद का अंग - ३ ।

इसकी चिन्ता है । कबीर दास जी का कहना है कि ऐसी स्थिति में चांद-सूरज दो ऐसे साथी हैं जो पार लगा देंगे - ऐसा विश्वास है[१]।

कलारी

एक स्थान पर संत कबीर ने ही सुरत को कलारी कहा है जो बिना तौले मद पी गई है[२]। उपर्युक्त पदों के प्रतीकों द्वारा यह संकेत मिलता है कि सुरत के द्वारा अखण्ड-एकतान ध्यान सधता है । इस पद के द्वारा यह अभिज्ञता मिलती है कि इस ध्यान में लीनता और आनन्द के तत्व भी होते हैं । सुरत-ध्यान शुष्क नहीं होता है ।

सहेली

सन्त तुलसीदास (हाथरस) ने सुरत को शब्द की सहेली कहा है जिसकी सहायता से शब्द शरीर के भीतरी केन्द्रों की ओर आंखों के पीछे केंद्रित होकर बढ़ता है[३]।

सौहागिन

संत कबीर ने सुरत को एक सौभाग्यवती नारी के रूप में देखा है जो अपने सहर (जगत) में आकर मोह ग्रस्त हो गयी है । कबीरदास जी उसे मोहनिद्रा त्यागकर उठने और पति को स्मरण (भजन) करने को कह रहे हैं, उसके शब्द को सुनने को कह रहे हैं और संसार को छोड़कर जगने और प्रियतम को प्राप्त करने को कह रहे हैं[४]। इस शृंगारिक प्रतीक के माध्यम से संत कबीर ने चेतावनी दी है कि जो सुरत अपने मूलस्थान से नीचे उतर कर जगत में फंस गई है उसे पुनः अपने मूलस्थान में पहुंचाना है[५]।

---

१ क० श०, भाग २, मिश्रित- १७
२ क० श०, भाग १, विरह प्रेम - २
३ तु० सा० बानी - धमार- २
४ स० बा० संग्रह - कबीर साहब शब्द, ११
५ सार बचन (नसर) दफा १ ।

विरहिणी

इस पद में संत कबीर ने सुरत को एक विरहिणी नारी के रूप में देखा है जो शरीर के चैतन्य महल में चर्खा कात रही है । इस चर्खे में त्रिगुण का टेकुवा है, मन का माल है, पिउनी पांच तत्वों की है, भजन की कुलरी है, वैराग्य का खूंटा है और योग-युक्ति का मंझा है जिसकी सहायता से संत लोग बारीक कातते हैं[१]। इस पद के माध्यम से संत कबीर उपर्युक्त पद की पांति सुरति को अपने मूलस्थान को प्राप्त करने का ही सुझाव दे रहे हैं ।

शून्य

सरोवर

शून्य में सहस्रदल का कमल है जो नाल रहित है । कमल सरोवर में होता है अत: इसे गुलाल साहब ने सरोवर कहा है । जहां कमल होता है वहां भंवरा भी होता है । इस सरोवर में स्थित भ्रमर अमृत-रस का पान करता रहता है[२]। छंद छोटा है अत: इसमें बहुत कुछ कहना कठिन है फिर भी दो बातों पर इस छंद के द्वारा प्रकाश पड़ता है - एक तो यह कि सहस्रार में सहस्रदलकमल है और दूसरी यह कि खेचरी मुद्रा से इस स्थान से स्रवित होने वाले अमृत का पान करके योगी आनन्दलाभ कर सकता है ।

शहर

एक दूसरे स्थान पर शून्य को गुलाल साहब ने शहर कहा है । शून्य यद्यपि कुछ नहीं का बोधक है लेकिन उसे गुलाल शहर मानकर संत कवि ने उस कुछ नहीं को बहुत कुछ होना बताया है । शहर में शोर होता है, यह स्थान भी सहज ध्वनि से परिपूर्ण है । यहां इड़ा-पिंगला का खेल चल रहा है । यह स्थान अमृत से भरा हुआ है तथा प्रेमानन्द से परिपूर्ण है । शून्य स्थान तक सबकी गति नहीं है वहां केवल कतिपय संत-जन ही जा सकते हैं[३]।

---

१ क० सा० शब्दावली ,भेद- २०

२ गुलाल सा० बानी - अरिल छंद - २

३ वही, २० ।

सहज

घर

गुलाल साहब ने सहज को घर माना है, जहां आरती हो रही है। यह घर गगन में स्थित है जहां अनाहत नाद हो रहा है। यहां गति है लेकिन बिना चरणों की गति है। यह स्थान अलख पुरुष का है - ब्रह्मा, विष्णु-महेश का नहीं है। यहां पर आरती से जो प्रकाश हो रहा है, वह कोटि-कोटि चन्द्रमा के प्रकाश से भी अधिक है। इस घर में आरती के लिए केवल संत-जन ही प्रवेश प्राप्त कर सकते हैं[1]।

यद्यपि ऊपर से देखने पर सम्पूर्ण पद एक वर्णन है लेकिन संत कवि ने इस वर्णन में प्रयुक्त प्रतीकों के माध्यम से यह स्पष्ट कर दिया है कि सहजभाव से उसका तात्पर्य, क्या है? मौज पूर्ण-आरती में दो चीजें हैं - एक आरती दूसरी मौज। आरती का अर्थ है - प्रकाश यानी ज्ञान। अत: कह सकते हैं - ज्ञान पूर्ण आनन्दात्मक स्थिति सहज-भाव है। बिना बाजे का बाजा और बिना चरण की गति इस बात का द्योतन करते हैं कि साधना की एक ऐसी अवस्था आती है जहां किसी प्रकार के आयास की आवश्यकता नहीं रह जाती है। ब्रह्मा-विष्णु-महेश से परे यह स्थान अलख पुरुष का है यानी त्रैगुण्य-रहित भाव ही सहजभाव है। कोटि चन्द्र के प्रकाश से तात्पर्य है - अनन्त ज्ञान की प्राप्ति। उपर्युक्त सभी बातों को एक फलक पर रखकर देखने से सहज-दशा का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

भक्ति

महल

भक्ति को कबीरदास जी ने महल कह कर इसकी श्रेष्ठता को बताया है। महल जहां पर होता है वहां के अन्य भवनों से श्रेष्ठ होता है। उसी प्रकार भक्ति, अन्यान्य साधनों से श्रेष्ठ है[2]।

---

१ गुलाल सा० बानी - आरती - ३

२ साखी ग्रंथ - भक्ति को अंग - ५६।

मेंद

महल श्रेष्ठ तो होता है लेकिन सबके लिए सुलभ नहीं होता है । भक्ति के साथ ऐसा नहीं है । भक्ति सबके लिए सुलभ है । इस सुलभता को बताने के लिए संत कवि ने इसे बीगान का मेंद कहा है । मेंद कोई भी बेल सकता है - वहां ऊंच नीच आदि का भेद नहीं होता है । उसी प्रकार भक्ति के लिए वर्ण, लिंग आदि का भेद नहीं होता है । भक्ति का द्वार सबके लिए खुला होता है[१]।

बीज

भाग्यवशात् यदि यह सुलभ पदार्थ एक बार प्राप्त हो गया तो विनष्ट नहीं होता है और बीज की भांति सुरक्षित रहता है । बीज दो प्रकार से सुरक्षित रहता है । सुरक्षा की पहली स्थिति यह है कि यदि बीज खेत में पड़ गया तो वहीं पड़ा रहता है और समय आने पर उग जाता है । दूसरी स्थिति में स्वयं विनष्ट होकर अपनी सन्तति के रूप में जीवित रहता है । भक्ति-बीज के साथ भी ऐसा ही होता है, यदि एक बार भक्ति का बीज पड़ गया तो जन्म जन्मान्तरों तक सुरक्षित रहता है तथा दूसरी स्थिति में भी शिष्य-परम्परा के माध्यम से सुरक्षित रहता है[२]।

सींढ़ी (सोपान)

भक्ति-मार्ग निर्विघ्न है - सोपान द्वारा ऊपर चढ़ने की भांति । सींढी के माध्यम से चढ़ने वाला सुरक्षित रहता है उसके समक्ष गिरने का खतरा नहीं रहता है और निश्चित रूप से वह उस स्थान तक पहुंच जाता है, जहां पहुंचना चाहता है । इसके अतिरिक्त एक अन्य बात यह है कि सीढ़ी के द्वारा कोई भी शनैः शनैः गन्तव्य तक पहुंच सकता है - चाहे वह दुर्बल है अथवा सबल, बालक अथवा वृद्ध । इसी प्रकार भक्ति-मार्ग निर्विघ्न है और शनैः शनैः कोई

---

१ साखी ग्रंथ - भक्ति को अंग, १४

२ वही, ४, ५ ।

भी व्यक्ति गन्तव्य तक पहुंच सकता है, चाहे वह जिस किसी कोटि का साधक है[१]। सीढ़ी के प्रतीक के द्वारा एक अन्य भाव भी व्यक्त होता है, वह यह कि जैसे सीढ़ी द्वारा ऊपर चढ़ने में अधोगति की आशंका नहीं होती है, वैसे ही भक्ति-मार्ग के द्वारा आगे बढ़ने वाले को भी अधोगति का भय नहीं होता है ।

नदी

यद्यपि संतकबीर ने भक्ति को शनैः शनैः आगे बढ़ने वाला मार्ग कहा है लेकिन उसे मादों नदी के प्रवाह की भांति तीव्रगामी भी कहा है । मादों नदी का प्रवाह स्वयं तो तीव्रगामी होता है, जो प्रवाह में पड़ जाता है उसे तीव्रता के साथ बहा देता है । एक ही मार्ग मन्दगामी और तीव्रगामी दोनों ही, ऊपर से देखने पर दोनों कथनों में विरोधाभास प्रतीत होता है लेकिन ऐसा नहीं है । भक्तिमार्ग की तीव्रगामिता प्रदर्शित करने के लिए संत कवि ने उसे मादों की नदी कहा है । तीव्रता प्रकट करने के लिए कवि ने जल का प्रतीक चुना है अर्थात् जहां जल होगा, वहां प्रवाह होगा । जल हृदय की तरलता का भी प्रतीक है । जहां जितनी अधिक तरलता होगी वहां उतना अधिक प्रवाह होगा । कहने का तात्पर्य भक्ति की अधिकता के साथ साथ ही उसका प्रवाह यानी प्रभाव की शक्ति बढ़ती जाएगी[२]। इस प्रकार की भक्ति के लिए कबीरादि संतों की भक्ति ली जा सकती है जिसके प्रवाह में वे स्वयं तो बहते ही थे, दूसरे भी बह जाते थे और आज लोग बह रहे हैं ।

इश्क

सूफियों की आशिकाना पद्धति की भक्ति और भारतीय भक्तों की प्रेमाभक्ति के तर्ज पर भी भक्ति को संत कवियों ने वर्णित किया है । संत कवि पलटू कहते हैं कि, "हे मां, जिससे मेरा दिल लगा है उसे बिना देखे मुझ

---

१ साखी ग्रंथ- भक्ति को अंग - १४ तथा १६

२ वही - २ ।

से रहा नहीं जाता है । उसके लिए मैं अपने प्राण न्यौछावर कर दूंगी । मैं निरन्तर उसके नाम का स्मरण करती रहती हूं । कभी कभी तो उसको स्मरण करते करते बेहोश हो जाती हूं[१]। इस पद में मुख्य रूप से तीन बातें हैं - दर्शन, स्मरण और अचेतनता । उच्चकोटि की भक्ति में भगवान् का दर्शन, निरन्तर स्मरण और तल्लीनता मुख्य तत्व हैं - ऐसा संत पलटू का विचार है ।

सहज इश्क

पलटू साहब ने ही अपने एक पद में सहज आशिकी की चर्चा की है । इश्क वाले पद और सहज आशिकी वाले पद को एक साथ रखकर देखने से पता लगता है कि उनके विचार से आशिकी और सहज आशिकी में तात्त्विक अन्तर यह है कि जब तक भक्त अपने और भगवान की सत्ता के प्रति द्वैत भावना रखता है तब तक तो आशिकी है लेकिन जब भक्ति अद्वैतभूमिका पर स्थित हो जाती है, तब सहज आशिकी हो जाती है । सहज आशिकी के लिए उन्होंने 'सीस उतारै हाथ से' का प्रतीक चुना है जिसका सीधा अर्थ है - अहंकार राहित्य और जब तक अहंकार है, तब तक द्वैत रहता है । अहंकार हटते ही अद्वैतभाव की स्थापना हो जाती है[२] ।

पातिव्रत्य और सतीत्व

पातिव्रत्य और सतीत्व को भी संतों ने भक्ति के प्रतीकरूप में चुना है । भारतीय नारी के लिए सतीत्व का भाव सर्वोत्तम आदर्श माना गया है । 'आशिकी भाव' की भक्ति में तल्लीनता पर अधिक बल है और पातिव्रत्यभाव की भक्ति में सर्वतोभावेन समर्पण पर अधिक बल है । इस भाव की भक्ति में सेवा, प्रेम, निरन्तरस्मरण, सर्वस्व त्याग, पूर्ण समर्पण, तल्लीनता और तद्गतचित्तत्व के भाव एकत्र आवश्यक हैं । यहां तक तो यह भक्ति द्वैतभूमिका पर

---

१ पलटू सा० की बानी - प्रेम, ६३

२ वही, ६४ ।

आधारित है लेकिन 'अरे पिया के साथ' वाली स्थिति पर आकर, यही भक्ति अद्वैत की भूमिका प्राप्त कर लेती है[१]। कहने का अर्थ यह है कि संत कवि ने पातिव्रत्य को द्वैतभाव की भक्ति का प्रतीक माना है और सती जैसे जल जाने को, अद्वैतभाव की भक्ति का प्रतीक माना है ।

अन्तर्दर्शन

सूक्ष्म मार्ग

संतों ने अन्तर्जगत को एक मार्ग से तुलनीय माना है, यह सूक्ष्म मार्ग कठिन मार्ग है जो सुर-नर-मुनि, ब्रह्मा, विष्णु और महेश के लिए भी अगम्य है । यह अपार और निराधार है[२]। इस मार्ग पर बिना पांव से चल कर शून्य-स्थान में पहुंचा जाता है जहां पर अशरीरी पुरुष का स्थान है[३]।

यह मार्ग इतना विस्तृत है कि उसको जन्म-जन्मान्तों में समाप्त किया जा सकता है लेकिन यदि गुरु की सहायता मिल जाए तो गन्तव्य तक पहुंचने में एक क्षण भी नहीं लगता है[४]।

इस मार्ग पर चलने के लिए भाव की आवश्यकता होती है और वह भी उज्ज्वल भाव की[५]। यहां पर उज्ज्वल भाव से तात्पर्य सतोगुणी भावों से है।

इस मार्ग की अभिज्ञता भी सबको नहीं होती है, केवल सतगुरुओं को होती है जो वहां तक पहुंचे होते हैं । ऐसे ही गुरु आवागमन मिटा सकते हैं[६] ।

अत: सतगुरु के निर्देश पर चलना चाहिए[७]।

---

१ पलटू सा० की बानी, पृ० ४५, पद १०७, १०८ ।
दा० द० बानी- पृ० २७, पद- ६२, ६३, ६४ ।

२ सा० ग्र० - सूक्ष्म मार्ग को अंग - १, २, ३, ४

३ वही, २४

४ वही, ६, १६

५ वही, १०

६ वही, १८

७ वही, २६ ।

इस मार्ग पर आरूढ़ होने वाला साधक, अन्त में अन्तिम स्थान तक पहुंच जाता है और वहां पहुंच कर परमतत्व के साथ अद्वैत की स्थापना कर लेता है[१]।

दिव्यानुभूति (परचा)

सूक्ष्म मार्ग से होकर जो अन्तरदर्शन कर लेता है उसे ही दिव्यानुभूति होती है[२]। इस दिव्यानुभूति को संतों ने 'परचा', 'आतम अनुभव' आदि नामों से अभिहित किया है जिसे अवर्णनीय भी कहा है[३]। इसे केवल अनुभव किया जा सकता है ।

आत्मानुभूति परमशान्तिमय अवस्था है । चित्र-लिखित दीपक की लौ की भांति अन्त:करण आत्मभाव में अवस्थित हो जाता है और सर्वत्र वही एक तत्व दीख पड़ता है[४]।

गूंगे का गुड़

आत्मानुभूति को अनुभव किया जा सकता है व्यक्त नहीं इसलिए कि अनुभवकर्ता के पास उस अशरीरी अनुभूति को व्यक्त करने के लिए साधन ही नहीं हैं । इस स्थिति को बताने के लिए इसे गूंगे का गुड़ कहा गया है[५]।

पानीहिम

परम तत्व की अनुभूति स्वत: परमतत्व होकर की जाती है । इस भाव को व्यक्त करने के लिए पानीहिम के प्रतीक को संतों ने चुना है । यह स्थिति भी अनिवर्चनीयता की स्थिति है । वर्णन तो द्वैत-स्थिति में सम्भव

---

१ सा० ग्र० - सूक्ष्म मार्ग को अंग - ३०
२ साखी ग्रंथ - आतम अनुभव को अंग, पद १२
३ वही, १०
४ वही, २ और १३
५ वही, ३,४ ।

है । जब वर्णन करने वाले का अस्तित्व ही समाप्त हो जाए तो कौन वर्णन करे और किसका करे[1]।

उपर्युक्त दोनों प्रतीकों के माध्यम से यह कहा गया है कि अनुभूति तो सम्भव है - अभिव्यक्ति नहीं ।

अन्धे का हाथी

आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति के साथ एक और कठिनाई है - वह यह कि यद्यपि सत्य एक है लेकिन उसे भिन्न भिन्न प्रकार से भिन्न भिन्न प्रतीकों के माध्यम से कहा गया है । परिणाम यह होता है कि वर्णन की भिन्नता और प्रतीकों की भिन्नता के कारण एक ही सत्य अज्ञानी-जनों को बहुविध प्रतीत होता है, जिस प्रकार अंधों के द्वारा हाथी का वर्णन[2]।

देश

दूसरी स्थिति यह है कि जो वर्णन हैं भी वे सामान्य पाठक के लिए अटपटे हैं । जैसे संत कबीर ने उस चरम स्थिति को एक देश कहा है, और कहा है कि उस देश में न सुख है, न दुख है, न आकाश है और न धरती है । वहां पर अरूप-रूप है जो अविनाशी है । वहां अखण्ड प्रकाश है लेकिन दीपक नहीं है । वहां सर्वदा-सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है[3]।

उपर्युक्त वर्णन प्रतीक बहुल है और रहस्यपूर्ण है लेकिन कुल मिलाकर संत कबीर का कथन है कि दिव्यानुभूति की अवस्था द्वंद्व से परे है । वह परमज्ञान और परमानन्द स्वरूप है ।

प्रकाश

ज्ञान के लिए प्रकाश का प्रतीक बहुपरिचित है लेकिन परमज्ञान को प्रकाश के प्रतीक द्वारा स्पष्ट करने के लिए केवल प्रकाश कह देने से काम नहीं

---

१ साखी ग्रंथ - परिचय का अंग, पद २५

२ वही, पृ० ५०३

३ वही, परिचय की अंग, ६,७,८,९,१० ।

चलेगा - ऐसा संत कबीर को प्रतीत हुआ होगा अत: उन्होंने प्रकाश को अन्यान्य विशेषणों से मंडित करके अपने कथ्य को स्पष्ट किया है ।

कबीरदास के अनुसार आत्मानुभूति की दशा 'झिलमिली जोति, तेजपुंज, अनन्त तेज, निर्मलसूर, चहुंदिशि चमकने वाली दामिनी और सत्य के नूर' जैसी है[१]। संत कवि ने एक पद में प्रकाश के साथ सत्य भी जोड़ दिया है, अत: कह सकते हैं - दिव्यानुभूति अथवा आत्मानुभूति सत्य-स्वरूप और ज्ञान-स्वरूप है ।

रस

दादू जी ने उपर्युक्त दशा को रस कहकर बताया है । रस का अर्थ होता है - आनन्द । अत: उपर्युक्त दशा परमानन्द स्वरूप है[२]।

यदि उपर्युक्त दोनों कथनों को एक साथ मिलाकर कहना चाहें तो कहा जायगा कि दिव्यानुभूति की अवस्था सत् चित और आनन्द स्वरूप अवस्था है जहां तीनों तत्व एकमएक होकर एकत्र विराजमान हैं ।

घर

कबीरदासजी ने इस स्थिति को सबसे 'न्यारा घर' कहा है, जहां पर पूर्णपुरुष रहता है । यहां पर सुख-दुख, सांच-झूठ, पाप-पुण्य, रात-दिन, प्रकाश-अंधकार, ज्ञान-ध्यान, जप-तप, वेद-कुरान, पिण्ड-ब्रह्माण्ड, फूल-बेलि, बीज-वृक्ष, औऽं-सोऽं, निर्गुण-सगुण और स्थूल-सूक्ष्म कुछ भी नहीं है[३]। कबीरदास जी की यह शैली नेति-नेति की शैली है जिसके द्वारा वे कहना चाहते हैं कि दिव्यानुभव की स्थिति अलौकिक है, अवर्णनीय है ।

---

१ वही - पद- ४५,४६,४८,५४,५५
दादू दयाल वाणी १ - पीव पिछाण को अंग - पद-२६

२ दादू दयाल वाणी 1 , पृ० ७४।३३८,३४६

३ कबीर साहब की शब्दावली, भाग ३, पृ० २, शब्द १

मिलन

नर-नारी के मिलन के सुख को भी अभिव्यक्त करना कठिन है, जो भोगते हैं वे ही उसे जानते हैं। फिर तो अलौकिक आनन्द का क्या कहना ! उसकी अभिव्यक्ति तो असम्भव ही है[१]। फिर भी पलटू दास ने, इस आनन्द को मिलन के प्रतीक के माध्यम से कहा है कि, मैंने जबसे प्रियतम को प्राप्त किया है तब से आनन्द-विभोर हूं। मन से जगत के द्वन्द्व निकल गए हैं और परमशान्ति की प्राप्ति हो गयी है। मैं, अब प्रिय के अंग से अंग लगाकर साथ सोने का आनन्द ले रही हूं। मेरे अन्तःकरण में परमप्रीति जग गयी है। और जगत से वैराग्य हो गया है तथा हृदय की ग्रंथियां खुल गयी हैं[२]। यदि पलटूदास के सम्पूर्ण पद को अलौकिक प्रतीक के अर्थ में देखें तो इसका तात्पर्य होगा कि आत्मानुभूति की दशा की प्राप्ति होने पर द्वन्द्वरहित परम शान्तिमय परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है।

---

१ साखी ग्रन्थ - आतम अनुभव को अंग - ५

२ पलटू सा० की बानी (पहला भाग)।

पंचम अध्याय

परवर्ती साधना पर प्रभाव

साधना

सृष्टि के रहस्य को जानने की दिशा में दो प्रकार से प्रयत्न हुए हैं जिसमें एक में तो बुद्धि की सहायता से उसे समझने का प्रयास है और दूसरे में बुद्धि से परे, और उच्चतर साधनों के द्वारा उसे जानने का दावा है। दूसरी कोटि के साधनों में एक सर्वाधिक मान्य साधन योग है।

प्राचीन मत

योग साधना का इतिहास प्राचीन है क्योंकि वेदों में इसका उल्लेख मिलता है[१]। ऋग्वेद में इसका प्रयोग अप्राप्त की प्राप्ति, सम्बन्ध, जुआ तथा जीतने आदि के अर्थ में मिलता है[२]। उपनिषदों में योग-चर्चा अधिक स्पष्ट रूप में मिलती है[३]। लेकिन एक व्यवस्थित शास्त्र के रूप में योग शब्द का व्यवहार महर्षि पतंजलि ने किया है और इसे चित्त की वृत्तियों के निरोध का साधन माना है। कालान्तर में विभिन्न पुराणों में शब्दान्तर से योग शब्द का प्रयोग पातंजलि योग के अर्थ में ही हुआ है[४]। जैन साधकों ने योग को मोक्ष प्राप्ति का साधन माना है[५]। शाक्तों ने योग को जीवात्मा पर पड़े आवरण को हटाने और

---

१ ऋग्वेद संहिता, ६-६७-४६
यजुर्वेद - १२-६८। सामवेद- २-३-१०-३। अथर्ववेद - १६-१-८-२।

२ A History of Indian Philosophy, Pt.I, Dr.Surendra Nath Das Gupta, page 226
Indian Philosophy, Pt.II, Dr.Radhakrishnan, page 532.

३ कठ- २-६-७, ११, १२, ८। प्रश्न - ३-६-७।
श्वेताश्वतर - १-८-६। छान्दोग्य १-१३-४, ४,३-३-४।

४ लिंग- ७-८, अग्नि ३७२-२, कूर्म १२-१२।

५ द्वात्रिंशिका- यशोविजय १०-१, योगविंशिका- हरिभद्रसूरि- १।

आत्मा तथा परमात्मा की अभेदानुभूति के लिए योग को एक प्रभावी साधन माना है[१]।

नवीन मत

आधुनिक विचारक जिन्होंने योग के सम्बन्ध में विचार किया है वे भी शब्द-भेद से मुख्यरूप से चित्त-वृत्ति-निरोध तथा आत्मा-परमात्मा की अद्वैत भावना की साधना को ही योग माना है[२]। अत: कुल मिला कर समाहार रूप में कहा जाए तो कविराज जी के शब्दों में यही कहा जा सकता है कि 'प्राचीन भारतीय साहित्य में 'योग' शब्द नाना प्रकार के व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। फिर भी इसका जो आध्यात्मिक अर्थ है, उसमें प्रकार भेद होने पर भी, मूलत: कुछ अंशों में सामंजस्य पाया जाता है। जीवात्मा और परमात्मा के संयोग को योग कहा जाए अथवा प्राण और अपान के संयोग, चन्द्र और सूर्य के मिलन, शिव और शक्ति के सामरस्य, चित्तवृत्ति के निरोध अथवा अन्य किसी भी प्रकार से योग का लक्षण निश्चित किया जाए, मूल में विशेष पार्थक्य नहीं है'[३]।

योग शिखोपनिषद् में एक महत्वपूर्ण बात कही गयी है, वह यह कि सभी योग मूलत: एक मूलभूत योग के ही प्रकार हैं और उसे 'महायोग' कह सकते हैं और जिसके प्रभेद रूप में मंत्र, लय, हठ और राजयोग की गणना कर सकते हैं[४]। इन्हीं उपर्युक्त चार योगों को मूलभूत योगों के रूप में अन्य योग ग्रन्थ भी स्वीकार

---

१ Shakti and Shakta - Sri John Woodrugh , page 632
The Serpent Power- Sir John Woodrugh , page 184

2 The Six Systems of Indian Philosophy - Maxmuller, page 309
Hindu Philosophy, Theo Burnard, page 86
Out Lines of Indian Philosophy, M. Hriyyana, page 110.

३ योगांक, पृ० ५१

४ योग शिखोपनिषद् - १।१२६ ।

करते हैं[१] तथा इस सम्बन्ध में विचार करने वाले कई आधुनिक विद्वान भी इसका समर्थन करते हैं[२]। इस सम्बन्ध में विचार करने वालों में कतिपय कर्म, भक्ति और ज्ञान को योग के विभिन्न रूपों में स्वीकार करते हैं लेकिन सत्यत: इन तीनों की अवस्थिति राजयोग के अन्तर्गत ही है[३]। अत: इन दृष्टियों को सामने रखकर विचार करने पर एक महायोग का विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण लगता है क्योंकि जब गंतव्य की एकता निर्विवाद है तो मार्ग की एकता भी सम्भाव्य है। पं० श्री पाद दामोदर सातवलेकर जी ने 'सम्पूर्ण योग' को काम्य माना है और बताया है कि 'मनुष्य के पास आत्मा, बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रियां, पंचभूत आदि अनेक पदार्थ हैं। इन सबका एक साथ योग होने पर ही सम्पूर्ण योग हो सकता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि,अहंकार यह आठ प्रकार की अपरा-प्रकृति और नवीं जीवरूप परा-प्रकृति है। अर्थात् यह नौ प्रकार की ईश्वर की प्रकृति है। क्या यह नौ प्रकार की प्रकृति जीव के पास नहीं है? है, अवश्य है'[४]। अत: ईश्वर की उपर्युक्त नौ शक्तियों के साथ जीव की शक्तियों का योग ही सम्पूर्ण योग है। आगे पं० सातवलेकर जी ने बताया है कि इसकी साधना पांच सोपानों में पूर्ण होती है।

पहली स्थिति में साधक के निज की प्रकृति और परमात्मा की प्रकृति में साम्यानुभव करना है।

---

१ योगतत्वोपनिषद् - ११
शिव संहिता - ५।१४

२ The Serpent Power, page 185

३ Tantras their Philosophy & Occult Secrets
Bose & Haldar, page 166.

४ सम्पूर्ण योग (योगांक), पृ० २०७
गीता- ७।४-५।

दूसरी में यह विचार करना होगा कि क्या पंचमहाभूत पृथक पृथक सत्ताधारी हैं अथवा एक ही सत्ता के पांच गुण, भिन्न भिन्न इन्द्रियों से, भिन्न भिन्न रूप में अनुभूत हो रहे हैं ।

तीसरी स्थिति में, यह सब है, यह प्रतीत होता है और यह प्रिय है यानी जिसे संक्षेप में सत्-चित्-आनन्द अथवा अस्ति-भाति-प्रियत्व कहते हैं का अनुभव चराचर जगत में करना होगा ।

चौथी स्थिति में शरीर के प्रति जड़ भावना और जीव को चेतन रूप में देखना होगा । अन्तिम पांचवीं स्थिति में सब को आत्ममय देखना होगा[१]। कुल मिला कर यदि देखा जाए तो इसे शिवो हम्, सो हम् अथवा अहंब्रह्मास्मि की साधना के रूप में ही देखा जा सकता है, पृथक नहीं ।

महर्षि अरविन्द ने अपने योग को पूर्ण योग कहा है जिसके अनुसार मनुष्य के अन्तरतम के देवत्व के द्वारा देह, प्राण और मन को पूर्ण विकसित करके, जीवन को दिव्य जीवन में रूपान्तरित करना होगा । रूपान्तरण का यह कार्य अतिमानस के आविर्भाव के द्वारा सम्पन्न होगा और यह आविर्भाव दिव्य स्पर्श के द्वारा होगा जिसके लिए साधक को उत्कट अभीप्सा जागृत करनी होगी और देह प्राण तथा मन को उस स्पर्श के योग्य बनाना होगा[२]।

महायोग, सम्पूर्णयोग और पूर्णयोग की चर्चा का अभिप्राय इतना ही है कि ये योग प्रभाव की व्यापकता लिए हुए हैं ।

सन्त साधना

संतमत की वृहत्त्रयी, कबीर, नानक और दादू द्वारा प्रवर्तित, सुरति शब्द योग भी व्यापक भूमिका पर प्रतिष्ठित एक परिपूर्ण योग है, जो सहज भी है और प्रभावी भी है । यही कारण है, यह साधन-पथ कालान्तर में भी आने

---

१ योगाङ्ग, पृ० २०६-२१० ।

२ वही- श्री अरविन्द का पूर्ण योग - श्री अनिलवरण राय, पृ० ३१३-३१५ ।

वाले संतों द्वारा ग्रहीत और समादृत होता रहा । संतों के अतिरिक्त मध्यकाल की अन्य धाराओं के साधकों पर भी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इसका प्रभाव पड़ा ।

सगुण साधकों पर प्रभाव

संत मत की वृहत्त्रयी के पश्चात् सगुण-भक्तों की वृहत्त्रयी, सूर, तुलसी और मीरा का आगमन हुआ । ये तीनों कवि सगुण-मतावलम्बी हैं । इनकी साधना-पद्धति भी उपर्युक्त पद्धति से अवश्य प्रभावित और अनुप्राणित हुई होगी, यह सहज अनुमेय है क्योंकि हर महनीय विचारधारा और हर महान साधना-पद्धति, आने वाले काल के विचारकों और साधकों को प्रभावित करती है । यहां विचार्य यही है कि संतों द्वारा प्रवर्तित उपर्युक्त साधन-मार्ग ने सगुण साधकों की साधना और तत्सम्बन्धित विचार को कितना प्रभावित किया ।

समानता

निर्गुणसाधक तथा सगुण साधक, दोनों भक्त हैं और दोनों प्रकार के साधकों को कृच्छ्र-साधना के प्रति उपेक्षाभाव है[१]। दोनों प्रकार के साधक शील तथा संयमपूर्ण-युक्त-जीवन के प्रति आस्थावान हैं ।

साधनागत समानता

इसके अतिरिक्त, मुख्य बात यह है कि जिस प्रकार निर्गुण साधना का मूलाधार त्रिसत्य है, उसी प्रकार सगुण साधना का भी मूलाधार त्रिसत्य ही है । जैसा कि ज्ञात ही है, क्रमश: ये त्रिसत्य हैं - सत्संग, सद्गुरु और सत्नाम ।

---

१ एक भक्ति में जानों और झूठ सब बात
और बात सब झूठ करै हठ योग अनारी ।
पलटू साहब की बानी, भक्ति कुण्डलिया-४६ ।

ब्रज युवतिन को योग सिखावत, ऐसो महा अनाड़ी ।
सूरदास ।

सत्संग

भक्त कवि सूरदास ने सत्संग को साधना के लिए नितान्त आवश्यक माना है, क्योंकि भगवान की प्रबल माया-भक्ति करने ही नहीं देती है । केवल उन्हीं क्षणों में चित्त परमेश्वर चिन्तन में लीन हो पाता है जिन क्षणों में साधक साधुसंगति में बैठा होता है[1]। जीवन-काल अल्प है तथा जीवन की सार्थकता भोग में नहीं भजन में है और भजन बिना संत्संग के सम्भव ही नहीं है । अत: संत्संग होते रहना चाहिए, जिससे मनुष्य-जीवन, व्यर्थ न जाने पाए ।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने संत्संग को चलता-फिरता तीर्थराज प्रयाग कहा है, जहां रामभक्ति की गंगा निरन्तर प्रवाहित होती रहती है । जहां ब्रह्म-विचार की सरस्वती, कर्माकर्म-विचार-कथा जैसी यमुना का प्रवाह चलता रहता है । सत्संग रूपी प्रयाग, सभी देश और काल में समान रूप से उपलब्ध है । संतसंग-तीर्थराज,क्लेश को हरने वाला और सद्य:फलप्रद है । संसार में जहां कहीं भी सद्बुद्धि, सुकीर्ति और सद्गति तथा विभूति है, सब कुछ सत्संगति के परिणामस्वरूप ही है । विवेक, आनन्द और सिद्धि की प्राप्ति मात्र सत्संग से ही संभव है । सत्संग की महिमा अपार है[2]।

मीरा बाई साधुसंग को भक्ति के लिए इतना आवश्यक मानती हैं कि उसके लिए वे सभी कुल-मर्यादाओं तक का परित्याग कर देने में लेशमात्र भी शंकित नहीं होती हैं[3]।

सद्गुरु

महात्मा सूरदास सद्गुरु की महिमा अवर्णनीय बताते हैं क्योंकि वह साधक शिष्य को माला-तिलक का मनोहर बाना देकर संसार में श्रेष्ठता प्रदान

---

१ सूरसागर (नागरी प्रचारिणी) विनय, पद ४५
वही, ७२, १५२, ३३०

२ रामचरित मानस (मंगला साहुल) गीता प्रेस, पृ० ३२ से ३४

३ मीरा बाई की पदावली, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, परिशिष्ट (ग)
फुटकर पद- २ ।

करता है । ज्ञान का प्रकाश देकर अज्ञान और माया से रक्षा करता है और अन्त में भवसागर में डूबने से बचाकर मुक्त कर देता है[१]।

ज्ञान के अतिरिक्त मुक्त होने के लिए एक प्रभावी मार्ग भक्ति का है और भक्ति के लिए नाम-स्मरण आवश्यक है । यह नामरूपी सच्चा धन भी सद्गुरु ही प्रदान करता है[२] जिससे जन्म सार्थक हो जाता है[३]।

गोस्वामी तुलसीदास, संत कबीर की भांति गुरु और गोविन्द को एक ही मानते हैं । गोस्वामी जी रामचरित मानस के प्रारम्भ में वन्दना करते हुए कहते हैं कि वस्तुत: गुरु भी परमेश्वर है, भले ही वह मनुष्य शरीर में है । गुरु परम वन्दनीय है, क्योंकि वह अज्ञानरूपी घोर अन्धकार का नाश, सूर्य की भांति करने में समर्थ है । गुरु के चरण, सुरुचि, सुवास और सरस अनुराग से पूर्ण हैं अर्थात् गुरु परमेश्वर के प्रति रुचि और अनुराग उत्पन्न करता है, जिससे सांसारिक कष्टों का शमन होता है, जिससे आनन्द की प्राप्ति होती है । गुरु के सदुपदेशों के द्वारा मन पर पड़ी हुई अज्ञान की मैल हट जाती है और साधक में सद्गुणों की वृद्धि होने लगती है । अज्ञान समाप्त होते ही उसे दिव्य-दृष्टि की प्राप्ति हो जाती है जिससे उसका अन्त:करण प्रकाशित हो उठता है । अन्त:करण में प्रकाश होने पर अन्त में आत्मसाक्षात्कार हो जाता है[४]।

मीरा बाई भी गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा प्रकट करती हुई कहती हैं कि वे तो गुरु-चरणों की प्यासी हैं क्योंकि बिना गुरु की कृपा के संसार के दुख सताते ही रहेंगे और अज्ञान समाप्त नहीं हो पायगा[५]। गुरु के द्वारा ही वह मार्ग

---

१ सूरसागर - षष्ठ स्कंध, द्वि० ख, पद ४१७

२ वही, विनय- ५६

३ वही, १५५

४ रामचरित मानस, पृ० ३१-३२

५ मीरा बाई की पदावली, परिशिष्ट(ग), पद ८ ।

प्राप्त होगा जिससे तन के दिए में मन की बत्ती जलेगी, प्रेम का तेल भरेगा जो निरन्तर जलता रहेगा[१], अर्थात् गुरु से ही साधना की सही जानकारी हो सकती है जिससे आत्मजागृति सम्भव हो पायगी[२]।

सतनाम

सन्तमत की साधना मूलतः नाम साधना है। कहना गलत नहीं होगा, भक्तों की भी साधना मूलरूप में नाम-साधना ही है। सूरदास जी का कथन है कि नाम-साधना को जिसने किया, उसका उद्धार हो गया[३]। राम नाम में अद्भुत शक्ति है। यह सगुण धर्म का अंकुर है जिसके 'रा' और 'म' दो दल हैं। ये दो अपार मुक्ति-वधू के कर्णफूल हैं। ये मुनि-हंसों की पांखें हैं जिनके सहारे उर्ध्व-गमन करते हैं। राम नाम के स्मरण से आवागमन समाप्त होता है। अज्ञान का अन्धकार मिटता है। ये दो सगुण सूर्य-चन्द्रमा से तुलनीय हैं, जो दिन-रात प्रकाश देते हैं और साधक को कुमार्ग से रक्षा करते हैं। ये दोनों लोकों में सुख देने वाले हैं तथा साक्षात् भक्ति-मार्ग एवं ज्ञान-मार्ग हैं[४]। नाम की अपार महिमा देखकर सूरदास जी अपने मन को समझाते हैं, कि तुम नाम-ग्रहण करो जिससे तुम कालाग्नि से बचे रहोगे। सांसारिक कार्य-कलापों को करते रहने के बावजूद भी तुम्हारा भक्ति-पंथ प्रकाशित हो रहेगा[५]।

आगे वे कहते हैं कि जिसका कोई आश्रय नहीं है उसके लिए नाम, धन है। इसे चोर चुरा नहीं सकता है। यह धन किसी हालत में कम नहीं होता है और अत्यन्त कठिन समय में काम आता है। नाम अविनाशी है, परमधाम तक

---

१ मीराबाई की पदावली- परिशिष्ट(ग), पद ६

२ वही, ५

३ सूरसागर - दूसरा खण्ड- विनय, पद ८६

४ वही, ६०

५ वही, ६१।

पहुंचाने वाला है[१]। राम नाम, चार वेद, छः शास्त्र और सभी पुराणों का सार है । यह सर्वोत्तम मंत्र है और प्रत्येक शरीर में स्वयं ध्वनित हो रहा है ।[२]

गोस्वामीजी ने भी राम नाम को वेदों का सारतत्व कहा है, जो निर्गुण है, उपमारहित है और समस्त गुणों का भण्डार है । इसे सीधा अथवा उल्टा कैसे भी जपा जाए प्रभावकारी है । यह परमेश्वर के अन्य किसी नाम से सहस्र-गुना अधिक फलप्रद है ।

राम नाम के दोनों अक्षर, मनोहारी और सुमधुर हैं, वर्णमाला के शरीर के नेत्र है, भक्तों के जीवन हैं । इसके स्मरण में किसी प्रकार का बन्धन नहीं है तथा दोनों लोकों में निर्वाह करने वाले हैं ।

गोस्वामीजी ने नाम को नामी से भी अधिक महत्वपूर्ण बताया है क्योंकि नामी हरदम नाम के पीछे ही चलता है, अतः नाम-नामी में स्वामी-सेवक का सम्बन्ध है ।

राम-नाम, मणि-दीप के समान है जिसमें प्रकाश तो है लेकिन जलन नहीं है । जो साधक इसे अपने शरीर की देहली, जीभ पर रखता है उसका बाह्य और अन्तर दोनों प्रकाशित हो जाता है ।

संसार-मुक्त, योगि-जन निरन्तर नाम का स्मरण करते हुए अनिवर्चनीय ब्रह्म-सुख का अनुभव करते हैं । नाम-जप से, ब्रह्म के गूढ़ रहस्य की अभिज्ञता होती है तथा साधकों को सिद्धि-प्राप्ति होती है ।

---

१ सूरसागर - दूसरा खण्ड - विनय - पद ६२

२ सूरसागर - सप्तम स्कंध - नृसिंह अवतार, पृ० २६६-२६७ ।

सांसारिक इच्छाओं की प्राप्ति भी नाम-स्मरण से होती है तथा जाफ के संकटों का नाश होता है किन्तु निष्कामभाव से नाम-स्मरण, वस्तुत: स्मरण है ।

ब्रह्म के दो रूप हैं - सगुण तथा निर्गुण । नाम इन दोनों से बड़ा है, क्योंकि दोनों नाम के वश में हैं । नाम-स्मरण से ही दोनों का साक्षात्कार होता है । हनुमान-नारदादि जैसे सभी महान साधकों ने नाम-स्मरण से ही सिद्धि प्राप्त की है । कहना गलत नहीं होगा, कलियुग में तो नाम-स्मरण से बढ़ी कोई दूसरी साधना है ही नहीं किन्तु कलियुग के अतिरिक्त, अन्य युगों में भी नाम-साधना एक प्रभावी और महत्वपूर्ण साधना रही है । अत: भाव-पूर्वक अथवा बिना भाव के, जैसे भी हो, नाम-स्मरण होते रहना चाहिए क्योंकि नाम-स्मरण प्रत्येक स्थिति में प्रत्येक काल में मंगलकारी है[१] ।

परम भक्तिन मीरां भी राम-नाम को रत्न-धन जैसे मूल्यवान कहती हैं, पुन: कहती हैं कि ऐसा कहना गलत है, वस्तुत: नामधन तो अमोल है । जो इसे पा लेता है उसका जन्म धन्य हो जाता है । इसे संसार में सब कुछ खोकर प्राप्त करना चाहिए । यह धन ऐसा है कि समाप्त नहीं होता है बल्कि दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही चला जाता है । सत्यनाम, सद्गुरू से प्राप्त होता है और उसके सहारे साधक भवसागर पार कर जाता है[२]। इसलिए मैंने मात्र नाम का सहारा लिया है और अन्य सारे आश्रयों का परित्याग कर दिया है[३]।

भक्त साधकों की साधना का मूलाधार त्रिसत्य ही है, इसकी पुष्टि 'नवधाभक्ति' प्रसंग से हो जाती है । भगवान राम ने त्रिसत्य को नवधाभक्ति के प्रारम्भ में रखा है, इतना ही प्रमाणरूप में अलम् है ।

---

१ रामचरित - बालकाण्ड, पृ० ५१-५६ ।
२ पायो जी मैंने राम रतन धन पायो - मीरां
३ मीरां बाई की पदावली - परिशिष्ट (ग) फुटकर, २ ।

निर्गुण

सगुणोपासक होने के बावजूद भी भक्त-कवियों में निर्गुण के प्रति आस्था और सम्मान है। सूरदास जी कहते हैं कि उस परमतत्व का स्वरूप 'अविगत' है और वह मन-वचन और कर्म से अगोचर है[१]। मीरां भी कहती हैं कि मेरा 'बालम' 'अविनाशी' है, उससे मेरी प्रीति सच्ची है, मैं उसका दर्शन चाहती हूं। उसके नाम का मैंने चूड़ा धारण कर रखा है। मेरा चूड़ा अमर है। मेरी दृष्टि निर्मल हो गयी है क्योंकि मैंने निर्गुण का सुरमा लगा रखा है[२]।

गोस्वामी जी भी उसे अविनाशी तथा सर्व-घट-वासी मानते हैं। वह व्यापक है, परमानन्द देने वाला है, अविगत है, इन्द्रियों के अनुभव से परे है और मायातीत सच्चिदानन्द स्वरूप है।

वह ब्रह्म सभी कारणों का कारण है। अचिन्त्य और अवर्णनीय है[३]। वह अनन्त, गुणातीत, मायातीत और अनिर्वचनीय है[४]।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भक्त साधकों को निर्गुण के प्रति विश्वास और भक्ति दोनों ही है।

स्मरण

सगुण-साधकों की भक्ति-साधना का प्रारम्भ 'सुमिरन' से होता है। स्मरण, साधक को उसी प्रकार पवित्र कर देता है जिस प्रकार गंगा, स्नान करने वाले को पवित्र कर देती है[५]।

नाम-स्मरण की विधि सबके लिए सरल है क्योंकि इसमें विधि-निषेध कुछ भी नहीं है और ऊंच-नीच कोई भी इस मार्ग को ग्रहण कर सकता है। स्मरण

---

१ सूरसागर, प्रथम स्कंध, पद १०५, १६०

२ मीरां बाई की पदावली, पृ० १०८, १२८, १२६, २३६

३ रामचरित, बालकाण्ड - १८८

४ वही, १६३

५ सूरसागर, 'श्री भागवत प्रसंग'- २२४।

के लिए एक ही चीज आवश्यक है - वह है, नाम में चित्त का रमना[1]। चित्त को रमाने के लिए उसे संसार के धन्धों से निकालना पड़ेगा तब जाकर कहीं उसमें स्थिरता आएगी और स्मरण में रमण कर पाएगा[2]।

तुलसीदास जी ने नवधाभक्ति प्रसंग में यद्यपि 'मंत्र जाप मम दृढ़ विश्वासा' कहा है[3] लेकिन मंत्र से उनका तात्पर्य रामनाम से ही है, क्योंकि अन्यत्र उन्होंने राम-नाम को ही महामंत्र कहा है - 'महामंत्र जेहि जपत महेसू, कासी मुकुति हेतु उपदेसू'। इस महामंत्र की महिमा प्रदान करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं कि इसे शिव निरन्तर जपते रहते हैं और उनके द्वारा जो लोग मरणोपरान्त मुक्त किए जाते हैं, वे इसी मंत्र के प्रभाव से किए जाते हैं, किन्तु अन्यत्र यह भी कहते हैं कि मात्र तोता रटंत स्मरण नहीं है बल्कि स्मरण-क्रिया से साधक का सम्पूर्ण अस्तित्व प्रभावित होना चाहिए - 'प्रभु गुन गावत पुलक सरीरा, गद् गद् गिरा नयन बह नीरा'।

मीरां भी 'सुमरण' को ही साधना का प्रारम्भ मानती हैं[4]। आगे कहती हैं कि नाम-स्मरण सबसे हो नहीं पाता है क्योंकि सामान्य आदमी संसारी होता है, उसे सोने, खाने और सांसारिक काम धंधों में ही आनन्द आता है तथा वह अमूल्य मानव-जीवन इन्हीं व्यर्थ के प्रपंचों में खो देता है[5]।

स्मरण-विधि पर प्रकाश डालती हुई, वे कहती हैं कि यह क्रिया सहज-वैराग्य के द्वारा संपादित होती है। सहज-वैराग्य की विधि बताती हुई कहती हैं कि सर्व प्रथम साधक को स्मरण के लिए चित्त की भूमिका परिशुद्ध करनी होगी और चित्त की भूमिका बनेगी - उसे मुक्त करने से। मनुष्य का चित्त, काम,

---

१ सूरसागर, विदुर-गृह, भगवान भोजन - २३७

२ वही, मन प्रबोध, ३३०

३ रामचरित, अरण्यकाण्ड, ६४०

४ मीरा बाई की पदावली, अपनी टेक, पद २१

५ वही, संसार- पद- १५६।

क्रोध, लोभ और अहंकार से युक्त है, अत: इसे इनसे प्रयमत: मुक्त करना होगा, पुन: प्राणि मात्र के प्रति समता का भाव उत्पन्न करना होगा । यदि ऐसा नहीं होगा तो स्मरण, मुख में तो होता रहेगा उसका प्रभाव साधक के अन्त:करण तक नहीं हो पाएगा । जब भूमिका परिशुद्ध हो जाएगी तब स्मरण अपने आप हृदय से होने लगेगा[१]।

ध्यान

सुरति शब्द योग की साधना में ध्यान को जो विधि है, ठीक उसी विधि को भक्त सूरदास ने बताया है । उनका भी कथन है कि आंखों को बन्द कर आंख के भीतर ही ध्यान करना चाहिए[२], जिसे कबीरादि संत तिल पर ध्यान जमाना कहते हैं ।

मीरां ने भी निर्गुण-ध्यान की चर्चा करते हुए कहा है, 'जाको नाम निरंजन कहिए ताको ध्यान धरेंगी'[३]। अन्यत्र 'रामखुमारी' कह कर ध्यान विधि पर प्रकाश डालती हैं । 'खुमारी' शब्द से लय भाव का बोध होता है जिसका सीधा अर्थ है - ध्येय में लीन हो जाना । मीरां जिस ध्यान की चर्चा करती है उसे सभी जान भी नहीं सकते, इसका रहस्य सद्गुरु को ही ज्ञात है[४]।

संतों ने जिसे सोहं कहा है, उसे ही तुलसीदास जी ने 'सोहमस्मि इतिवृत्ति अखण्डा, दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा । आतम अनुभव सुख सुप्रकासा, तब भवमूल भेद भ्रम नासा'।। 'सोहमं' की वृत्ति के साथ, दीपशिखा से ध्यान

---

१ मीरां बाई की पदावली - संसार - पद १५८

२ सूरसागर - विनय - तृष्णावर्णन, पद ७२

३ मीरां बाई की पदावली - परिशिष्ट (ग), १९

४ वही, १४ ।

विधि पर प्रकाश पड़ता है कि ध्यान, निर्वात-निष्कम्प-दीप शिखावत होना चाहिए अर्थात् ध्यान में लीनता और एकतानता होनी चाहिए । ऐसे ध्यान से आत्मानुभव का प्रकाश प्राप्त होता है और भव-मूल-भ्रम का नाश होता है[१]।

दिव्यनाद

घट के भीतर अनहदनाद और अन्यान्य नादों की चर्चा भी भक्ति साहित्य में मिलती है । नाद-श्रवण की दशा को मीरां आनन्दात्मक दशा मानती हैं, इसलिए ही इसको 'होरी' कहती हैं और जैसे होरी में अनेक वाद्य बजते हैं, वैसे ही घट के भीतर भी एकसाथ बजता है लेकिन वह बिना बजाए बजता है । इसके भीतर ही अनहद की झंकार होती है तथा छत्तीसों राग-रागिनियां निरंतर बजती रहती हैं और एक एक रोम उस आनन्द से पुलकायमान होता रहता है[२]।

दिव्यानुभूति अथवा परचा

संतों ने दिव्यानुभूति को अनेक रूपकों-प्रतीकों आदि के माध्यम से व्यक्त किया है । मीरां बाई उस अवस्था को 'अगम देश' कहती हैं, जहां काल का भय समाप्त हो जाता है । इस देश के हौज-प्रेम-जल से भरे हैं जिनमें हंस केलते रहते हैं[३]।

एक अन्य पद में इस अवस्था को देश न कहकर उसे वे गांव कहती हैं जो बहुत दूर बसा है । इस गांव में प्रवेश के सभी मार्ग बन्द हैं । रास्ते ऊंचे-नीचे हैं, जिन पर पांव स्थिर नहीं हो पाते हैं । ऐसे दुर्गम मार्ग से जाने पर सबसे

---

१ रामचरित - उत्तरकाण्ड - पृ० ६८४

२ मीरां बाई की पदावली- परिशिष्ट (ग), १०

३ वही - अगमदेश, पद १६३ ।

ऊंचाई पर 'पिया' का घर है, वहां पहुंचने का मार्ग न केवल बहुत लम्बा ही है, बहुत संकरा है और बीच बीच में पहरे बैठे हैं जो जाने से रोकते हैं । कहीं कहीं 'बटमार' भी हैं जो लूट लेते हैं, लेकिन सद्गुरु की शरण में जाने पर यह अगम्य भी गम्य बन जाता है ।[1]

गोस्वामीजी ने भी इस रहस्यानुभूति का वर्णन काकभुशुण्डि जी के माध्यम से किया है । सप्तावरणों को भेद कर एक बार काकभुशुण्डि जी ब्रह्मलोक गए । वहां भी भगवान राम को देखा जो मुस्करा रहे थे । उनके हंसते ही भुशुण्डि जी उनके मुख में प्रवेश कर गए । उदर के भीतर पहुंच कर उन्होंने अनेक ब्रह्माण्डों को देखा जो अपनी विचित्रता में एक दूसरे से बढ़कर थे तथा इनके भी करोड़ों ब्रह्मा और शिव थे । अनेक सूर्य, अनेक चन्द्रमा, अनेक लोकपाल, यम तथा अनेक लोकों को भी देखा जहां देवता, मुनि, सिद्ध, नाग, मनुष्य तथा किन्नरादि विचर रहे थे ।

इन प्रत्येक लोकों में भुशुण्डि जी एक एक सौ वर्ष रहे और देखा कि प्रत्येक लोक के भिन्न भिन्न ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं । प्रत्येक लोक में भिन्न भिन्न मनु, दिक्पाल, मनुष्य, गन्धर्व, भूत, वैताल, किन्नर, राक्षस, पशु और पक्षी आदि हैं ।

प्रत्येक ब्रह्माण्ड में अयोध्या, लक्ष्मण, भरत, सीता और कौशल्यादि को भी भुशुण्डिजी ने देखा । इस यात्रा में सब कुछ भिन्न भिन्न ही दीख पड़ा लेकिन दो चीजों को एक सा अपरिवर्तनीय देखा - वे हैं, भुशुण्डि का निज-रूप और राम-रूप[2]।

यह वर्णन, अन्य वर्णनों से कुछ भिन्न है । इसकी एक भिन्नता तो यह है कि इसका वर्णन अन्य पुरुष के माध्यम से है - स्वानुभूति कहकर नहीं है। दूसरी भिन्नता यह है कि इसमें भुशुण्डि और राम अविकारी और अपरिवर्तनीय हैं तथा दोनों की सत्ता अन्त तक अलग अलग बनी रहती है ।

---

१ मीरां बाई की पदावली - परिशिष्ट, पद-१५

२ रामचरित - उत्तरकाण्ड - ६४१-६४३ तक ।

रसिक सम्प्रदाय पर प्रभाव

शृंगारिक प्रतीक-माध्यमों से भी संतों ने अपनी दिव्यानुभूति को वर्णित किया है, यह पूर्व अध्याय में देख ही चुके हैं। अत: इसका सीधा अर्थ है कि उनका प्रवेश 'निर्गुण लीला' के 'रस-राज्य' में था जिसका सीधा प्रभाव मीरा की राग-साधना में दीख पड़ता है। बाद के रसिकभक्ति के साधकों पर भी इस महनीय साधना का प्रभाव पड़ा है - ऐसा रसिक-साधना के अध्ययन से पता लगता है।

संत-मत के साधकों में संत कबीर के प्रति एकान्त श्रद्धा का भाव है। संतों ने उन्हें श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है। संत गरीबदास उन्हें अपना गुरु मानते हैं और कहते हैं कि उन्हें संत कबीर ने अपने स्वत: दिव्य शरीर से दीक्षा दी थी[१]।

एकान्त आचार्यत्व तथा श्रद्धा

ऐसी ही स्थिति राममक्ति के रसिक सम्प्रदाय में परिलक्षित होती है। इस सम्प्रदाय की सभी शाखाओं में भगवान् हनुमान के आचार्यत्व को स्वीकार किया गया है तथा सभी में तुलसीदास के प्रति एकान्त निष्ठा और श्रद्धा के भाव हैं[२]।

निर्गुणब्रह्म तथा निर्गुण लीला

रसिक भक्तों ने भगवान् राम के निराकार रूप को मान्यता दी है[३]। उनकी निर्गुण लीला में इन्हें विश्वास है[४] तथा 'इनमें रसिकों की ध्येय, अप्राकृतिक - निर्गुण, अप्रकट अथवा तात्त्विक लीला होती है अतएव रसिक

---

१ गैबीसयाल विसाल सतगुरु। अचल दिगंबर धीर है
भक्त हेत काया धर आए। अविगत सत्य कबीर है।
सद्गुरु जैतराम जी की वाणी - कवर पृष्ठ।

२ राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय - डा० भगवती प्रसाद सिंह, पृ० १५७,१५६

३ वही, पृ० २८६

४ वही, पृ० २८०।

साहित्य में विशद विवेचना इसी की मिलती है[1]।

सत्संग

वैसे तो रसिक भक्त पूरे भारत में यत्र-तत्र बिखरे हैं लेकिन मिथिला, चित्रकूट और अयोध्या इन साधुओं के केन्द्र हैं, जहां घूम-घूम कर ये सम्पर्क स्थापित करते हैं और सत्संग करते हैं तथा इन स्थानों के पहुंचे महात्माओं से साधना संबंधी गूढ़ जिज्ञासाएं प्राप्त करते हैं[2]।

सद्गुरु

संतसाधना जिस प्रकार सूक्ष्म साधना है उसी प्रकार रसिक साधना भी सूक्ष्म और गोप्य है अत: इस प्रकार की साधना के लिए गुरु की अनिवार्यता निर्विवाद होती है । इस सम्प्रदाय में दीक्षा-गुरु और सद्गुरु दोनों का महत्त्व है । दीक्षा गुरु वे हैं जो मंत्र दीक्षा देते हैं । सद्गुरु के द्वारा ये रसमार्ग की दीक्षा ग्रहण करते हैं तथा इन्हें इतनी श्रद्धा देते हैं कि इन्हें सीताराम के नित्य परिकर के अवतार मानते हैं[3]।

सत्नाम

यद्यपि रसिक भक्त, सगुणभक्त हैं और उनके राम लीला पुरुषोत्तम हैं लेकिन राम नाम के निर्गुण स्वरूप अर्थात् उसके सत्-स्वरूप में उन्हें अपार निष्ठा है। यही कारण है उनका भी राम शब्द - ब्रह्म का पर्याय है, प्रणव का मूल है, परब्रह्म का नाम है तथा बीजरूप में उसके भीतर सब कुछ विद्यमान है[४]।

स्मरण

संत जिसे सुमिरन कहते हैं उसे ही रससाधक 'नाम अभ्यास' कहते हैं। इस साधना की पहली स्थिति में ये प्रातःकाल उठकर नाम-जप का अभ्यास करते हैं लेकिन ये उसकी मात्रा बढ़ाते जाते हैं और अन्त में ऐसी स्थिति आती है कि अहर्निश नाम-जप करते हैं[५]। कह सकते हैं, नाम एक प्रकार से उनका श्वास-प्रश्वास

---

१ राम भक्ति में रसिक संप्रदाय - डा० भगवती प्रसाद सिंह, पृ० २८२
२ वही, पृ० १६१
३ वही, पृ० २३०-२३१
४ वही, पृ० २०५
५ वही, पृ० २१०-२११

ही हो जाता है ।

ध्यान

रससाधना में ध्यान की एक विशद परिपाटी है लेकिन इनकी - ध्यान की तीन स्थितियां, जिन्हें ये ताड़न-ध्यान, आरती-ध्यान और मौक्तिक-ध्यान कहते हैं, प्रकारान्तर से ये निर्गुण ध्यान ही हैं[1]।

नाद प्राकट्य

ध्यान के द्वारा ही नाद-प्राकट्य होता है, प्रकाश का प्राकट्य होता है - ऐसे भी वर्णन इस साहित्य में स्पष्टरूप से प्राप्त हैं[2]।

संत-साहित्य में जिस स्थिति को मरजीवा और सहज की स्थिति कहते हैं, वही स्थिति रस साधकों में साधना-शरीर के प्राप्त होने पर होती है, इस शरीर का नाम, चिद् देह भी है । इस देह का सम्बन्ध प्राकृत देह तथा वय से लेशमात्र भी नहीं होता है । इसे एक प्रकार से दिव्य देह भी कह सकते हैं । यह देह पूर्णरूपेण परिशुद्ध होता है तथा प्राकृत देह की किसी प्रकार की विकृति से पूर्णरूपेण परे होता है ।[3]

इसी देह से साधक अपने इष्ट के सामीप्य का लाभ करता है । इस देह से साधक, इष्ट के प्रति जिस भाव की स्थापना कर लेता है, वह सम्बन्ध-भाव, स्थायी होता है ।

दिव्यानुभूति

संतों की दिव्यानुभूति अथवा परचा की स्थिति के समान रसिक भक्तों की लीला सुख-भोग की स्थिति है । दिव्यानुभूति की यह अनुभूति

---

१ राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय - डा० भगवती प्रसाद सिंह, पृ० २१३

२ वही, पृ० २१२

३ वही, पृ० २२६

परमानन्द की प्राप्ति ही है जिसे रस साधक तीन मार्गों में विभक्त करते हैं -

मनस्संभोग

दृष्टि संभोग

साक्षात् संभोग

उपर्युक्त पहले और दूसरे प्रकार के ब्रह्मानन्दास्वादन की अनुभूति साधनी अथवा द्रष्टा भाव से प्राप्त होती है और तीसरी स्थिति में वह स्वत: भोक्ता हो जाता है । दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि पहली दो स्थितियां, द्वैत की भूमिका पर अवस्थित हैं और तीसरी में अद्वैतसिद्धि हो जाती है[१]।

इस प्रकार यदि समग्ररूप से सम्पूर्ण भक्ति साधना को स्वतन्त्र करके देखें और विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति साधना का अन्त: करण, संत साधना से निश्चित रूप से प्रभावित और अनुप्राणित है ।

---

१ राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय - डा० भगवती प्रसाद सिंह, पृ० ३०५ ।

आधार काव्य ग्रन्थ-सूची

१) अखरावती - कबीर

२) अनुराग सागर - कबीर साहब

३) अमीघूंट - केशवदास

४) कबीर ग्रंथावली

५) कबीर साखी संग्रह

६) कबीर साहब की शब्दावली I, II, III

७) गरीबदास की बानी

८) गुलाल साहब की बानी

९) गुरु अन्यास - संत शिवनारायण

१०) ग्रंथ साहब (गुरु)

११) चरन दास की बानी

१२) जपु जी

१३) तुलसी साहब की बानी

१४) तुलसी साहब की शब्दावली

१५) दरिया साहब (बिहार) के चुने हुए पद

१६) दरिया साहब (मारवाड़) की बानी

१७) दया बाई की बानी

१८) दादूदयाल की बानी, I, II

१९) दूलनदास की बानी

२०) धरनीदास की बानी

२१) धनी धर्मदास की शब्दावली

२२) पलटू साहब की बानी

२३) पानप बोध

२४) प्राण संगली

२५) ब्रह्मचैतन्य- दरिया साहब

२६) भीखा साहब की बानी

२७) मलूकदास की बानी

२८) महात्माओं की बानी

२९) मीराबाई की पदावली - डा० चतुर्वेदी

३०) यारी साहब की रत्नावली

३१) रसरहस्य - कुलपति

३२) रज्जबदास की बानी

३३) रत्नावली - यारी साहब

३४) रामगीता - कीनाराम

३५) रामचरित मानस

३६) रैदासजी की बानी

३७) शब्दसार - तुलसीसाहब

३८) संतवाणी संग्रह

३९) संग्रह ग्रन्थ - संत शिवनारायण

४०) सद्गुरु कबीर साहब बानी

४१) सद्गुरु कबीर की साखी

४२) साखी ग्रंथ - कबीर साहब

४३) सारबचन (वार्तिक)

४४) सारबचन (छन्द बद्ध)

४५) स्वामी दादूदयालजी की अणभै बानी

४६) सुन्दर विलास

४७) सूर सागर

४८) हरिदेवदास जी की बानी

४९) ज्ञान गूदड़ी

५०) सद्गुरु श्री जैतराम जी महाराज की बानी

सहायक ग्रन्थ-सूची

हिन्दी पुस्तकें

१) अपार अनन्य - डा० अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव

२) आनन्द योग-प्रकाश - महर्षि शिवव्रतलाल

३) आर्य संस्कृत के आधार-ग्रंथ - पं० बलदेव उपाध्याय

४) उत्तरी भारत की संत परम्परा - आचार्य परशुराम चतुर्वेदी

५) उपनिषदों का अध्ययन - संत विनोबा

६) कबीर और उनका पंथ - डा० बेनीप्रसाद द्विवेदी

७) कबीर साहित्य की परख - आचार्य चतुर्वेदी

८) कबीर - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

९) कबीर साधना और साहित्य - डा० प्रताप सिंह चौहान

१०) कबीर एक विवेचन - डा० सरनाम सिंह

११) कबीर का रहस्यवाद - डा० सरनाम सिंह शर्मा

१२) काव्य कला और अन्य निबन्ध - श्री जयशंकर प्रसाद

१३) काव्य में रहस्यवाद - डा० बच्चूलाल अवस्थी

१४) कर्म योग या मौज - संत फकीर चन्द

१५) गीता रहस्य - पं० बालगंगाधर तिलक

१६) गोरख बानी - डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

१७) गुरुमत सिद्धान्त (खण्ड १) - संत सावण सिंह जी महाराज

१८) चरनदास - डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित

१९) छायावाद के गौरव चिन्ह - डा० नेम

२०) जायसी ग्रन्थावली - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

२१) तान्त्रिक साधना - माधव पुण्डलीक पण्डित

२२) तंत्र सिद्धान्त और साधना - पं० देवदत्त शास्त्री

२३) ध्यान सम्प्रदाय - डा० मत सिंह उपाध्याय

२४) नाथ सम्प्रदाय - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

२५) नाथ सम्प्रदाय का इतिहास - दर्शन व साधन प्रणाली - डा० कल्याणी मल्लिक

२६) नाथ सिद्धों की बानियां - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
२७) नाथ और संत साहित्य की भूमिका - डा० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय
२८) निर्गुणधारा - वैद्यनाथ तथा विश्वनाथ
२९) निर्बानी सम्प्रदाय और संत तुलसीदास - डा० भागीरथ मिश्र
३०) निमाड़ के संतकवि सिंगा जी - (संग्रह खण्ड)
३१) पंजाबी तात नामदेव - जोशी
३२) परमार्थी पत्र - संत बाबा जैमल सिंह
३३) बौद्ध दर्शन - पं० बलदेव उपाध्याय
३४) बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग १,२ - डा० बलदेवसिंह उपाध्याय
३५) बौद्ध धर्म दर्शन - आचार्य नरेन्द्र देव
३६) बौद्ध धर्म का मध्ययुगीन संत साहित्य पर प्रभाव - डा० विद्यावती मालविका
३७) भारतीय संस्कृति और साधना - म० म० पं० गोपीनाथ कविराज
३८) भगवान् बुद्ध - ऊनू (अनुवादक- डा० कृष्ण बिहारी मिश्र)
३९) भक्ति काव्य में रहस्यवाद - डा० रामनारायण पाण्डेय
४०) मध्यकालीन संत साहित्य - डा० रामखेलावन पाण्डेय
४१) महाकवि सूरदास - आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
४२) मंत्र और मात्रिकाओं का रहस्य - डा० देवीशंकर अवस्थी
४३) मुक्ति प्रकाश - मोहनपति साहब
४४) योग प्रवाह - डा० बड़थ्वाल
४५) रहस्यवाद - डा० राममूर्ति त्रिपाठी
४६) रहस्यवाद - आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
४७) रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय - डा० भगवती प्रसाद सिंह
४८) राधास्वामी योग - महर्षि शिवव्रतलाल
४९) विलक्षण अवधूत - दुर्गाप्रसाद त्रिवेदी
५०) संत काव्य में परोक्ष सत्ता का स्वरूप - डा० बाबूराव जोशी
५१) संत काव्य - आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
५२) संत काव्य में योग का स्वरूप - डा० रामेश्वर प्रसाद सिंह

५३) संत काव्य का दार्शनिक विश्लेषण - डा० मनमोहन सहगल

५४) संत दर्शन - डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित

५५) सिद्ध साहित्य - डा० धर्मवीर भारती

५६) संत साहित्य के प्रेरणा स्रोत - आचार्य परशुराम चतुर्वेदी

५७) संतमत का सप्रंग सम्प्रदाय - डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी

५८) संतमत - डा० प्रताप सिंह चौहान

५९) संतों का भक्ति योग - डा० राजदेव सिंह

६०) संत कवि दरिया - डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी

६१) संत और मंत्र - डा० राममूर्ति त्रिपाठी

६२) संत कवि रज्जब सम्प्रदाय और साहित्य - डा० ब्रजलाल वर्मा

६३) संत कबीर - डा० रामकुमार वर्मा

६४) स्थिति-प्रज्ञ-दर्शन - संत विनोबा

६५) सहज साधना - डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

६६) हिन्दी साहित्य - डा० श्यामसुन्दर दास

६७) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास - डा० रामकुमार वर्मा

६८) हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय - डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

६९) हिन्दी साहित्य की भूमिका - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

७०) हिन्दी साहित्य कोश - डा० धीरेन्द्र वर्मा

७१) हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास - डा० गणपतिचन्द्र गुप्त

७२) हिन्दी सन्त काव्य में प्रतीक विधान - डा० देवेन्द्र आर्य

७३) ज्ञानदेव चितनिका - संत विनोबा

संस्कृत पुस्तकें

१) ऋग्वेद
२) श्रीमद्भागवत
३) श्रीमद्भागवतगीता
४) अंगुत्तर निकाय
५) अमृतानुभव - ज्ञानदेव (मराठी)
६) अग्नि पुराण
७) अथर्वेद
८) ईशोपनिषद्
९) कठोपनिषद्
१०) केनोपनिषद्
११) कर्म पुराण
१२) काव्यादर्श - दण्डी
१३) काव्यालंकार सूत्रवृत्ति - वामन
१४) काव्य प्रकाश - मम्मट
१५) गोरक्ष सिद्धांत संग्रह
१६) गोरक्ष शतक
१७) गोरक्ष संहिता
१८) घेरण्ड संहिता
१९) चन्द्रावलोक - जयदेव
२०) चाणक्य
२१) छान्दोग्योपनिषद्
२२) तैत्तिरीयोपनिषद्
२३) दोहा कोश
२४) नादबिन्दूपनिषद्
२५) नारदभक्ति सूत्र
२६) निरुक्त
२७) प्रश्नोपनिषद्
२८) ब्रह्मोपनिषद्
२९) बारोहोपनिषद्
३०) मुण्डकोपनिषद्
३१) मैत्रेय्युपनिषद्
३२) मैत्रायण्युपनिषद्
३३) मज्झिम निकाय
३४) माण्डूक्योपनिषद्
३५) योगचूड़ामनि उपनिषद्
३६) यजुर्वेद
३७) योगतियोपनिषद्
३८) योगमार्तण्ड
३९) योगरसायन - स्वामी ब्रह्मानन्द
४०) योगसूत्र
४१) योगराजोपनिषद्
४२) योगविंशिका - हरिभद्रसूरि
४३) योगतत्वोपनिषद्
४४) योगशिखोपनिषद्
४५) यशोविजय
४६) लिंग पुराण
४७) विवेक चूड़ामणि - शंकराचार्य
४८) वृहदारण्योपनिषद्
४९) विशुद्धि मार्ग
५०) शिव पुराण
५१) श्वेताश्वतरोपनिषद्
५२) शिवगीता
५३) शाण्डिल्यभक्ति सूत्र
५४) शिव संहिता
५५) शारदा तिलक
५६) संयुक्त निकाय
५७) सामवेद
५८) सिद्ध सिद्धान्त पद्धति
५९) हंसोपनिषद्
६०) हठयोग प्रदीपिका
६१) त्रिशिखोपनिषद्

ENGLISH BOOKS

1. A History of Sanskrit Literature - Mackdonel
2. An History of Indian Philosophy - Belweker & Ranade
3. An Introduction to Indian Philosophy - Dutta & Chatterjee
4. Bible
5. Christian Mysticism
6. Discourses on Sant Mat - Sawan Singhji Maharaj
7. Encyclopedia Religion Ethics
8. Encyclopedia Britanica
9. Gayatri - I.K. Taimani
10. Gorakhnath & Kanphatayogi - W. Brigs
11. Hindi Literature - Dr. Ram Awadh Dwivedi
12. Hindu Philosophy - Theo Burnard
13. History of Indian Philosophy - Surendra Nath Das Gupta
14. Indian Literature - Winternitz
15. Indian Thoughts & Development - Albert Schweitzer
16. Introduction to Budhist Esoterism - विनोयतोश भट्टाचार्य
17. Introduction to Tantric Budhism - Dasgupta
18. Insearch of the Way - Flora E. Wood
19. Japa - M.P. Pandit
20. Light on Sant Mat - Maharaj Charan Singh
21. Liberation of the Soul - J. Stanley White
22. Literary History of Sanskrit Budhism - Nariman
23. Message Divine - Shanti Sethi
24. Mysticism in Religion - Dean Inge
25. Mysticism Dictionaries - Frank Gayner
26. Mysticism in Maharashtra - Prof. R.D. Ranade
27. Mysticism in English Literature - Spurgeon
28. Mysticism the Spiritual Path - L.R. Puri

29. My Submission - Hazur Maharaj Sawan Singh
30. Nature of Mysticism - C. Jinrajdas
31. Narad Bhakti Sutra - Swami Chinmayanand
32. Obscure Religious Cult - DasGupta
33. Outlines of Indian Philosophy - M. Hriyyana
34. Religion & Rational Outlook - S.N. Das Gupta
35. Survey of Budhism - Bhattacharya
36. Shakti & Shakta - Sir John Woodruph
37. Jantras their Philosophy & Occult Secrets - Bose & Haldar
38. The six systems of Indian Philosophy - Max Muller
39. The Serpent Power - Sir John Woodruph
40. The Theory and Art of Mysticism
41. The Path of the Masters - Julian Johnson
42. The Inner Voice - C.W. Sanders
43. The Gospel Divine Love

पत्रिकाएं

१) उपासनांक (कल्याण)
२) योगांक (कल्याण)
३) साधनांक (कल्याण)
४) साहित्य संदेश (संत-साहित्य विशेषांक)